
श्री उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला
रचना श्री नेमिचंद भंडारी
भाषा वचनिका
पं० भागचंद जी छाजेड़

संपादिका दय

कुवलता एवं आभा जन

बाल ब्र० कु०

प्रकाशिका- स्वाध्याय प्रेमी सभा दरियागंज



माह नव०-दिसम्बर, ईस्वी सन् २००६

ग्रन्थ मूल्य-संसार से फटा हृदय



यदि संसार-शरीर-भोगों के स्वरूप के मनन-चिंतन से इस तरह हृदय संसार से टूट चुका हो तभी आप वास्तव में इस ग्रंथ का मूल्य चुकाकर इसकी प्राप्ति के अधिकारी हो सकेंगे और उसका फल हस्तगत होगा।

ग्रंथ प्राप्ति का फल



हृदय में प्रभु की प्रतिष्ठा होकर
रत्नत्रय के फूलों का खिलना

एवं

अष्ट कर्मों का अभाव होकर
मोक्ष मन्दिर में विराजमान होना
जिसका अर्थ है
संसार के अनन्तानन्त
सारे ही दुःखों से छूट जाना

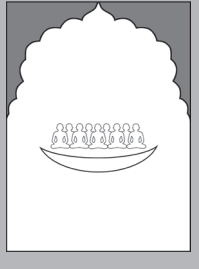

प्राप्ति स्थान-
सुमत प्रसाद जैन चैरिटेबल ट्रस्ट
२३/४७४२, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२
फोन : ०११-२३२७१५५१

श्रीमती पूनम जैन
फोन : ९२६८३३६१५६

न्यौछावर राशि १०१/-
लागत राशि २५१/-

यह पुस्तक वेबसाइट पर भी उपल्बध है।
www.jinvani.org www.jainlibrary.org www.jainworld.org

मुद्रक : विजय जैन, पारस प्रिंटर्स, नई दिल्ली। फोन : ९८११०८३७३७

आभार एवं समर्पण



परम आभार तो है
परापर गुरुओं का
(तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग
सो तो परगुरु और उनकी
परिपाटी में चले आए गौतमादि
ऋषि सो अपरगुरु) जिनके
कारण इस ग्रंथ की रचना
संभव हो सकी

और

ग्रंथ का समर्पण है
उन मोक्षाभिलाषी भव्यों को
जो इसके उपदेश
रूपी रत्नों को
अपने हृदय में संजोकर
उनकी माला से मुक्ति श्री
के कण्ठ को सुसज्जित कर
उसका वरण करेंगे।




जिनवाणी
माँ तुझे प्रणाम

इस ग्रन्थ
में देव-गुरु-धर्म के श्रद्धान
का पोषक उपदेश भली प्रकार किया
है सो यह मोक्षमार्ग का प्रथम कारण है
क्योंकि सच्चे देव-गुरु-धर्म की प्रतीति होने से जीवादिक पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है और तब जीव का कल्याण होता है इसलिए अपना कल्याणकारी जान इस शास्त्र का अभ्यास करना योग्य है-

पं० श्री भागचंद जी की वचनिका से साभार

कई अधम मिथ्यादृष्टि इस प्रामाणिक शास्त्र की भी आचरण में निंदा करते हैं सो हाय ! हाय !! निंदा करने से जो नरकादि के दुःख होते हैं उनको वे नहीं गिनते हैं। कैसे हैं वे-अत्यन्त मान और मोह रूपी राजा के द्वारा ठगाये गये हैं अर्थात् जो यथार्थ आचरण तो कर नहीं सकते और अपने को महंत मनवाना चाहते हैं उनको यह यथार्थ उपदेश रुचता नहीं। (गाथा ९७)-

श्री नेमिचंद भंडारी के इसी ग्रन्थ से उद्धृत

पाठकों को

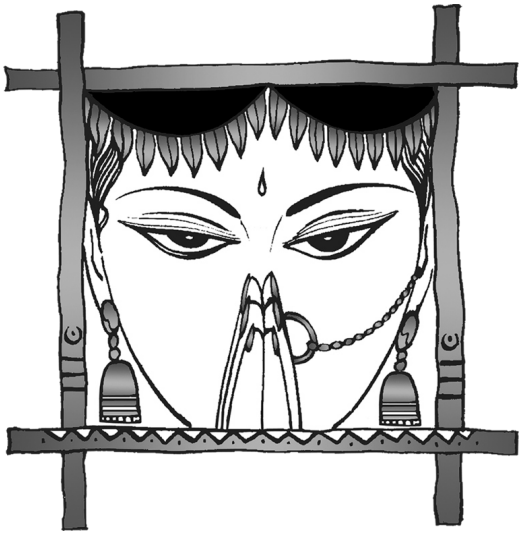

मोक्षमार्ग की हार्दिक शुभकामनाएं



प्रिय पाठकों !

अत्यन्त विनयपूर्वक चौकी या श्रुतपीठ पर विराजमान करके शरीर के नाभि स्थान से उपर ही रखकर इस ग्रन्थ की स्वाध्याय करना। किसी भी प्रकार से इसकी विराधना न करना। हाथ धोकर इसे छूना। मन और वचन को चुप करके एवं काया को संयमित करके अत्यन्त जागृत अवस्था में बैठकर इसे पढ़ना, लेटकर या कुछ खाते-खाते अथवा किसी से कोई सांसारिक चर्चा या वार्तालाप करते हुए नहीं। नीचे जमीन पर, बिस्तर पर अथवा तकिये पर इसे नहीं रखना और इसके पृष्ठ भी न फाड़ना। घर में स्वाध्याय करने के बाद अपने स्वाध्याय भवन या आलमारी में अत्यन्त सुरक्षापूर्वक इसे विराजमान करना। इन सच्चे जैन ग्रन्थों के अविनय से बहुत भारी पाप का बंध होता है।



पं० भागचंद जी की वचनिका की हस्तलिखित प्रति

प्रथम पृष्ठ

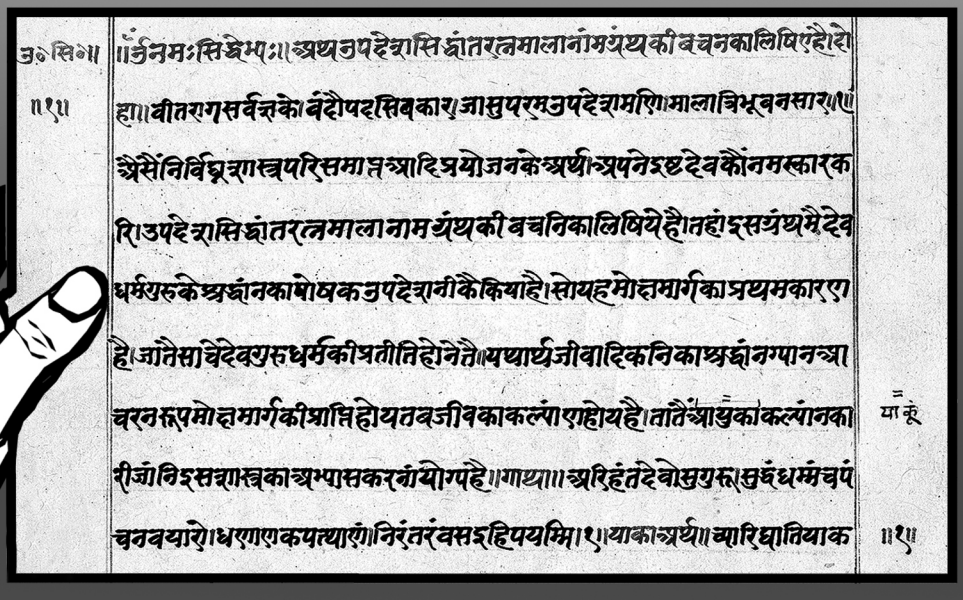

द्वितीय पृष्ठ

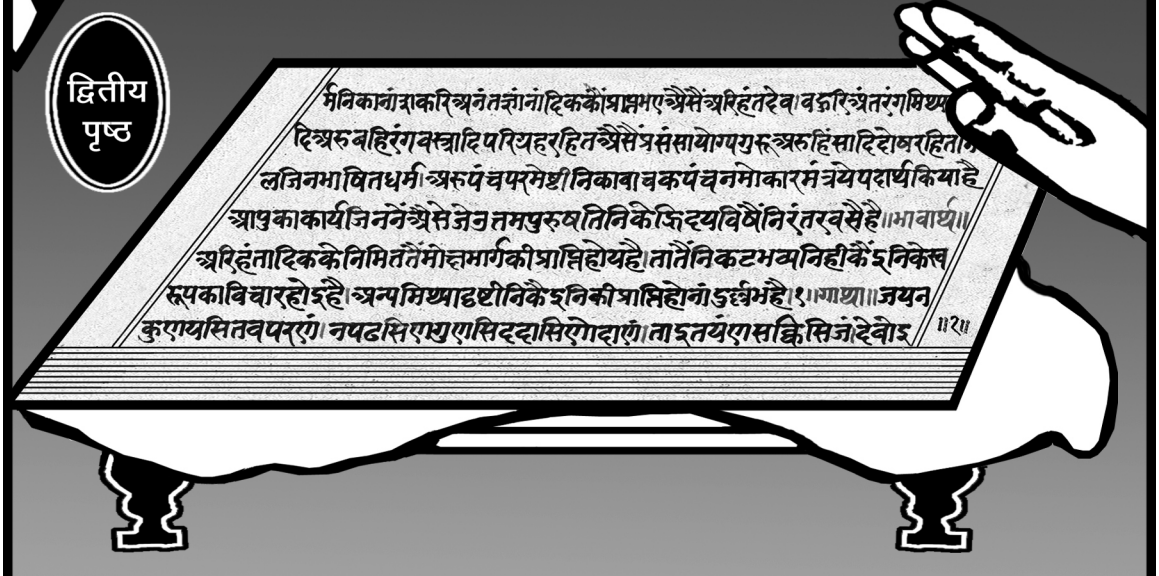

अन्तिम पृष्ठ

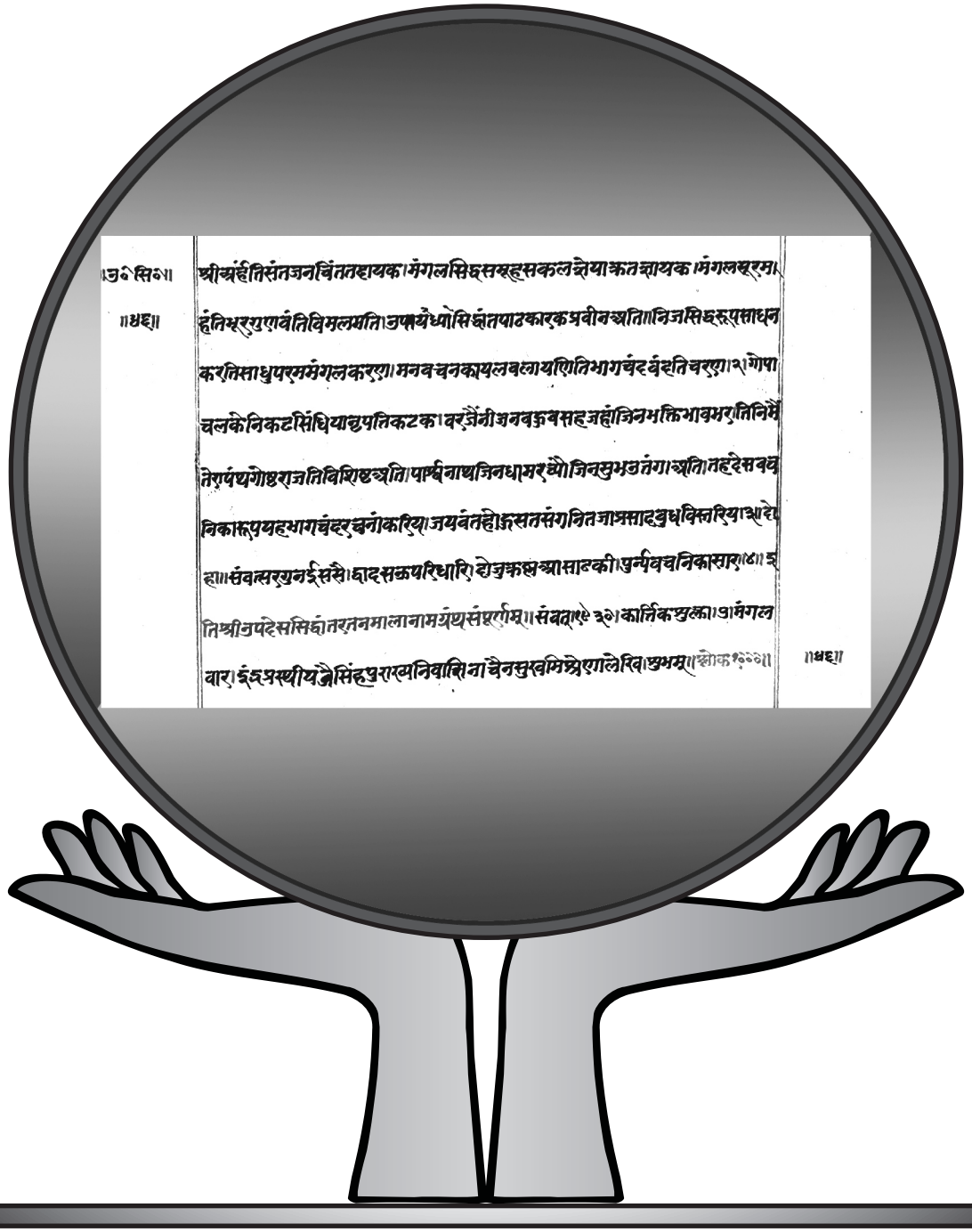

आज से १११ वर्ष पूर्व सन् १८९८ में प्रकाशित मराठी अनुवादयुक्त हिन्दी

उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला की प्रस्तावना

अनुमान होता है कि किसी समय रक्ताम्बर पीताम्बरादि मिथ्या वेषधारी पाखंडियों ने जैन समाज को बहकाकर अपना व रागी–द्वेषी कुदेवों के भक्त बना जिनमत से उल्टे मार्ग में लगा दिया। उन पर दया दृष्टि करके श्रीमान पंडितवर्य नेमिचन्द्र भंडारी ने यह 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' नामक ग्रंथ रचकर भोली–भाली जैन समाज का बहुत उपकार किया है। वर्तमान समय में भी अनेक वेषधारी पाखंडी हमारी जैन समाज में देखे जाते हैं जो कि अपने को गुरु मनाकर भोले भाइयों से पांव पुजाकर धनादिक ठगते फिरते हैं और जिनमत से उल्टे मार्ग पर चलाकर कुदेवों के भक्त बना अज्ञानांधकार में डुबो दिया है। ऐसे भाईयों को सुदेव–कुदेव, सुगुरु–कुगुरु का स्वरूप समझाने के लिये यह ग्रंथ अतिशय उपयोगी समझ हमारे मित्रवर्य पंडित पन्नालाल जी बाकलीवाल, सुजानगढ़ निवासी ने श्रीमान् पंडितवर्य भागचन्द जी कृत वचनिका टीका के सहारे से सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद कर इस ग्रंथ के छपा देने की प्रेरणा करी परन्तु हमारे दक्षिण देश में मिथ्यात्व रूपी अंधकार अधिक फैला हुआ है। खासकर यह ग्रंथ दक्षिणी जैनी भाईयों को सत्यार्थ मार्ग पर लाने के लिये अतिशय उपयोगी है। इस कारण मैंने मराठी भाषानुवाद करके प्रकाशित किया है। आशा है कि हमारे दक्षिणी जैनी भाई इस ग्रंथ को आदर के साथ विचारपूर्वक पढ़कर हमारे परिश्रम को सफल करेंगे।

इस ग्रंथ की शुद्ध प्रति न मिलने के कारण मूल गाथा में कहीं–कहीं अशुद्धि रह गई होगी। यदि कोई पंडित महाशय भूल बतावेंगे तो पुनरावृत्ति में शुद्ध करके छपाई जायगी।

वर्धा सी. पी.
ता. ११–१०–१८९८

जैन समाज का हितैषी
जयचन्द्र श्रावणे जैन

आद्य मिताक्षर

'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' १६१ गाथाओं में निबद्ध प्राकृत भाषा का ग्रंथ है जिसमें जीव के मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने वाले उपदेश रूपी रत्नों का संग्रह है। संस्कृत में इसकी कोई टीका उपलब्ध नहीं है।पं० प्रवर टोडरमल जी ने अपने मौलिक ग्रंथ 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के पहले एवं छठे अध्याय में इस ग्रंथ की गाथाओं को दृष्टान्त के रूप में उद्धृत किया है जो इस ग्रंथ की प्रामाणिकता एवं मोक्षमार्ग में उपयोगिता को सिद्ध करता है।

लेखक ने इस ग्रंथ की रचना करके जैन समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है। इसमें सामान्य जन के समझने योग्य विषयों को साधारण रूप से बलपूर्वक प्रस्तुत किया गया है जिसमें जिनधर्म की महिमा, कुदेव सेवन एवं कुलाचार को धर्म मानने का निषेध, आगम विरुद्ध कथन करने वाले उत्सूत्रभाषियों को धिक्कारता, योग्य वक्ता की दुर्लभता, मिथ्यात्व की हेयता एवं सम्यक्त्व की महत्ता आदि मुख्य हैं।जीव को यदि वास्तव में धार्मिक होना है तो अपने मैं को मिटाने की चेष्टा करनी चाहिये। नकली झूठा धार्मिक तो उसे कभी भी नहीं बनना चाहिये। नकली धार्मिक का मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ सदा के लिए अवरूद्ध हो जाता है क्योंकि अपनी दृष्टि में तो वह धार्मिक ही है।

इस ग्रंथ में कुदेवों, मिथ्यावेषधारी कुगुरुओं और नकली धर्मात्माओं से सावधान किया गया है एवं धर्म को आजीविका का साधन व आहार का माध्यम बनाने वाले और जिज्ञासु जीवों को गलत मार्ग दिखलाने वाले अधार्मिकों की भर्त्सना करके अत्यन्त निषेध किया गया है। ग्रंथकार लिखते हैं कि ऐसे कुगुरु भोले जीवों को नरक में खींचकर ले जाते हैं। अविवेकी, ढीठ और दुष्ट कुगुरु की उपासना करना वास्तव में मोह की अचिंत्य महिमा ही है। जीव को जब थोड़ा भी विवेक आता है तो सच्ची समझ जगती है कि एक दिन मृत्यु सब कुछ छीनकर ले जाएगी और तब वह अन्तर्मुख होने का प्रयास करता है पर प्रारम्भ में जब वह बाहर से भीतर की ओर मुड़ता है तो अनजान होता है और उसे जैसा गुरु मिले वह वैसा ही रास्ता अपना लेता है सो गुरु क्योंकि मोक्षमार्ग का आधार है अतः वह

तो सच्चा होना ही चाहिए तभी जीव का मोक्षमार्ग बनकर उसे वास्तव में मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी अन्यथा तो संसार में भटकना ही होगा।

निश्चय-व्यवहार धर्म के विषय में ग्रंथकार कहते हैं कि निश्चय से आत्मा की मोह रहित शुद्ध परिणति रूप जिनधर्म अर्थात् यथार्थ जिनधर्म तो बड़े-बड़े ज्ञानियों के द्वारा भी कष्ट से जाना जाता है, उसका लाभ होना तो दुर्लभ ही है अतः मत की स्थिरता के लिए अरिहंतादि की श्रद्धादि रूप व्यवहार धर्म ही जानना भला है क्योंकि जिनमत की यदि स्थिरता बनी रहेगी तो परम्परा से सच्चा धर्म भी मिल जाएगा और यदि व्यवहार धर्म भी नहीं होगा तो पाप प्रवृत्ति होने से जीव निगोदादि नीच गति में चला जाएगा जहाँ धर्म की वार्ता भी दुर्लभ है अतः परमार्थ जानने की शक्ति न हो तो व्यवहार जानना ही भला है। गाथा १३८ में वे लिखते हैं कि जिनराज ने कहा जो शास्त्र का व्यवहार वह परमार्थ धर्म का साधक होता है, परमार्थ के स्वरूप को न्यारा दिखाता है अतः शास्त्र के अभ्यास रूप व्यवहार से परमार्थ रूप वीतराग धर्म की प्राप्ति होती है और जिनराज की आज्ञा के आराधकपने से निर्मल बोध अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता उत्पन्न होती है।

धर्मात्माओं के आश्रयदाताओं की इसमें बहुत प्रशंसा की है कि जिनके आश्रय से शास्त्राभ्यास आदि भले आचरण में तत्पर पुरुष निर्विघ्नता से निर्मल जिनधर्म का सेवन करते हैं वे धन्य एवं अमूल्य हैं, उनका मूल्यांकन कल्पवृक्ष या चिन्तामणि रत्न से भी नहीं हो सकता है। उनका नाम लेने मात्र से मोह कर्म लज्जायमान होकर मंद हो जाता है और उनका गुणगान करने से हमारे कर्म गल जाते हैं।

जहाँ एक ओर धार्मिक पर्वों के स्थापको की प्रशंसा करते हुए वे उनकी धन्यता का वर्णन करते है कि वे पुरुष जयवंत हों जिन्होंने दसलक्षण एवं अष्टान्हिका आदि धर्म के पर्व स्थापित किये जिनके प्रभाव से पापियों के भी धर्मबुद्धि होती है वहाँ दूसरी ओर हिंसक पर्वों को रचने वालों की उन्होंने निन्दा भी की है कि होली, दशहरा, संक्रांति आदि जिनमें अधिक जलादि की हिंसा हो

अथवा ऐसा एकादशी व्रत जिसमें कंदमूलादि का भक्षण व रात्रिभक्षण हो इत्यादि मिथ्यात्व के पर्व जिसने रचे उसका नाम भी पापबंध का कारण है क्योंकि उन मिथ्या पर्वों के प्रसंग से धर्मात्माओं के भी पापबुद्धि होती है।

मंदिर जी के द्रव्य से व्यापार करना और उधार लेकर उससे आजीविका करने का निषेध है। वे लिखते हैं कि जिनद्रव्य जो चैत्यालय का द्रव्य उसे जो पुरुष अपने प्रयोग में लेते हैं वे जिनाज्ञा से पराङ्मुख अज्ञानी मोह से संसार समुद्र में डूबते हैं। लक्ष्मी को उन्होंने दो प्रकार का कहा है-एक तो लक्ष्मी पुरुषों के भोगों मे लगने से पाप के योग से सम्यक्त्वादि गुण रूप ऋद्धि का नाश करती है और एक लक्ष्मी दान-पूजा में लगने से पुण्य के योग से सम्यक्त्वादि गुणों को हुलसायमान करती है अतः पात्रदानादि धर्मकार्य में जो धन लगता है वह सफल है।

यह संसार महा दुःखों का सागर है। यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरादि बड़े पुरुष इसको क्यों त्यागते और इस संसार में पर्यायदृष्टि से कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है इसलिए शरीरादि के लिए वृथा पाप का सेवन करना और आत्मा का कल्याण नहीं करना-यह मूर्खता है। जो जीव नष्ट हुए पदार्थों का शोक करके ऊँचे स्वर से रोते हुए सिर और छाती कूटता है वह अपनी आत्मा को नरक में पटकता है। ऐसा वस्तुस्वरूप ही है कि जो पर्याय व्यतीत हो गई वह फिर नहीं आती अतः शोक में कुछ सार नहीं है। वह एक तो वर्तमान में दुःख रूप है और दूसरे आगामी नरकादि दुःखों का कारण है। इस संसार के सारे दुःखों से बचने का उपाय जिनमार्ग में चलना ही है और इस शुद्ध जिनमार्ग में जन्म लेने वाले जीव तो सुखपूर्वक शुद्ध मार्ग में चलते ही हैं और उन्हें चलना ही चाहिए परन्तु जिन्होंने अमार्ग में जन्म लिया है और मार्ग में चलते हैं सो आश्चर्य है।

इस ग्रंथ की हमारे पास एक तो मराठी अनुवादयुक्त हिन्दी की जीर्ण-शीर्ण प्रति थी जो आज से १०४ वर्ष पूर्व नागपुर की गोरक्षण प्रेस से वर्धा निवासी 'श्री जयचन्द्र श्रावणे जैन' ने छपवाई थी जिसकी प्रस्तावना को पाठकों के लिए उपयोगी जानकर अभी इस लेख से पहले प्रकाशित कर चुके हैं। दूसरी प्रति श्री मन्नूलाल जी जैन, सागर के द्वारा सम्पादित, सागर से ही प्रकाशित थी सो

उससे ही ग्रंथ छपवाने का निश्चय करके उसे टाइप होने को दे दिया था पर उसके प्रूफ आने पर ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति (ह० प्र०) नया मंदिर जी, धर्मपुरे से उपलब्ध हुई जो कि पं० भागचंद जी की ही भाषा वचनिका उनकी देशभाषा में है। इस प्रति के दो पेज की फोटोस्टेट कॉपी भी यहीं प्रारंभ में पहले दी है। यदि यह प्रति पहले उपलब्ध हो जाती तो इसी के आधार से इसके हिन्दी अनुवाद का पं० भागचंद जी की भाषा के अर्थ, भावार्थ सहित या उससे रहित का प्रकाशन करवाते पर यह बाद में मिली तो उसके अनुसार कु० कुन्दलता व आभा ने स्थान-स्थान पर कुछ शब्द व पंक्तियाँ आदि जो ज्यादा उपयुक्त जान पड़ीं वे परिवर्तित कीं और कहीं-कहीं ह० लि० प्रति में कुछ अतिरिक्त वाक्य व किसी-किसी गाथा की उत्थानिका आदि भी जो और थीं वे भी इसमें जोड़ दीं और गाथा १२, १७ आदि कुछ गाथाओं के अर्थ में या अर्थ एवं भावार्थ दोनों में जहाँ विभिन्नता थी उसे उन्होंने ह० प्र० के ही आधार से देकर सागर प्रति के अर्थ एवं भावार्थ को टिप्पण में दिया है। इसके अतिरिक्त गाथाओं के शीर्षक भी अपनी समझ के अनुसार उन्होंने बनाए हैं और कुछ गाथाओं में टिप्पण व कठिन शब्दों के अर्थ भी दिए हैं।

यह ग्रन्थ दरियागंज शास्त्र सभा के समस्त स्वाध्यायार्थी के सहयोग से प्रकाशित हो रहा है जो प्रशंसा के पात्र हैं। जिनवाणी के प्रचार-प्रसार में व्यय करना ही धन की सार्थकता है। यह ग्रन्थ सरल होने से जनसाधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

बाबूलाल जैन
बी-१३७, विवेक विहार,
दिल्ली-११००९५
दूरभाषः ६५३५१६३७

आमुख

अत्यन्त सुन्दर 'उपदेश सिद्धान्तरत्नमाला' ग्रंथ के प्रकाशन का यह शुभ अवसर हमारे लिए परम हर्ष का विषय है। वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा थी वह मंगल घड़ी आखिर अब आ ही गई। ग्रंथ की उत्तमता को देखते हुए उस पर लम्बी प्रस्तावना न लिखकर उसके अच्छे–अच्छे बिन्दु 'पंचम काल की हीनता, धिक्–धिक्, धन्य–धन्य आदि कुछ विषयों के माध्यम से लिखे थे जो साथ ही संलग्न हैं। उनके अध्ययन मात्र से ही पूरे ग्रंथ की विषय वस्तु भली प्रकार से ज्ञान में आ जाती है।इसके अतिरिक्त जिन किन्ही गाथाओं पर चित्र बनने संभव हो सके वे भी ग्रंथ के बाद में दिए हैं। और अंत में ग्रंथ के नाम को देखते हुए कि वास्तव में ही यह जिन सिद्धान्त के रत्नों की माला ही है उस माला के कुछ अनमोल रत्न रत्नों के रूप में ही बिखेरे है जिन्हें हम भव्य जीव अपने मानस पटल पर संजोकर अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त कर सकें।

साथ ही साथ यह भी चाहते हैं कि इस ग्रंथ का अन्यन्त प्रचार प्रसार हो। घर–घर में इसकी प्रति पहुंच कर यह जन–जन की वस्तु बने। अपने किन्हीं व्रतों के उद्यापन में या अन्य किन्हीं मांगलिक अवसरों पर हम इसकी 100–100 या 200–200 आदि प्रतियाँ वितरित करके अतिशय पुण्य उपार्जित कर सकते हैं।

ग्रंथ के प्रकाशन की एक लंबी कहानी है। सर्वप्रथम श्रीमती विमला जी जैन की सद्भावना से इसका कार्य प्रारंभ हुआ था और फिर दस–बारह वर्ष के लम्बे अरसे में तो बहुत ही भाई बहनों का इसमें हर प्रकार से सहयोग रहा जिसके लिए हम हृदय से उनके आभारी है ऐसा प्रतीत हो रहा है कि यह कार्य वास्तव में उन सबका ही है, हमारा तो इसमें कुछ भी नहीं। शुरु में भाई रत्नचन्द जी फोटो वाले एवं उनके सुपुत्र राजेश जैन ने अपने कम्प्यूटर में चित्र बनवाने की अनुमति प्रदान की फिर भाई रोहित जैन सुपौत्र श्री नन्नूमल जी ने कम्प्यूटर सामग्री दी और श्रीमती पूनम राकेश जैन एवं परिवार से तो पग–पग पर अविरल सहायता मिलती ही रही है। स्वर्गीय पं0 श्री देवेन्द्र कुमार जी शास्त्री नीमच वालों ने ग्रंथ की प्राकृत गाथाओं की शुद्धि में योगदान दिया। भाई अजय जैन, उनकी मातुः श्री श्रीमती पुष्पा जैन एवं श्रीमान सतीश चन्द्र जैन के (कम्प्यूटर इंजीनियरों के निःस्वार्थ) सहयोग बिना तो कार्य किसी भी तरह से सम्पन्न हो ही नहीं सकता था। और श्री हुकुम चन्द जी जैन चैत्यालय 7/33 अन्सारी रोड, दरियागंज, जहाँ पर बैठकर भाई अनिल यादव ने सारे ही कम्प्यूटर कार्य एवं चित्रों की भावनापूर्ण प्रस्तुति की उसे भी हम कैसे विस्मृत कर सकते हैं। भाई शैलेन्द्र कुमार सुपौत्र श्री महताबसिंह जी जैन जौहरी एवं भाई श्रेयांस कुमार सुपुत्र श्री शीतल प्रसाद जी का अर्थ एवं भावनात्मक सहयोग भी प्रशंसनीय है।

इस लम्बी अवधि में किन्हीं भी सहधर्मियों की किसी भी भावना की हमारे निमित्त से क्षति हुई हो तो उसके लिए हार्दिक क्षमा याचना करते हैं।

अंत में वीर प्रभु से यही प्रार्थना है कि अन्य भी वज्रदंत चक्रवर्ती बारहमासा व अष्टपाहुड ढूंढ़ारी एवं हिन्दी अनुवाद आदि ग्रंथों का प्रकाशन कार्य भी शीघ्र ही सम्पन्न हो।

कु0 कुन्दलता एम0 ए0 एल0 एल0 बी0
कु0 आभा एम0 एस0 सी0 बी0 एड0

पंचम काल की हीनता

(१) **इस निकृष्ट पंचम काल में** मिथ्यादृष्टियों का तीव्र उदय है इसलिए धर्म का यथार्थ कथन करने वाले ही जब दुर्लभ हैं तो आचरण करने वालों का तो कहना ही क्या!।।गाथा १७।।

(२) **इस निकृष्ट पंचम काल में** गुरु तो भाट हो गए जो लोभी होकर शब्दों द्वारा दातार में बिना हुए गुणों की भी स्तुति करके दान लेते हैं और दाता अपने मान पोषने के लिए देते हैं सो दोनों ही मिथ्यात्व और कषाय के पुष्ट होने से संसार समुद्र में डूबते हैं। अन्यमत में तो भाटवत् स्तुति करके दान लेने वाले ब्राह्मण आदि पहले से भी थे पर जिनमत में तो इस निकृष्ट काल में ही हुए हैं।।३१।।

(३) **इस निकृष्ट पंचम काल में** लोग मिथ्यात्व के प्रवाह में आसक्त हैं उनमें परमार्थ को जानने वाले बहुत थोड़े हैं और गुरु कहलाने वाले अपनी महिमा के रसिक हैं सो शुद्ध मार्ग को छिपाते हैं और यथार्थ धर्म का स्वरूप नहीं कहते अतः जिनधर्म की विरलता इस काल में हुई है।।३२।।

(४) **इस निकृष्ट पंचम काल में** गृहस्थों से भी अधिक तो परिग्रह रखते हैं और अपने को गुरु मनवाते हैं ऐसे ही देव-गुरु-धर्म का व न्याय-अन्याय का तो कोई निर्णय नहीं है और अपने को श्रावक मानते हैं सो यह बड़ा अकार्य है, कोई न्याय करने वाला नहीं है किससे कहें-ऐसा आचार्य ने खेद से कहा है।।३५।।

(५) **इस निकृष्ट पंचम काल में** जैसे-जैसे जिनधर्म हीन होता है और जैसे-जैसे दुष्टों का उदय होता है वैसे-वैसे दृढ़ श्रद्धानी सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व हुलसायमान होता है और उनका श्रद्धान निर्मल ही होता है कि यह काल दोष है, भगवान ने ऐसा ही कहा है।।४२।।

(६) **इस निकृष्ट पंचम काल में** उत्पन्न हुए जीवों का यह अति पापोदय का माहात्म्य है कि षट्काय के जीवों की रक्षा करने में माता के समान जिनधर्म का अत्यन्त उदय नहीं दिख रहा है, धर्म कुछ हीन नहीं है।।४३।।

(७) **इस निकृष्ट पंचम काल में** जैनमत में भी पीताम्बर, रक्ताम्बर आदि वेषधारी हुए हैं जो भगवान की आज्ञा की विराधना करके वस्त्रादि परिग्रह धारण करते हुए भी अपना आचार्य आदि पद मानते हैं और कहते हैं कि 'हम गणधर आदि के कुल के हैं' उनके प्रति यहाँ कहा है कि अन्यथा आचरण करने वाला मिथ्यादृष्टि ही है, कुल से कुछ साध्य नहीं है।।७२।।

(८) **इस निकृष्ट पंचम काल में** कई जीव ऐसा मानते हैं कि 'अमुक गच्छ के या अमुक संप्रदाय के तो हमारे गुरु हैं, शेष दूसरों के गुरु हैं हमारे नहीं' सो ऐसा एकांत जिनमत में नहीं है। जिनमत में तो जिनवचन रूपी रत्नों के आभूषणों से जो मंडित हैं वे सब ही गुरु हैं।।१०५।।

(९) **इस निकृष्ट पंचम काल में** धर्मार्थी सुगुरु तथा श्रावक दुर्लभ हैं, राग-द्वेष सहित नाम मात्र के गुरु और नाम मात्र के श्रावक तो बहुत हैं। धर्मार्थी होकर धर्म सेवन करना दुर्लभ है। लौकिक प्रयोजन के लिए धर्म का सेवन करते हैं सो नाम मात्र सेवन करते हैं अतः धर्मसेवन का गुण जो वीतराग भाव है उसको वे नहीं पाते सो ऐसे जीव बहुत ही हैं।।११२।।

(१०) **इस निकृष्ट पंचम काल में** श्रेष्ठ पुरुष जैनीजन तो दुःखी हैं और दुष्टों का उदय है एवं सम्यक्त्व बिगड़ने के अनेक कारण बन रहे हैं फिर भी जिन भाग्यवानों का सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता उनको मैं नमस्कार करता हूँ।।१३३।।

(११) **इस निकृष्ट पंचम काल में** नामाचार्यों ने अर्थात् आचार्य के गुण तो जिनमें हैं नहीं और आचार्य कहलाते हैं उन्होंने लोक में ऐसा गहल भाव उत्पन्न कर दिया है जिससे निपुण पुरुष ही शुद्ध धर्म से चलायमान हो जाते हैं तो फिर अन्य भोले जीव तो चलायमान होंगे ही होंगे। कैसा है वह गहल भाव? बहुत जनों के प्रवाह रूप है अर्थात् जिसे अनेक ज्ञानी जीव भी मानने लगते हैं।।१४१।।

(१२) **इस निकृष्ट पंचम काल में** मिथ्यात्व के स्थान रूप निकृष्ट भाव से नष्ट हुआ है महा विवेक जिनका ऐसे हम लोगों को स्वप्न में भी सुख की संभावना नहीं हो सकती।।१५८।।

(१३) **इस निकृष्ट पंचम काल में** मिथ्यात्व की प्रवृत्ति बहुत है इसमें मैं जीवित हूँ और श्रावक का नाम भी धारण किये हुए हूँ वह भी हे प्रभो ! महान् आश्चर्य है।।१५९।।

धिक्
धिक्

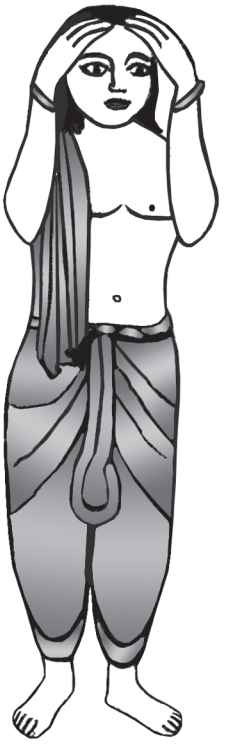

(१) **धिक्कार हो** उन जीवों को जिन्हें अन्य जीवों की प्रशंसा पाने के लिए अर्थात् समस्त जन मुझे भला कहें इसलिए जिनसूत्र का उल्लंघन करके बोलने में भय नहीं होता। वे अनन्त काल निगोदादि के दुःख पाते हैं।।गाथा ५६।।

(२) **धिक्कार हो** कर्मों के उदय को जिसके कारण प्राप्त हुए जिनदेव भी जीव को अप्राप्त के समान हो गये क्योंकि उपयोग लगाकर देवादि का भली प्रकार निर्णय नहीं किया।।६०।।

(३) **धिक्कार हो** उन पुरुषों के ढीठपने को जो तीन लोक के जीवों को मरते हुए देखकर भी अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते और पापों से उदास नहीं होते।।१०९।।

(४) **धिक्कार हो** जीवों के उस खोटे स्नेह को जिसके कारण शब्द सहित रुदन करके और मस्तक-छाती कूटकर नष्ट हुए पदार्थों का शोक करके वे अपने आपको नरक में पटकते हैं।।११०।।

(५) **धिक्कार हो** उन पापियों में भी अत्यंत पापी जीवों के पण्डितपने को जो बिना कारण ही अज्ञान के गर्व से सूत्र का उल्लंघन करके बोलते हैं। उदर भरने के लिये पाप रूप व्यापार करने वाले तो अधम ही होते हैं परन्तु सूत्र के विरुद्ध बोलने वाले तो उनसे भी अत्यन्त अधम होते हैं।।१२१।।

(१) **धन्य हैं वे जीव** जिन्होंने सांवत्सरिक एवं दशलक्षण और अष्टान्हिका आदि चातुर्मासिक धर्मपर्वों का विधान किया क्योंकि महारंभी जीव भी इन पर्वों में जिनमन्दिर जाकर धर्म का सेवन करते हैं।।गाथा २६।।

(२) **धन्य हैं वे जीव** जिनकी सहायता से जिनधर्मी धर्म का सेवन करते हैं और जो शास्त्राभ्यास आदि भला आचरण करने वाले जीवों को सदाकाल धर्म का आधार देकर उनका निर्विघ्न स्वाध्याय आदि होता रहे ऐसी सामग्री का मेल मिलाते हैं।।५२-५३।।

(३) **धन्य हैं वे जीव** जिन्हें नरकादि के दुःखों का स्मरण करते हुए मन में हरिहरादि की ऋद्धि और समृद्धि के प्रति भी उदासभाव ही उत्पन्न होता है।।९५।।

(४) **धन्य हैं वे जीव** और वे ही भाग्यवान हैं जिन्हें कहा हुआ जो शुद्ध जिनधर्म का स्वरूप वह आनन्द उत्पन्न करता है।।११३।।

(५) **धन्य हैं वे जीव** जो संसार से भयभीत होते हुए धन और राज्यादि के कारणभूत उन व्यापारों का जो कि निश्चय से अत्यंत पाप सहित हैं, त्याग करते हैं।।११९।।

(६) **धन्य हैं वे जीव** जिन भाग्यवानों का ऐसे पंचम काल के दंड सहित लोक में भी जिसमें कि सम्यक्त्व बिगड़ने के अनेक कारण बन रहे हैं, सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।।१३३।।

(७) **धन्य हैं वे जीव** जिन भाग्यवान कृतार्थ जीवों को पुण्य के उदय से शुद्ध गुरु मिलते हैं। सच्चे गुरु का मिलना सहज नहीं है, जिनकी भली होनहार होती है उनको ही गुरुओं का संयोग मिलता है।।१३५।।



धन्य
धन्य

हाय ! हाय !!



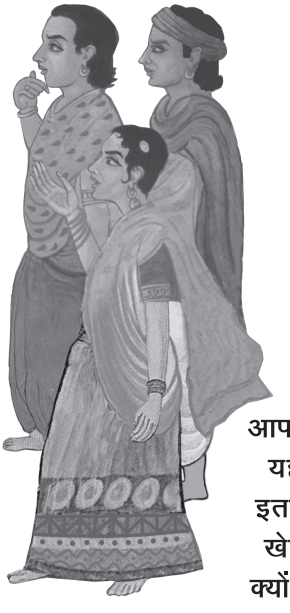

आपको यह इतना खेद क्यों ?

(१) **हाय ! हाय !!** देखो, संसार रूपी कुएँ में डूबते हुए भी ये जीव कैसे नाच रहे हैं-ऐसा संयमियों के मन में असंयमी जीवों को देखकर बड़ा संताप होता है।।गाथा ९।।

(२) **हाय ! हाय !!** मोह की यह भारी महिमा है कि 'संसारी जीव प्रयोजन के लोभ से पुत्रादि स्वजनों के मोह को तो ग्रहण करते हैं पर यथार्थ सुखकारी जिनधर्म को अंगीकार नहीं करते'।।१९।।

(३) **हाय ! हाय !!** यह बड़ा अकार्य है कि प्रकट में कोई स्वामी नहीं है जिसके पास जाकर हम पुकार करें कि जिनवचन तो किस प्रकार के हैं, सुगुरु कैसे होते हैं और श्रावक किस प्रकार के हैं।।३५।।

(४) **हाय ! हाय !!** सर्प को देखकर जब लोग दूर भागते हैं तो उनको तो कोई भी कुछ नहीं कहता परन्तु जो कुगुरु रूपी सर्प का त्याग करता है उसे मूढ़जन दुष्ट कहते हैं।।३६।।

(५) **हाय ! हाय !!** यदि कोई रोटी का टुकड़ा भी माँगता है तो लोक में प्रवीणता रहित पागल कहलाता है और कुगुरु नाना प्रकार के परिग्रहों की याचना करता है तो भी उसमें प्रवीणपना ठहराया जाता है सो यह मोह की महिमा है।।३९।।

(६) **हाय ! हाय !!** थोड़े से दिनों की मान-बड़ाई के लिए अन्य मूर्खों के कहने से जिनसूत्र का उल्लंघन करके जो जीव उपदेश दे देते हैं उनको परभव में जो दुःख होंगे उन्हें यदि जानते हैं तो बस केवली भगवान ही जानते हैं।।५६।।

(७) **हाय ! हाय !!** जो, जिस पापनवमी के दिन लाखों पशु-भैंसे आदि होमे जाते हैं उसे भी पूजते हैं और श्रावक कहलाते हैं वे वीतराग देव की निंदा कराते हैं कि देखो ! जैनी भी ऐसा कार्य करते हैं।।७६।।

(८) **हाय ! हाय !!** इस 'उपदेशरत्नमाला' जैसे प्रामाणिक और कल्याणकारी शास्त्रों की भी अत्यंत मान और मोह रूपी राजा से ठगाये गये कई अधम मिथ्यादृष्टि आचरण में निंदा करते हैं सो निंदा करने से जो नरकादि के दुःख होते हैं उनको वे नहीं गिनते।।९७।।

(९) **हाय ! हाय !!** अरहंत देव अथवा निर्ग्रंथ गुरु के स्तवन से अभिमान विष को उपशमाने के स्थान पर उससे भी मान का पोषण करना सो यह दुश्चारित्र है।।१४४।।

(१०) **हाय ! हाय !!** जो जीव जिनराज के आचार में प्रवर्तता है उसके आचार में लोकाचार नहीं मिलता तो मूढ़ जीव लोकाचार (लोकमूढ़ता) करते हुए अपने को जैनी कैसे कहते हैं !।।१४५।।

सुदेव-अन्यदेव



(१) चार घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त ज्ञानादि को प्राप्त करने वाले अरहंत देव के निमित्त से मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है अतः निकट भव्य जीवों को उनके स्वरूप का विचार होता है और कर लिया है अपना कार्य जिन्होंने ऐसे उत्तम कृतार्थ पुरुषों के हृदय में वे निरन्तर बसते हैं।।गाथा १।।

(२) अपनी शक्ति की हीनता के कारण यदि तू व्रत, तप, अध्ययन एवं दान आदि नहीं कर पाता है तो भले ही मत कर परन्तु एक सर्वज्ञ वीतराग देव की श्रद्धा तो दृढ़ रख क्योंकि जिस कार्य को करने में केवल अकेले एक अरहंत देव समर्थ हैं उसे करने में ये तपश्चरण आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं।।२।।

(३) हे मूढ़ ! सुख के लिए अन्य सरागी देवों को नमस्कार करता हुआ तू ठगाया गया है क्योंकि जिनदेव का कहा हुआ धर्म ही सकल सुख का कारण है।।३।।

(४) इस जीव को सब भयों में मरण का भय बड़ा है उसको दूर करने के

लिए यह कुदेवादि को पूजता है परन्तु कोई भी देव इसे मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं है अतः उनको पूजना-वंदना मिथ्याभाव है परन्तु राग-द्वेष रहित सर्वज्ञ अरहंत देव के श्रद्धान से मोक्ष की प्राप्ति होती है अतः जिनेन्द्र भगवान ही मरण का भय निवारण करते हैं-ऐसा जानना।।४।।

(५) जिनराज के गुण रूपी रत्नों की महानिधि पा करके भी मिथ्यात्व क्यों नहीं जाता-यह आश्चर्य की बात है अथवा निधान पाकर भी कृपण पुरुष तो दरिद्र ही रहता है-इसमें क्या आश्चर्य है।।२५।।

(६) अरहंत देव और निर्ग्रंथ गुरु-ऐसा नाम मात्र से तो सब ही कहते हैं परन्तु उनका यथार्थ सुखमय स्वरूप भाग्यहीन जीवों को प्राप्त नहीं होता सो अरहंतादि के सच्चे स्वरूप का अवश्य ही निश्चय करना चाहिये।।३३।।

(७) कई जैन कुल में उपजे जीव नाम मात्र तो जैनी कहलाते हैं परन्तु जिनदेव का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते और भली प्रकार उपयोग लगाकर देवादि का निर्णय भी नहीं करते सो यह उनके तीव्र पाप का ही उदय है जो निमित्त मिलने पर भी यथार्थ जिनमत को नहीं पाया।।६०।।

(८) जो वीतराग देव के भक्त हैं अर्थात् जिन पुरुषों के हृदय में शुद्ध ज्ञान सहित जिनराज बसते हैं उन्हें सरागियों द्वारा कहे गये मिथ्या धर्म तुच्छ भासते हैं।।६७।।

(९) कई जीव कुदेवों का सेवन आदि मिथ्या आचरण को तो छोड़ते नहीं और कहते हैं कि यह तो व्यवहार है, श्रद्धा तो हमारे जिनमत की ही है उनको यहाँ कहा है कि 'जब तक तुम्हारे रागी-द्वेषी मिथ्या देवों की सेवा है तब तक सम्यक्त्व का एक अंश भी नहीं है अतः मिथ्या देवों का प्रसंग तो दूर ही से छोड़ देना और तभी सम्यक्त्व की कोई बात करना'।।७१।।

(१०) कुल का मुखिया यदि मिथ्यादेवादि की रुचि करता है तो उसके वंश के सभी लोग वैसा आचरण करके कहते हैं कि 'हमारे बड़े ऐसा ही करते आये हैं' और इस प्रकार सब ही मिथ्यात्व पुष्ट होने से संसार में ही भ्रमण करते हैं।।७७।।

(११) अरहंत देव का स्वरूप जैसा कहा गया है वैसा युक्ति और शास्त्र से अविरोध रूप परीक्षावानों को तो प्रकट दिखाई देता है परन्तु जिन जीवों के

मिथ्यात्व का उदय है उनको कुछ भी नहीं भासता।।८०।।

(१२) जो कोई जिनराज की पूजा के अवसर में श्रद्धावान जीवों को करोड़ों का धन दे तो भी वे उस असार धन को छोड़कर सारभूत जिनराज की पूजा ही करते हैं।।८९।।

(१३) जिसका जो गुण होता है उसकी सेवा करने से उसी गुण की प्राप्ति होती है-ऐसा न्याय है। अरहन्त का स्वरूप ज्ञान-वैराग्यमय है उनकी पूजा, ध्यान एवं स्मरणादि करने पर ज्ञान-वैराग्य रूप सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति होती है और हरिहरादि देवों का स्वरूप काम-क्रोधादि विकारमय है उनकी पूजादि करने से मिथ्यात्वादि पुष्ट होते ही होते हैं-ऐसा जानना।।९०।।

(१४) जो पुरुष शुद्ध जिनधर्म का उपदेश देता है वह ही लोक में प्रकटपने परमात्मा है अन्य धन-धान्यादि पदार्थों को देने वाला नहीं। क्या कल्पवृक्ष की बराबरी अन्य कोई वृक्ष कर सकता है, कदापि नहीं। ऐसा परमात्मा जयवन्त हो!।।१०१।।

(१५) धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण तो जिनेन्द्रदेव और उनके वचन आदि हैं, इनके सिवाय अन्य कुदेवादि तो पाप के स्थान हैं जिनसे मैं स्वयं को तथा दूसरों को वर्जित करता हूँ।।१०३।।

(१६) जिन जिनेन्द्रदेव को तुम प्रीतिपूर्वक वंदते-पूजते हो उन ही के वचनों की अवहेलना करते हो अर्थात् उनके वचनों में कहे हुए को मानते नहीं हो तो फिर उन्हें तुम क्या वंदते-पूजते हो!।।१३१।।

(१७) लोक में भी ऐसा सुनने में आता है कि जो जिसकी आराधना या सेवा करता है वह उसकी आज्ञा प्रमाण चलता है और उसे कुपित नहीं करता सो यदि तुम भी जिनेन्द्र की पूजा-भक्ति करते हो और वांछित कार्य की सिद्धि चाहते हो तो पहिले उनके वचनों को मानो। भगवान की वाणी में कहा गया है कि जो राग-द्वेष सहित क्षेत्रपालादि हैं वे कुदेव हैं उन्हें सुदेव नहीं मानो सो इस जिन आज्ञा को प्रमाण करो।।१३२।।

(१८) अरहंतादि वीतराग हैं उनके सेवन से मानादि कषायों की हीनता होती है परन्तु उसके द्वारा उल्टे मानादि का पोषण करने वाले जीवों का यह

दुश्चारित्र है, वे जीव बड़े अभागे हैं।।१४४।।

(१९) जैनियों की रीति अलौकिक है, लोक से उल्टी है। जैनी वीतराग को देव मानते हैं, लोग सरागी को देव मानते हैं सो यदि कोई लौकिक सरागी देवों के पूजनादि की प्रवृत्ति करता है तो वह जैनी नहीं है-ऐसा तात्पर्य जानना।।१४५।।

(२०) जो बात निश्चय से अज्ञानी लोग मानते हैं उसे तो सारे लोग मानते ही हैं परन्तु जिस बात को जिनेन्द्रदेव मानते हैं उसे कोई विरले जीव ही मानते हैं अर्थात् अज्ञानी जीवों को धन-धान्यादि उत्कृष्ट भासित होते हैं सो तो सारे मोही जीवों को स्वयमेव उत्कृष्ट भासते ही हैं परन्तु जिनदेव वीतराग भाव को उत्कृष्ट मानते हैं सो यह मानने वाले बहुत थोड़े हैं क्योंकि जिन जीवों का निकट संसार है और मोह मंद हो गया है उन ही को वीतरागता रुचती है।।१४६।।

(२१) यदि तुम लोकाचार से बहिर्भूत जिनराज को जानते हो तो उन जिनेन्द्र को मानते हुए तुम लोकाचार को कैसे मानते हो!।।१४८।।

(२२) जो जीव जिनेन्द्र भगवान को मानकर भी अन्य देवों को प्रणाम करते हैं उन मिथ्यात्व सन्निपात से ग्रस्त जीवों का कौन वैद्य है !।।१४९।।

(२३) परमभाव से प्रभु के चरणों को नमस्कार करके एक ही प्रार्थना है कि उनके वचन रूपी रत्नों को ग्रहण करने का मुझे सदा अति लोभ हो।।१५७।।

(२४) हे प्रभो ! मुझ पर ऐसा स्वामिपना करो कि जिससे मुझे सामग्री का सुयोग प्राप्त होकर मेरा मनुष्यपना सफल हो जाये।।१६०।।

(२५) रागादि दोष जिनमें पाये जाते हैं वे कुदेव हैं, उनका त्याग करके वीतराग देव को हृदय में स्थापित करना चाहिये।।अन्तिम सवैया।।

(२६) सन्तजनों को चिन्तित पदार्थ को देने वाले श्री अरहंत देव मंगल हैं और सकल ज्ञेयाकृतियों के ज्ञायक श्री सिद्ध भगवन्तों का समूह भी मंगल है।।अन्तिम छप्पय १।।

जिन आज्ञा का उल्लंघन

(१) जिन आज्ञा भंग करने में जीव को इतना अधिक पाप होता है कि उससे उसे पुनः जिनभाषित धर्म का पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है।।गाथा ११।।

(२) कोई जिनाज्ञा से पराङ्मुख अज्ञानी जीव चैत्यालय के द्रव्य से व्यापार करते हैं और कोई उधार लेकर आजीविका करते हैं वे महापाप बाँधकर संसार समुद्र में डूब जाते हैं।।१२।।

(३) जिनाज्ञा में परायण पुरुष को निर्ग्रंथ गुरु से अथवा उनका संयोग न हो तो श्रद्धानी श्रावक से शास्त्र सुनना चाहिये।।२३।।

(४) जिनराज की शुद्ध आज्ञा में तत्पर पुरुष कितने ही पापी जीवों के सिरशूल हैं।।३४।।

(५) जिनराज की आज्ञा तो यह है कि कुगुरु का सेवन मत करो परन्तु उसको भी त्यागकर कुगुरु को गुरु कहकर नमस्कार करते हैं और अज्ञानी जीव किसी एक कुगुरु को मानते हैं तो उसके अनुसार सब ही मानने लगते हैं सो यह अज्ञान का माहात्म्य है।।३९।।

(६) करने योग्य पूजा आदि धर्मकार्य अपनी इच्छा के अनुसार यद्वा-तद्वा न करके जिनेन्द्र की आज्ञा प्रमाण ही यथार्थ करने योग्य हैं क्योंकि यत्नाचार रहित जो कार्य हैं वे आज्ञा भंग करने से दुःखदायक हैं।।४५।।

(७) जिनराज की आज्ञा रहित और क्रोधादि कषायों सहित धर्म का सेवन करने वालों को न तो यश ही मिलता है और न धर्म ही होता है।।५५।।

(८) जो जीव संसार से भयभीत हैं उन्हें तो जिनराज की आज्ञा भंग करने का भय होता है परन्तु जिन्हें संसार का भय नहीं होता उनके जिनाज्ञा भंग करना खेल होता है।।५९।।

(९) जिनराज की आज्ञा की विराधना करके वस्त्रादि परिग्रह धारण करते हुए भी जो स्वयं को गणधर आदि के कुल के कहते हैं उनसे यहाँ कहा है

कि 'जो जिनराज की आज्ञा से अन्यथा आचरण करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है, कुल से कुछ साध्य नहीं है'।।७२।।

(१०) जो पुरुष जिनसूत्र का उल्लंघन करके आचरण करते हुए भी अपने आपको उत्तम श्रावक मानते हैं वे दरिद्रता से ग्रसे हुए भी अपने को धनवान के समान तोलते हैं।।७३।।

(११) स्वयं को धर्मात्मा कहलवाने के लिए जो जीव अन्य मिथ्यादृष्टियों का कहा हुआ जिनाज्ञा रहित आचरण करते हैं वे पापी ही हैं।।७५।।

(१२) जिनाज्ञा में जो-जो कहा गया है उसको तो मानता है और जिनाज्ञा के सिवाय और को नहीं मानता वह पुरुष तत्त्वज्ञानी है।।९१।।

(१३) जिनाज्ञा से तो धर्म है और आज्ञा रहित जीवों को प्रकट अधर्म है-ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जिनाज्ञा के अनुसार धर्म करो और प्रत्येक धर्मकार्य जिनाज्ञा प्रमाण ही करो। अपनी युक्ति से मानादि कषायों का पोषण करने के लिए जिनाज्ञा के सिवाय प्रवर्तन करना योग्य नहीं है।

प्रश्न–जिनाज्ञा को प्रमाण करना किसे कहते हैं?

उत्तर–कुन्दकुन्द आदि महान आचार्यों ने जो युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध यथार्थ आचरण बताया है उसे अंगीकार करना ही जिनाज्ञा को प्रमाण करना है।।९२।।

(१४) चक्रवर्ती अथवा अन्य साधारण राजाओं की भी आज्ञा भंग करने पर मरण तक का दुःख होता है तो फिर क्या तीन लोक के प्रभु जो जिनेन्द्र देवाधिदेव उनकी आज्ञा का भंग करने पर दुःख नहीं होगा अर्थात् होगा ही होगा।।९८।।

(१५) कई जीव जिनाज्ञा प्रमाण पूजादि कार्यों में हिंसा मान उनका उत्थापन करके और ही प्रकार से धर्म तथा जीवदया का प्ररूपण करते हैं उनको कहा है कि 'यदि पूजादि कार्यों में हिंसादि होते तो भगवान उनका उपदेश क्यों देते इसलिए तुम्हारी समझ ही में दोष है। जिनवचन तो सर्वथा दयामय ही हैं और जिनके जिनाज्ञा प्रमाण नहीं है उनके न तो धर्म है और न ही दया है'।।९९।।

(१६) कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव जिनाज्ञा के बिना तपश्चरण आदि क्रियाओं का अनेक आडम्बर करते है वे आडम्बर मूर्खों को ही उत्कृष्ट भासते हैं परन्तु ज्ञानी जानते हैं कि ये समस्त क्रियाएँ जिनाज्ञा रहित होने से कार्यकारी नहीं हैं।।१००।।

(१७) जो जिनाज्ञा में तत्पर हैं वे ही धर्म के लिये हमारे गुरु हैं।।१०४।।

(१८) जो जीव जिनाज्ञा को भंग करके अपनी विद्वत्ता द्वारा अन्यथा उपदेश करते हैं वे जिनधर्मी नहीं हैं।।१२४।।

(१९) राजादि की सेवा करके यदि कोई उससे फल चाहता है तो उसकी आज्ञानुसार चलता है और सेवा तो करे पर आज्ञा उसकी नहीं माने तो उसे फल नहीं मिलता। इसी प्रकार यदि तुम जिनदेव को आराधते हो तो उनकी आज्ञा को प्रमाण करना, यदि प्रमाण नहीं करोगे तो आराधना का फल मोक्षमार्ग तुम्हें कदापि नहीं मिलेगा।।१३२।।

(२०) जिनराज की आज्ञा के आराधकपने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता रूप निर्मल बोधि उत्पन्न होती है।।१३८।।

(२१) बंधन व मरण आदि का दुःख तीव्र दुःख नहीं क्योंकि वे तो वर्तमान ही में दुःखदायी हैं पर जिनवचनों की विराधना करना अनंत भव में दुःखदायी है इसलिए जिनाज्ञा भंग करना महा दुःखदायी जानना।।१५४।।

(२२) शक्ति की हीनता से यद्यपि मैं श्रावक के उत्कृष्ट व्रत धारण नहीं कर सकता तो भी मुझे जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने की लालसा है-ऐसी ग्रंथकार ने भावना भाई है।।१५६।।

सुगुरु



(१) अन्तरंग मिथ्यात्वादि और बहिरंग वस्त्रादि परिग्रह रहित प्रशंसा योग्य गुरु उत्तम कृत्कृत्य पुरुषों के हृदय में निरन्तर रहते हैं।।गाथा १।।

(२) अज्ञानी जीवों को हँस-हँसकर संसार भ्रमण के कारणभूत कर्मों को बाँधते हुए देखकर श्री गुरुओं के हृदय में करुणाभाव उत्पन्न होता है कि 'ये जीव ऐसा कार्य क्यों करते हैं, वीतराग क्यों नहीं होते'।।९।।

(३) शुद्ध गुरु के उपदेश से सम्यक् श्रद्धान होता है और अश्रद्धानी के मुख से शास्त्र सुनने पर श्रद्धान निश्चल नहीं होता-ऐसा तात्पर्य है।।२२।।

(४) जीव को बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ गुरुओं के निकट और उनका संयोग न हो तो उन ही के उपदेश को कहने वाले श्रद्धानी श्रावक से शास्त्र सुनना योग्य है।।२३।।

(५) मंदमोही भव्य जीवों की ही बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित वीतरागी सुगुरुओं के प्रति तीव्र प्रीति होती है।।४१।।

(६) बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित शुद्ध गुरुओं का सेवक जो पुरुष है वह

मिथ्यादृष्टियों का महा शत्रु है इसलिए उसे उन मिथ्यादृष्टियों के निकट बलरहित होकर न बसते हुए जिनधर्मियों की ही संगति में रहना योग्य है-यह उपदेश है।।४८।।

(७) धर्म के स्वरूप के वक्ता सुगुरु का स्वाधीन संयोग होने पर भी जो निर्मल धर्म का स्वरूप नहीं सुनते वे पुरुष ढीठ हैं और दुष्ट हैं अथवा संसार के भय से रहित सुभट हैं।।९३।।

(८) हमारा किसी के ऊपर राग-द्वेष नहीं है, केवल गुरुओं में रागद्वेष है। जो जिनाज्ञा में तत्पर हैं वे तो हमारे धर्म के अर्थ गुरु हैं, उनके सिवाय अन्य सब कुगुरुओं का मैं त्याग करता हूँ।।१०४।।

(९) जिनवचन रूपी रत्नों के आभूषणों से जो मंडित हैं और यथार्थ आचरण के धारी हैं वे सब ही सुगुरु हैं।।१०५।।

(१०) आज भी कई जिनराज के समान नग्न मुद्रा के धारी गुणवान एवं निर्दोष गुरु दिखाई देते हैं जो केवल बाह्य लिंगधारी ही नहीं हैं वरन् जिनभाषित धर्म के धारी हैं, केवल परमहंसादि के समान नहीं हैं।

शंका–आज इस क्षेत्र में यहाँ मुनि तो दिखते नहीं फिर यहाँ पर कैसे कहे?

समाधान–मात्र तुम्हारी अपेक्षा तो वचन नहीं है, वचन तो सबकी अपेक्षा होता है। किन्हीं पुरुषों के वे प्रत्यक्ष होंगे ही क्योंकि दक्षिण दिशा में आज भी मुनि का सद्भाव शास्त्र में कहा है।।१०७।।

(११) जिनकी होनहार भली नहीं है उनको सुगुरु का सदुपदेश कभी नहीं रुचता किन्तु विपरीत ही भासित होता है।।१०८।।

(१२) अहो ! ऐसा मंगल दिवस कब होगा जब मैं सुगुरु के चरणों के निकट जिनधर्म को सुनूँगा ! इस प्रकार जिनसे धर्म की प्राप्ति होती है ऐसे सुगुरु के संगम की भावना भाई है।।१२८।।

(१३) अपनी बुद्धि के अनुसार, व्यवहारनय के द्वारा, सिद्धान्त की शुद्धिपूर्वक, काल तथा क्षेत्र के अनुमान से परीक्षा करके सुगुरु को जानना चाहिये।।१३४।।

(१४) सच्चे गुरु की प्राप्ति सहज नहीं है। जिनका पुण्य का उदय हो और भली होनहार हो ऐसे किन्हीं भाग्यवान कृतार्थ जीवों को ही शुद्ध गुरु मिलते हैं, हम अज्ञानी भाग्यहीनों को गुरु की प्राप्ति व निश्चय कैसे हो !।।१३५।।

(१५) जो गुरु पुण्यवान हो, त्यागीपने को प्राप्त हुआ हो, चारित्र सहित हो, वचन से जिसकी महिमा कही न जा सके और युगप्रधान हो-ऐसे गुरु की ही मुझे शरण है।।१३६।।

(१६) आजकल एक श्रद्धान करना ही कठिन है तो जीवन पर्यन्त चारित्र धारण करना तो कठिन है ही सो जो चारित्र के धारी हैं वे ही गुरु पूज्य हैं-ऐसा गाथा का भाव जानना।।।१३९।।

(१७) एक युगप्रधान जो आचार्य है उसे मध्यस्थ मन से पक्षपात रहित होकर और शास्त्र दृष्टि से लोकप्रवाह को त्यागकर भली प्रकार परीक्षा करके निश्चय करना योग्य है। हमारे तो ये ही गुरु हैं, हमको गुण-दोष विचारने से क्या प्रयोजन है ऐसा पक्षपात नहीं करना चाहिये।।१४०।।

(१८) जगत में स्वर्ण-रत्नादि वस्तुओं का विस्तार तो सर्व ही सुलभ है परन्तु जो सुमार्ग मे रत हैं और जिनमार्ग में यथार्थतया प्रवर्तते हैं ऐसे गुरुजनों का मिलाप निश्चय से नित्य ही दुर्लभ है।।१४३।।

(१९) जैनी अपरिग्रही निर्ग्रंथ साधु को गुरु मानते हैं यह ही योग्य है, परिग्रही सग्रन्थ को गुरु मानना योग्य नहीं।।१४५।।

(२०) जो बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह रहित वीतराग हैं वे ही गुरु हैं।।१५२।।

(२१) सुख का मूल विवेक है सो विवेक श्रीगुरुओं के प्रसाद से होता है और इस काल में श्रीगुरु का निमित्त मिलना कठिन है अतः सुख कैसे हो! ।।१५८।।

(२२) मुझे गुरु की सामग्री का सुयोग प्राप्त होकर सम्यक्त्व सुलभ हो-ऐसी प्रभु से प्रार्थना है।।१६०।।

(२३) प्रचुर गुणवान और निर्मल बुद्धि के धारक महान आचार्य मंगलस्वरूप हैं और सिद्धान्त के पाठ करने में अत्यंत प्रवीण उपाध्याय एवं निज सिद्ध रूप का साधन करने वाले साधुजन परम मंगल को करने वाले हैं, मन-वचन-काय से लौ लगाकर भागचंद जी उनके चरणों की नित्य वंदना करते हैं।।अन्तिम छप्पय १।।

कुगुरु



(१) मिथ्यावेषधारी रागी कुगुरुओं के द्वारा ठगाये जाते हुए जीव अपनी धर्म रूपी निधि के नष्ट होते हुए भी इस बात को मानते नहीं हैं, जानते नहीं हैं।।गाथा ५।।

(२) **प्रश्न**–हमारे तो मिथ्यावेषधारी कुगुरुओं की सेवा कुलक्रम से चली आई है तो हम अपने कुलधर्म को कैसे छोड़ दें ?

उत्तर–हे मूढ़ ! लोकप्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं होता। यदि लोकप्रवाह अर्थात् अज्ञानी जीवों के द्वारा माने हुए आचरण और अपने कुलक्रम में ही धर्म हो तो म्लेच्छों के कुल में चली आई हुई हिंसा से भी धर्म होगा तब फिर अधर्म की परिपाटी कौन सी ठहरेगी !।।६।।

(३) यदि कोई अपने को बड़े आचार्यों के कुल का बताकर पाप करेगा तो पापी ही है, गुरु नहीं है-ऐसा जानना।।७।।

(४) कई जीव संसार से छूटने के लिये कुगुरुओं का सेवन करते हैं उनको यहाँ कहा है कि वीतराग भाव के पोषक जिनवचनों को जानकर भी जब संसार से उदासीनता नहीं उपजती तो फिर राग-द्वेष को पुष्ट करने वाले कुगुरुओं के निकट संसार से विरक्तता कैसे उपजेगी अर्थात्

कभी भी नहीं उपजेगी।।८।।

(५) कई जीव व्यापारादि को छोड़कर ज्ञान बिना आचरण करते हुए भी अपने आपको गुरु मानते हैं उनसे कहा है कि 'व्यापारादि में होने वाला आरम्भ इतना पाप नहीं है जितना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सब पापों में बड़ा पाप है'।।१०।।

(६) विद्यादि का चमत्कार देखकर भी कुगुरु का प्रसंग करना योग्य नहीं है क्योंकि स्वेच्छाचारी के उपदेश से अपने श्रद्धानादि मलिन हो जाने से बहुत बड़ी हानि होती है।।१८।।

(७) अश्रद्धानी कुगुरु के मुख से यदि शास्त्र सुने तो श्रद्धान निश्चल नहीं होता-ऐसा तात्पर्य है।।२२।।

(८) वह ही तो कथा है, वह ही उपदेश है और वह ही ज्ञान है जिससे जीव गुरु का और कुगुरु का स्वरूप जान ले।।२४।।

(९) पंचम काल में गुरु भाट हो गए जो शब्दों से दातार की स्तुति करके दान को लेते हैं।।३१।।

(१०) आज जो गुरु कहलाते हैं वे अपनी महिमा में आसक्त हुए यथार्थ धर्म का स्वरूप नहीं कहते अतः इस काल में जिनधर्म की विरलता है।।३२।।

(११) जो जीव श्रद्धानी हैं उनको कुगुरु यथार्थ मार्ग के लोपने वाले अनिष्ट भासते हैं कि 'इनका संयोग जीवों को कदाचित् मत होओ'।।३४।।

(१२) श्रीगुरु तिल के तुष मात्र भी परिग्रह से रहित ही होने चाहिएं परन्तु आज गृहस्थ से भी अधिक तो परिग्रह रखते हैं और अपने को गुरु मनवाते हैं सो यह बड़ा अकार्य है।।३५।।

(१३) सर्प को जो त्यागे उसको तो सब भला कहते हैं परन्तु कुगुरु को जो त्यागे उसे मूर्ख जीव निगुरा व दुष्ट कहते हैं-यह बड़े खेद की बात है क्योंकि सर्प से भी अधिक दुःखदायी कुगुरु है।।३६।।

(१४) सर्प तो एक ही मरण देता है पर कुगुरु के प्रसंग से मिथ्यात्वादि पुष्ट होने से जीव निगोदादि में अनंत मरण पाता है इसलिए सर्प का ग्रहण तो भला है परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है।।३७।।

(१५) गुण-दोष का निर्णय न करके जिनाज्ञा से प्रतिकूल कुगुरु को भी गुरु कहकर नमस्कार करते हैं सो लोक क्या करे, भेड़चाल से ठगाया गया है।।३८।।

(१६) मोह की यह भारी महिमा है कि नाना प्रकार के परिग्रहों की याचना करने पर भी कुगुरु प्रवीण ठहराया जाता है।।३९।।

(१७) कुगुरु अपने मिथ्या वेष से भोले जीवों को ठगकर कुगति में खींचे ले जाते हैं। कैसे हैं वे कुगुरु ? नष्टबुद्धि हैं अर्थात् कार्य-अकार्य के विवेक से रहित हैं तथा लज्जा रहित हैं एवं चाहे जो बोलते हैं अतः ढीठ हैं और धर्मात्माओं के प्रति द्वेष रखने से दुष्ट भी हैं।।४०।।

(१८) जो जीव जैसा होता है उसकी वैसे ही जीव के साथ प्रीति होती है सो जो तीव्र मोही कुगुरु हैं उनके प्रति मोहियाँ की ही प्रीति होती है।।४१।।

(१९) कुगुरु को पक्षपातवश सुगुरु मिथ्यादृष्टि जीव ही बतलाते हैं।।४४।।

(२०) कुगुरु मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी स्वयं को सुगुरु का शिष्य बताते हैं और वस्त्रादि परिग्रह धारण करते हुए भी अपना आचार्य आदि पद मानते हैं सो योग्य नहीं।।७२।।

(२१) मात्र वेष धारण किया है जिन्होंने उन्हें वंदन करने से, उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करने से तथा उनकी विशेष भक्ति करने से जीव महा भव-समुद्र में डूबते हैं इसलिए उन्हें दूर से ही त्याग देना चाहिये।।८२।।

(२२) मिथ्यात्व के मूल कारण कुगुरुओं के ही त्याग कराने का यहाँ प्रयोजन है।।१०४।।

(२३) इस दुःखमा काल में राग-द्वेष सहित नाम मात्र के गुरु बहुत हैं पर धर्मार्थी सुगुरु दुर्लभ हैं।।११२।।

(२४) कितने ही गुरु तो देखे जाते हुए भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय में नहीं रमते अर्थात् वे लोक में तो गुरु कहलाते हैं परन्तु उनमें गुरुपने के गुण नहीं होते, ऐसे गुरु तत्त्वज्ञानियों को नहीं रुचते पर कई गुरु अदृष्ट हैं, देखने में नहीं आते तो भी ज्ञानी उनका परोक्ष स्मरण करते हैं जैसे जिन हैं इष्ट जिनको ऐसे गणधरादि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानियों के हृदय में वे रमते हैं।।१२९।।

(२५) 'हम तो कुगुरुओं को ही सुगुरु के समान जानकर पूजेंगे, गुणों की परीक्षा करके हमें क्या करना है'-ऐसा यदि कोई कहता है तो उसका निषेध है कि 'अति पापी और परिग्रहादि के धारी कुगुरुओं को तुम सुगुरु के समान नहीं मानो'।।१३०।।

(२६) भगवान की वाणी में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि 'जो परिग्रहधारी विषयाभिलाषी आदि हैं वे कुगुरु हैं उन्हें सुगुरु नहीं मानो' सो तुम उस वाणी को प्रमाण करो।।१३२।।

(२७) रत्नत्रय का साधकपना साधु का लक्षण है सो निश्चय दृष्टि से अन्तरंग तो दीखता नहीं परन्तु व्यवहारनय से सिद्धान्त में जो महाव्रतादि आचरण और गुरुओं के योग्य क्षेत्र-काल कहा है उसके द्वारा उन्हें परख लेना चाहिये कि वह इनमें है या नहीं सो गुरुओं के योग्य जो क्षेत्र-काल न हो वहाँ पर जो स्थित हों और पाँच महाव्रतादि का आचरण जिनमें नहीं पाया जाता हो वे कुगुरु हैं।।१३४।।

(२८) जो-जो लोक में गुरु दीखते हैं अथवा गुरु कहलाते हैं वे-वे शास्त्र के द्वारा परीक्षा करके ही पूजने योग्य हैं। शास्त्रोक्त गुण जिनमें नहीं दिखाई दें उनको नहीं पूजना।।१३९।।

(२९) हमारे तो ये ही गुरु हैं, हमें गुण-दोष विचारने से क्या प्रयोजन-ऐसा पक्षपात त्यागकर शास्त्र में गुरु के जैसे गुण-दोष कहे हैं वैसे विचार कर लोकमूढ़ता त्याग के गुरु को मानना योग्य है।।१४०।।

(३०) परिग्रहधारी कुगुरु के निमित्त से बुद्धिमानों की भी बुद्धि चलायमान हो जाती है। लोक में उनके द्वारा उत्पन्न किये हुए गहलभाव से निपुण पुरुष ही शुद्ध धर्म से चलित हो जाते हैं अतः उनका निमित्त मिलाना योग्य नहीं है।।१४१।।

(३१) जिनके वचनों में जिनमन्दिर, श्रावक और पंचायती द्रव्य आदि में भेद वर्तता है वे युगप्रधान गुरु नहीं हैं अर्थात् कई चैत्यवासी पीताम्बर एवं रक्ताम्बर आदि कहते हैं कि 'यह तो हमारा मन्दिर, हमारे श्रावक और हमारा द्रव्य है तथा ये चैत्यालय आदि हमारे नहीं है'-इस प्रकार का भेद मानने वाले गुरु नहीं हैं।।१५२।।



(१) इस ग्रंथ मे देव-गुरु-धर्म के श्रद्वान का पोषक उपदेश भली प्रकार किया है सो यह मोक्षमार्ग का प्रथम कारण है क्योंकि सच्चे देव-गुरु-धर्म की प्रतीति होने से यथार्थ जीवादिकों के श्रद्वान-ज्ञान-आचरण रुप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है और तब ही जीव का कल्याण होता है इसलिए अपना कल्याणकारी जानकर इस शास्त्र का अभ्यास करना योग्य है।।ग्रंथारम्भ।।

(२) जिनवाणी के अनुसार परीक्षापूर्वक निर्णय करके ही धर्म धारण करना योग्य है।।गाथा ६।।

(३) वीतराग भाव के पोषक जिनवचनों को जानकर भी संसार से उदासीनता नहीं उपजती तो राग-द्वेष को पुष्ट करने वाले कुगुरुओं के निकट कैसे उपजेगी !।।८।।

(४) जिनवाणी के अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व के एक अंश के विद्यमान रहते हुए भी मोक्षमार्ग की अत्यन्त दुर्लभता है।।१०।।

(५) जिनवाणी के सिवाय अपनी पद्धति बढ़ाने के लिए या मानादि पोषने के लिए रंच मात्र भी उपदेश देना योग्य नहीं है।।११।।

(६) जिनभाषित शास्त्र सब ही जीवों को धर्म में रुचि रूप संवेग कराने वाले हैं।।२२।।

(७) शास्त्र सुनने की पद्धति रखने को जिस-तिस के मुख से शास्त्र नहीं सुनना चाहिये या तो निर्ग्रंथ आचार्य के निकट सुनना चाहिये अथवा उन ही के अनुसार कहने वाले श्रद्धानी श्रावक से सुनना चाहिये।।२३।।

(८) जिनसे हित-अहित का ज्ञान हो ऐसे जैन शास्त्र ही सुनना, अन्य रागादि को बढ़ाने वाले मिथ्या शास्त्र सुनने योग्य नहीं हैं।।२४।।

(९) जिनवाणी के अनुसार अरहंतादि का निश्चय करना, इस कार्य में भोला रहना योग्य नहीं।।३४।।

(१०) जिनवचन में तो तिल के तुष मात्र भी परिग्रह से रहित श्रीगुरु और सम्यक्त्वादि धर्म के धारी श्रावक कहे गये हैं।।३५।।

(११) जिनवाणी में जैसा कहा है उसी प्रमाण पूजनादि कार्यो का विधान यत्नाचार सहित करना चाहिये, अपनी बुद्धि के अनुसार यद्वा-तद्वा करना

योग्य नहीं है।।४५।।

(१२) प्रथम जिनवाणी के अनुसार श्रद्धान ठीक अवश्य करो क्योंकि श्रद्धान के बिना उपवासादि कार्य यथार्थ फल नहीं देते।।४६।।

(१३) जहाँ कोई जिनवाणी का मर्म नहीं जानता हो वहाँ पर रहना उचित नहीं है।।४९।।

(१४) शास्त्र का अभ्यास आदि भला आचरण करने वाले जीवों को जो पुरुष सदाकाल उनके निर्विघ्न शास्त्राभ्यास आदि होता रहे ऐसी सामग्री का मेल मिलाता है वह चिंतामणि और कल्पवृक्ष आदि से भी बड़ा है।।५३।।

(१५) जब जिनवाणी को समझने वाले भी नष्टबुद्धि होकर अन्यथा आचरण करते हैं अर्थात् भली प्रकार उपयोग लगाकर देवादि का निर्णय नहीं करते तो जिनको शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है उनको क्या दोष दें !।।६०।।

(१६) जिनवाणी के अनुसार तत्त्वों के विचार में सतत उद्यमी रहना योग्य है। थोड़ा सा जानकर अपने को सम्यक्त्वी मानकर प्रमादी होना योग्य नहीं है।।६४।।

(१७) जिनवचनों के श्रद्धान के बिना उपवास-व्रतादि तपश्चरण का समस्त आडम्बर वृथा है।।६५।।

(१८) शुद्ध हृदय वाले पुरुषों को जैसे-जैसे जिनवचन भली प्रकार समझ में आते जाते हैं वैसे-वैसे उन्हें लोकरीति में भी धर्म प्रतिभासित होता है, खोटा आचरण नहीं प्रतिभासित होता।।६६।।

(१९) जिनवाणी के अनुसार श्रद्धान दृढ़ करना -यह गाथा का तात्पर्य है।।७०।।

(२०) जिनवाणी के अनुसार देव-गुरु-धर्म के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करके धर्म धारण करना ही भला है।।७४।।

(२१) जिनवाणी का अभ्यास करके मिथ्यात्व का तो त्याग और सम्यक्त्वादि गुणों को अंगीकार करना-यह मनुष्य जन्म धारण करने का फल था सो जिसने यह कार्य नहीं किया उसका मनुष्य जन्म पाना न पाने के बराबर है।।८१।।

(२२) शास्त्रों में जो युक्ति व शास्त्र से अविरुद्ध कथन हों उनको प्रमाण करना।

प्रश्न—जो दिगम्बर शास्त्रों में ही अन्य-अन्य कथन हों तो क्या करें ?

उत्तर–जो सर्व शास्त्रों में एक सा कथन हो सो तो प्रमाण है ही और कहीं विवक्षा के वश से अन्य कथन हो तो उसकी विधि मिला लेना और अपने ज्ञान में विधि न मिले तो अपनी भूल मान बड़े ज्ञानियों से निर्णय कर लेना। शास्त्र को देखने का विशेष उद्यमी रहे तो अपनी भूल मिट जाती है और श्रद्धा निर्मल होती है।।९२।।

(२३) इस उपदेशमाला के सिद्धान्त को सब ही मुनि-श्रावक मानते हैं, पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं। यह कोई कपोल-कल्पित नहीं है, प्रामाणिक है और सम्यक्त्वादि को पुष्ट करने से सबका कल्याणकारी है।।९६।।

(२४) जो यथार्थ आचरण तो कर नहीं सकते और अपने आपको महंत मनवाना चाहते हैं, मोही हैं उनको शास्त्र का यथार्थ उपदेश नहीं रुचता। वे अधम मिथ्यादृष्टि इस शास्त्र की निंदा करते हैं और निंदा से होने वाले नरकादि के दुःखों को गिनते नहीं हैं।।९७।।

(२५) जगत के गुरु जो जिनराज उनके वचन समस्त जीवों को हितकारी हैं सो ऐसे जिनवचनों की विराधना से कहो कैसे धर्म हो सकेगा और किस प्रकार जीवदया पल सकेगी !।।९९।।

(२६) जिनेन्द्र देव के वचन धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि 'मैंने अपने तथा दूसरों के श्रद्धान को दृढ़ करने के लिए ही यह शास्त्र का उपदेश रचा है'।।१०३।।

(२७) जिनवचन के ज्ञाताओं को एक ही महादुःख होता है कि 'मूढ़ जीव धर्म का नाम लेकर पाप का सेवन करते हैं'।।११४।।

(२८) जो जिनवचनों के ज्ञान से संसार से भयभीत होते हुए वैराग्य में तत्पर होकर उन वचनों के रहस्य में रमते हैं ऐसे महानुभाव पुरुष थोड़े हैं।।११५।।

(२९) बिना कारण ही अज्ञान के गर्व से जिनवाणी का एक अक्षर भी अन्यथा कहने वाले अर्थात् उसके विरुद्ध बोलने वाले जीव अधमों मे भी महा अधम हैं, वे अनन्त संसारी होते हैं।।१२१।।

(३०) 'महावीर स्वामी का जीव मारीचि जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देने के कारण संसार में लम्बे काल तक घूमा'-शास्त्र के ऐसे वचनों को बारम्बार सुनकर भी दोषों को नहीं गिनकर जो मिथ्यासूत्र के वचनों का सेवन करता है उसे सम्यग्ज्ञान और उत्तम वैराग्य कैसे हो सकता है !।।१२३-१२४।।

(३१) बहुत मत कहो, मत कहो क्योंकि उन जीवों के लिए जिनवाणी का हितोपदेश महा दोष रूप है जो चिकने कर्मों से बंधे हुए हैं।।१२५।।

(३२) वे जीव धर्म के वचनों से कुछ नहीं समझ पाते जो हृदय से अशुद्ध हैं सो उन्हें समझाने के लिए जो गुणवान प्रयत्न करता है वह निरर्थक ही अपनी आत्मा का दमन करता है अर्थात् उसे कष्ट देता है।।१२६।।

(३३) कई जीव जिनराज के वचनों को तो मानते ही नहीं परन्तु बाहर में उनकी वंदना-पूजा बहुत करते हैं तो उनकी वंदना-पूजा कार्यकारी नहीं है।।१३१।।

(३४) यदि तुम वांछित कार्य मोक्ष की सिद्धि चाहते हो तो जिनदेव के वचनों को पहले मानो।।१३२।।

(३५) जिनराज के द्वारा कहा गया शास्त्र का व्यवहार परमार्थ धर्म को साधने वाला है अर्थात् वह परमार्थ के स्वरूप को पृथक् दिखाता है। शास्त्राभ्यास रूप व्यवहार से परमार्थ रूप वीतराग धर्म की प्राप्ति होती है - ऐसा जानना।।१३८।।

(३६) शास्त्र के ज्ञानियों द्वारा ही उन मूर्ख जीवों की मिथ्या परिणति जानी जाती है जो सब गुरु, श्रावक और जिनबिम्बों के एक होते हुए भी जिनद्रव्य अर्थात् चैत्यालय के द्रव्य को परस्पर में खर्च नहीं करते।।१५०-१५१।।

(३७) जिनवचनों को पाकर भी यदि किसी को हित-अहित का ज्ञान नहीं हुआ तो जानना कि उसके मिथ्यात्व का तीव्र उदय है।।१५३।।

(३८) इस लोक में बंधन और मरण के भयादि का दुःख तीव्र दुःख नहीं है। दुःखों में दुःख का निधान तो जिनवचन की विराधना करना है।।१५४।।

(३९) ग्रंथकार कहते हैं कि 'यद्यपि मैं उतम श्रावक की पैड़ी पर चढ़ने में असमर्थ हूँ तथापि जिनवचनों के अनुसार करने का मनोरथ मेरे हृदय में सदा बना रहता है'।।१५६।।

(४०) 'जिनवचन रूपी रत्नों को ग्रहण करने का मुझे सदा अत्यन्त लोभ हो'-ऐसी प्रभु के चरणों को परमभाव से नमस्कार करके ग्रन्थकार ने इष्ट प्रार्थना की है।।१५७।।

(४१) इस ग्रंथ में श्री नेमिचन्द जी द्वारा रचित ये कुछ गाथाएँ हैं उनको हे भव्य जीवों ! तुम पढ़ो, जानो और कल्याण रूप मोक्ष पद प्राप्त करो।।१६१।।

उत्सूत्रभाषी



(१) जिनसूत्र का उल्लंघन करके अंश मात्र भी उपदेश देना जिनवर की आज्ञा का भंग करना है और जिनवर की आज्ञा के सिवाय यदि कोई कषाय के वशीभूत होकर एक अक्षर भी कहे तो उससे इतना पाप होता है कि जिससे यह जीव निगोद चला जाता है।।गाथा ११।।

(२) जो पुरुष सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देता है उसकी क्षमा भी रागादि दोष और मिथ्यात्व का ठिकाना है और जिनसूत्र के अनुसार उपदेश देने वाले उत्तम वक्ता का रोष भी क्षमा का भंडार है।।१४।।

(३) जैसे लोक में श्रेष्ठ मणि सहित भी विषधर त्याज्य होता है वैसे ही बहुत क्षमादि गुणों और व्याकरणादि अनेक विद्याओं का स्थान भी उत्सूत्रभाषी अर्थात् जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देने वाला पुरुष त्याज्य होता है।।१८।।

(४) सूत्र के विरुद्ध बोलने में जिन्हें शंका नहीं होती और यद्वा-तद्वा

कहते हैं वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं।।४४।।

(५) जिनसूत्र के अनुसार यथार्थ उपदेश देना योग्य है। जिन जीवों को थोड़े से दिनों की मान-बड़ाई के लिए अन्य मूर्खों के कहने से जिनसूत्र का उल्लंघन करके बोलने में भय नहीं होता उन जीवों को परभव में जो दुःख होंगे उनको यदि जानते हैं तो केवली भगवान ही जानते हैं।।५६।।

(६) जो जीव जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देते हैं उनके सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति रूप बोधि का नाश होता है और अनंत संसार बढ़ता है इसलिए प्राणों का नाश होते भी धीर पुरुष जिनसूत्र का उल्लंघन करके कदापि नहीं बोलते।।५७।।

(७) यदि तूने सूत्र का उल्लंघन करके ऐसा वचन कहना प्रारंभ कर दिया है कि जिसमें अपना भी कुछ हित नहीं है और पर का भी हित नहीं है तो हे जीव! तू निःसंदेह संसार समुद्र में डूब गया और तेरा तपश्चरणादि का समस्त आडंबर वृथा है।।६५।।

(८) जो जीव कारण रहित अज्ञान के गर्व से सूत्र का उल्लंघन करके बोलते हैं वे पापियों में भी अत्यंत पापी हैं और अधमों में भी महा अधम हैं। लौकिक प्रयोजन के लिए जो पाप करते हैं वे तो पापी ही हैं परन्तु जो बिना प्रयोजन पंडितपने के गर्व से अन्यथा उपदेश करते हैं वे महापापी हैं।।१२१।।

(९) उत्सूत्रभाषी जीव मिथ्या अभिमानवश अपने को पंडित मानते हुए नरक-निगोदादि नीच गति ही के पात्र होते हैं और अनंत संसार में भ्रमण करते हैं। महावीर स्वामी के जीव मारीचि ने जैन सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश दिया जिसके कारण उसने अति भयानक भव-वन में कोड़ाकोड़ी सागर तक भ्रमण किया।।१२२-१२४।।

(१०) अहो! वह मंगल दिवस कब आएगा जब मैं उत्सूत्र के लेश अर्थात् अंश रूपी विषकण से रहित होकर जिनधर्म को सुनूँगा!।।१२८।।

जिनधर्म

(१) अरहंत भगवान के मत की श्रद्धा करने वाला अर्थात् जो भगवान ने कहा है वह ही सत्यार्थ है ऐसा मानने वाला पुरुष मोक्षमार्गी है और जिनमत की श्रद्धा के बिना घोर तपश्चरणादि करने पर भी विशेष फल नहीं मिलता ।।गाथा २।।

(२) जिनभाषित धर्म अकेला ही संसार के समस्त दुःखों को हरता है और सकल सुख का कारण है।।३।।

(३) जिनमत के श्रद्धान से मोक्ष प्राप्त होता है और वहाँ यह जीव सदा अविनाशी सुख भोगता है।।४।।

(४) लोकप्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं होता, धर्म तो जिनभाषित वीतराग भाव रूप ही है। कुलक्रम में धर्म हो तो म्लेच्छ कुल में चली आई हुई हिंसा से भी धर्म होगा। इसी प्रकार यदि अपने कुल में सच्चा जिनधर्म भी चला आ रहा हो और उसको कुलक्रम जानकर सेवन करे तो भी विशेष फल का दाता नहीं है इसलिए जिनवाणी के अनुसार निर्णय करके ही धर्म धारण करना योग्य है।।६।।

(५) लोक में भी राजनीति है कि न्याय कभी भी कुलक्रम से नहीं होता तो फिर क्या तीन लोक के प्रभु अरहंत के जिनधर्म के अधिकार में कुलक्रम के अनुसार न्याय होगा अर्थात् कभी भी नहीं होगा।।७।।

(६) उस जीव को जिनभाषित धर्म दुर्लभ हो जाता है जो जिनमार्ग का उल्लंघन करके प्रवर्तता है।।११।।

(७) खोटे आग्रह रूप पिशाच से ग्रहीत जीवों को धर्म का जो उपदेश देता है वह मूर्ख है।।१३।।

(८) जीव का हितकारी एक जिनधर्म है। 'जिनधर्म से मोक्ष होता है' इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है इसलिए जो धर्म के उत्कृष्ट रस के रसिक हैं उनको जिनधर्म का स्वरूप अति कष्ट से भी जानना योग्य है।।१५।।

(९) अन्य लौकिक बातों को तो सभी जानते हैं और चौराहे पर पड़ा हुआ रत्न भी मिल जाता है परन्तु जिनभाषित धर्म रूपी रत्न का सम्यक् ज्ञान दुर्लभ है इसलिए जिस-तिस प्रकार जिनधर्म का स्वरूप जानना योग्य है।।१६।।

(१०) समस्त जीव सुखी होना चाहते हैं परन्तु सुख के कारण जिनधर्म का सेवन नहीं करते और पापबंध के कारण पुत्रादि के स्नेह को ही करते हैं-यह

मोह की महिमा है।।१९।।
(११) ज्ञानीजन जिनेन्द्रभाषित वीतराग भाव रूप श्रेष्ठ जिनधर्म को ही सुख का कारण मानते हैं अतः उनके लिए वही विश्राम का स्थान है, स्त्री नहीं।।२०।।
(१२) जिनधर्म बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ गुरु से और उनके संयोग के अभाव में उनके उपदेश को कहने वाले श्रद्धानी श्रावक से सुनना चाहिए।।२३।।
(१३) वह ही तो कथा है, वह ही उपदेश है और वह ही ज्ञान है जिससे जीव लोकरीति और धर्म का स्वरूप जाने।।२४।।
(१४) सांवत्सरिक एवं चातुर्मासिक अर्थात् दशलक्षण एवं अष्टान्हिका आदि धर्म पर्वों के रचने वाले पुरुष जयवंत हों क्योंकि उन पर्वों के प्रभाव से पापी पुरुष भी धर्मबुद्धि वाले हो जाते हैं।।२६।।
(१५) धर्म के पर्वों में भी अत्यंत पापी जीव पाप में ही तत्पर होते हैं।।२९।।
(१६) पात्रदानादि धर्म के कार्यों में ही जो धन लगता है वह सफल है।।३०।।
(१७) देने वाले तो अपना मान पुष्ट करने के लिए दान देते हैं और लेने वाले लोभी होकर लेते हैं, जिनधर्म का रहस्य वे दान देने और लेने वाले दोनों ही नहीं जानते इसलिए वे दोनों ही संसार समुद्र में डूब जाते हैं और अन्य मत में तो ऐसे भाटवत् दूसरे की स्तुति गाकर दान लेने वाले पहले भी थे परन्तु जिनमत में इस निकृष्ट काल में ही हुए हैं।।३१।।
(१८) धर्म का स्वरूप गुरुओं के उपदेश से जाना जाता है और इस काल में गुरु अपनी महिमा के रसिक हैं सो वे शुद्ध मार्ग को छिपाते हैं अतः जिनधर्म की विरलता इस काल में हुई है।।३२।।
(१९) यथार्थ जिनधर्मियों के आगे मिथ्यादृष्टियों का मत चलने नहीं पाता इसलिए जिनधर्मी उनको अनिष्ट भासते ही हैं।।३४।।
(२०) इस निकृष्ट काल में उत्तरोत्तर जिनधर्म की और-और विरलता एवं हीनता ही होती जा रही है।।४२।।
(२१) जिन्हें जिनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ है ऐसे भाग्यहीन जीवों की उत्पत्ति के कारण ही इस निकृष्ट काल में षट्काय के जीवों की रक्षा करने में माता के समान जिनधर्म का अत्यन्त उदय नहीं दिख रहा है, जिनधर्म किसी प्रकार से भी हीन नहीं है।।४३।।
(२२) जो जीव धर्म के किसी भी अंग के सेवन में अपनी ख्याति, लाभ और

पूजा का आशय रखता है उसे धर्म में भी माया अर्थात् छल है।।४४।।
(२३) यदि तुझे धर्म की वांछा है तो प्रथम यथार्थ देव-गुरु-धर्म की अथवा जीवादि की श्रद्धा निश्चय करनी योग्य है।।४६।।
(२४) अधर्मियों की संगति छोड़कर धर्मात्माओं की संगति करनी चाहिये क्योंकि यही सम्यक्त्व का मूल कारण है।।४७।।
(२५) धर्मात्मा को जिनधर्मियों की ही संगति में रहना उचित है, मिथ्यादृष्टियों की में नही-यह उपदेश है।।४८।।
(२६) उस स्थान पर धर्म नहीं बढ़ता और धर्मात्मा जीव पराभव ही पाता है जहाँ जैन सिद्धान्त का ज्ञाता गृहस्थ तो असमर्थ हो और अज्ञानी सामर्थ्य सहित हो।।४९।।
(२७) जो धनादि सम्पदा से युक्त होने पर भी धर्म में अत्यन्त अनुराग नहीं करता वह कुमार्गी जीव प्राप्त धन को निष्फल गँवाता है और शुद्ध धर्म के इच्छुक जीवों को पीड़ा देता है।।५०।।
(२८) जिसके आश्रय से जिनधर्मी निर्मल धर्म का सेवन करते हैं वह पुरुषों में रत्न समान उत्तम पुरुष जयवन्त हो। कैसा है वह ? सम्यग्दर्शनादि गुणों का धारी है और सुमेरु गिरि समान बड़ा उसका मूल्य है।।५२।।
(२९) शास्त्राभ्यास आदि भला आचरण करने वाले जीवों को जो सदाकाल धर्म का आधार देता है उस पुरुष के मूल्य को चिंतामणि और कल्पवृक्ष भी नहीं पाते।।५३।।
(३०) जिनधर्मी की सहायता करने वाले पुरुष का नाम लेने से मोह लज्जायमान होकर मंद पड़ जाता है और उसका गुणगान करने से हमारे कर्म गल जाते हैं।।५४।।
(३१) धर्म का सेवन निरपेक्ष होकर ही करना चाहिए, कीर्ति के इच्छुक और कषायसंयुक्त होकर नहीं। अपनी प्रशंसा आदि के लिये जो धर्म का सेवन करते हैं उनका न तो यशकीर्तन होता है और न उनके धर्म ही होता है।।५५।।
(३२) सच्चे देव व शास्त्र का निमित्त मिलने पर भी उनके स्वरूप का निर्णय नहीं कर सकने के कारण जीव ने यथार्थ जिनधर्म को नहीं पाया सो यह उसके तीव्र पाप का ही उदय है।।६०।।
(३३) हे भाई ! जो बड़े कुल मे उपजे पुरुष हैं उन्हें औरों का भी उपहास करना अयुक्त है फिर तुम्हारी यह कौन सी रीति है कि शुद्ध धर्म में भी हास करते हो अर्थात् हास्य करना तो सर्वत्र ही पाप है परन्तु जो जीव धर्म में हास्य करते

हैं उन्हें महापाप होता है।।६१।।

(३४) वीतराग देव के सेवकों को जिनधर्म के सामने मिथ्यादृष्टियों के समस्त धर्म तृण तुल्य तुच्छ भासित होते हैं, उनका अभ्युदय देखकर वे मन में आश्चर्य नहीं करते क्योंकि वे ऐसा जानते हैं कि यह विषमिश्रित भोजन है जो वर्तमान में भला दिख रहा है परन्तु परिपाक में खोटा है।।६७।।

(३५) जैसे भी बने वैसे जैनमत की श्रद्धा दृढ़ करनी चाहिये और लोकमूढ़ता से मोहित नहीं होना चाहिये। क्योंकि इसे सब लोग करते हैं इसलिए इसमें कुछ तो सार होगा-ऐसा नहीं जानना चाहिये।।६८।।

(३६) कई अज्ञानी जीव जिनधर्म की अवज्ञा करते हैं और उससे नरकादि के घोर दुःख पाते हैं। उन दुःखों का स्मरण करके ज्ञानियों का हृदय भय से थरथर काँपता है।।६९।।

(३७) निर्मल जिनधर्म की वांछा कुदेवों का सेवन आदि मिथ्यात्व का आचरण करते हुए कैसे हो!।।७१।।

(३८) निर्णय करके ही धर्म धारण करना चाहिये क्योंकि निर्णय के बिना कुल के अनुसार यदि धर्म धारण करेगा तो कुल के जीव यदि धर्म छोड़ेंगे तो आप भी छोड़ देगा और निर्णय करके यदि उसे धारण करेगा तो कदाचित् चलायमान नहीं होगा।।७४।।

(३९) जिनके जिनधर्म संतान से चला आया है वे उसमें प्रवर्तते हैं सो तो ठीक ही है परन्तु जो अन्य कुल में जन्म लेकर जिनधर्म में प्रवर्तन करते हैं सो यह आश्चर्य है, वे अधिक प्रशंसा के योग्य हैं।।८३।।

(४०) धर्म का सेवन करने वाले धर्मात्माओं को यदि पूर्व कर्म के उदय से कदाचित्-किंचित् विघ्न आ जाये तो पापी जीव उसे धर्म का फल बताते हैं-यह उनकी विपरीत बुद्धि है।।८४।।

(४१) कर्मोदय के आधीन मरण और जीवन तो अनादि ही से होता आया है परन्तु जिनधर्म पाना महा दुर्लभ है अतः प्राणान्त के समय में भी सम्यक्त्व त्यागना योग्य नहीं है।।८७।।

(४२) धर्मकार्य के समय में यदि कोई व्यापारादि कार्य आ जाये तो उसको दुःखदायी जानकर धर्मकार्य को छोड़कर पापकार्य में नहीं लगना चाहिये।।८९।।

(४३) जिनभाषित धर्म को ही सम्यग्दृष्टि सत्यार्थ जानता है।।९१।।

(४४) जिनाज्ञा से ही धर्म है अतः जो-जो धर्म कार्य करना वह जिनाज्ञा प्रमाण

ही करना।।९२।।

(४५) वक्ता का निमित्त यदि न मिले तो भी धर्मात्मा पुरुष उसे कष्ट से भी मिलाकर धर्म श्रवण करते हैं और स्वयमेव जिन्हें वक्ता का निमित्त मिला हो तो भी जो धर्म नहीं सुनते वे अपना अकल्याण करने वाले होने से दुष्टचित्त हैं, कहे की लज्जा नहीं इसलिये ढीठ हैं और संसार का भय होता तो धर्म सुनते परन्तु नहीं सुनते हैं अतः जाना जाता है कि संसार के भय से रहित सुभट हैं।।९३।।

(४६) शुद्ध धर्म व कुल में उत्पन्न हुए गुणवान पुरुष निश्चय से संसार में नही रमते, वे जिनराज की दीक्षा ग्रहण कर शुद्धात्मा का ध्यान करके आत्मा का परम हित रूप मोक्ष पाते हैं।।९४।।

(४७) सब जीवों का हित सुख है और वह सुख धर्म से होता है इसलिए जो धर्म का उपदेश देते हैं वे ही परम हितकारी हैं, अन्य स्त्री-पुत्रादि हितकारी नहीं हैं क्योंकि वे मोहादि के कारण हैं।।१०१।।

(४८) जिनेन्द्रदेव, जिनवचन और महा सज्जनस्वभावी निर्ग्रंथ गुरुजन ही धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण हैं।।१०३।।

(४९) जिनधर्म में एकान्त नहीं होता कि अमुक सम्प्रदाय के तो हमारे गुरु हैं और बाकी औरों के गुरु हैं। जिनमत में तो पाँच महाव्रत आदि यथार्थ आचरण के जो धारी हैं वे सब ही गुरु हैं।।१०५।।

(५०) निर्मल धर्मबुद्धि सुविशुद्ध पुण्य से युक्त सज्जन पुरुषों की संगति से शीघ्र ही समुल्लसित हो जाती है अतः मैं उनकी बलिहारी जाता हूँ, प्रशंसा करता हूँ।।१०६।।

(५१) धर्मसेवन से वीतराग भाव की प्राप्ति होती है।।११२।।

(५२) जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया शुद्ध जिनधर्म अनेक भाग्यवान जीवों को ही आनन्दित करता है।।११३।।

(५३) धर्म का नाम लेकर पाप का सेवन करना मूर्खता और ज्ञानियों की करुणा का विषय है।।११४।।

(५४) व्रतादि धर्म को सम्यक्त्व सहित ही धारण करना चाहिये-यह इस गाथा का तात्पर्य है।।११६।।

(५५) कोई अधिक धनादि रखकर अपने को बड़ा माने सो ऐसा जिनमत में तो नहीं है, यहाँ तो धनादि के त्याग की ही महिमा है-ऐसा जानना।।११९।।

(५६) कषाय के वशीभूत होकर जिनमत से एक अक्षर भी यदि अन्यथा कहे तो वह अनंत संसारी होता है।।१२१।।

(५७) वह जिनधर्मी कैसे हो सकता है जो मिथ्यासूत्र के वचनों का सेवन करता है।।१२३-२४।।

(५८) जिनधर्म का आचरण करना, उसका साधन करना एवं प्रभावना करनी-ये सब तो दूर ही रहो एक उसका श्रद्धान ही तीव्र दुःखों का नाश करता है अतः जिनधर्म धन्य है।।१२७।।

(५९) जिनधर्म को सुगुरु के पादमूल में बैठकर मैं जब सुनूँ उस मंगल दिवस की प्रतीक्षा है।।१२८।।

(६०) वह जीव शुद्धधर्म से विमुख है जो पापी कुगुरु और शुद्ध गुरु को समान मानता है अर्थात् जिनराज या शुद्ध गुरु से जो अति पापिष्ठ और परिग्रहधारी कुगुरुओं की तुलना करता है।।१३०।।

(६१) निश्चय से मोह रहित आत्मा की परिणति रूप जिनधर्म तो बड़े-बड़े ज्ञानियों के द्वारा भी जानना कठिन है फिर उसका लाभ होना तो दुर्लभ ही है सो परमार्थ जानने की शक्ति न हो तो अरहंतादि के श्रद्धान रूप व्यवहार को जानना ही भला है। व्यवहार से जिनमत की स्थिरता यदि बनी रहेगी तो परम्परा से कभी सच्चा धर्म भी मिल जायेगा और यदि व्यवहार धर्म भी नहीं होगा तो पाप प्रवृत्ति होने से जीव निगोदादि में चला जायेगा जहाँ धर्म की वार्ता भी दुर्लभ है।।१३७।।

(६२) शास्त्राभ्यास रूप व्यवहार से परमार्थ रूप वीतराग धर्म की प्राप्ति होती है क्योंकि जो जिनोक्त व्यवहार है वह निश्चय का साधक है।।१३८।।

(६३) अहिंसा व दया में ही धर्म होता है जैसा कि जैन मानते हैं, यज्ञादि हिंसा में धर्म नहीं होता।।१४५।।

(६४) जिनमत तो अलौकिक है, यदि उसे मानते हो तो उससे विरुद्ध मिथ्यादृष्टियों की रीति को तो मत मानो।।१४८।।

(६५) मिथ्यात्व के नाश का उपाय जिनमत है और जिनमत को पा करके भी जिनका मिथ्यात्व रूपी रोग न जाये तो फिर उसका और कोई उपाय नहीं है।।१४९।।

(६६) चैत्यालय व गुरु आदि में इस प्रकार का भेद डालना कि 'ये हमारे हैं और ये दूसरों के हैं' ऐसी जिनमत की रीति नहीं है।।१५०-५१।।

सम्यक्त्व

(१) सच्चे देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान मोक्षमार्ग का प्रथम कारण है।।ग्रन्थारम्भ।।
(२) जितनी शक्ति हो उतना करना और जिसकी शक्ति न हो उसका श्रद्धान करना, श्रद्धान ही मुख्य धर्म है-ऐसा जानना।।गाथा २।।
(३) सम्यक्त्व ही मृत्यु से रक्षक है। जिन्होंने जिनराज का सम्यक्त्व रूप श्रद्धान दृढ़ किया है ऐसे अनेक जीवों ने अजर-अमर पद पाया है।।४।।
(४) धर्म में रुचि रूप संवेग सम्यक्त्व होने से होता है और सम्यक्त्व शुद्ध गुरु के उपदेश से होता है।।२२।।
(५) शास्त्र श्रवण से सत्यार्थ श्रद्धान रूप फल तभी उत्पन्न होगा जब शास्त्र निर्ग्रंथ गुरु से अथवा श्रद्धानी श्रावक से सुना जाये।।२३।।
(६) जिन्होंने सम्यक्त्व होने के कारण रूप धर्म पर्व स्थापित किये हैं वे पुरुष प्रशंसनीय हैं।।२६।।
(७) दृढ़ सम्यक्त्वी जीवों को पाप का निमित्त मिलने पर भी पापबुद्धि नहीं होती।।२८।।
(८) जो निर्मल श्रद्धानी सुधर्मात्मा हैं वे किसी भी पापपर्व में धर्म से चलायमान नहीं होते।।२९।।
(९) दान-पूजादि में लगकर सम्यक्त्वादि गुणों को हुलसायमान करने वाली लक्ष्मी सफल है और भोगों में लगकर सम्यक्त्वादि गुण रूप ऋद्धि का नाश करने वाली लक्ष्मी विफल है।।३०।।
(१०) जो जीव श्रद्धानी हैं वे मिथ्यादृष्टियों को गुरु नहीं मानते।।३४।।
(११) जिनधर्म की क्षीणता और दुष्टों का अत्यंत उदय देखकर सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व और भी उल्लसित होता जाता है कि पंचमकाल में यही होना है, भगवान ने ऐसा ही कहा है।।४२।।
(१२) कई जीव धर्म के इच्छुक होकर उपवास एवं त्याग आदि कार्य तो करते हैं परन्तु उनके सच्चे देव-गुरु-धर्म की व जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा का कुछ ठीक नही होता उन्हें यहाँ शिक्षा दी है कि 'सम्यक्त्व के बिना ये समस्त कार्य यथार्थ फल देने वाले नहीं हैं अतः प्रथम अपना श्रद्धान अवश्य ठीक करना चाहिये'।।४६।।
(१३) निर्मल श्रद्धावान सज्जनों की संगति से निर्मल आचरण सहित धर्मानुराग

बढ़ता है अतः वह सम्यक्त्व की मूल कारण है सो उसे करना चाहिये।।४७।।
(१४) साधर्मियों से प्रीति करना सम्यक्त्व का अंग है।।५२।।
(१५) जिन्हें मिथ्यात्व पाप में तो हर्ष और जिनवचनों के प्रति द्वेष है ऐसे महा मिथ्यादृष्टि जीवों को भी निर्मल चित्त वाले सत्पुरुष परम हित देने की इच्छा रखते हैं।।६२।।
(१६) सम्यग्दृष्टियों में ही ऐसी सज्जनता होती है कि वे सभी जीवों के प्रति समान भाव रखते हैं और किसी का भी बुरा नहीं चाहते। वे तो विष के समूह को उगलते हुए सर्प के प्रति भी दयाभाव ही रखते हैं।।६३।।
(१७) कई जीव अपने को सम्यक्त्वी मानकर अभिमान करते हैं, उनसे यहाँ कहा है कि 'घर के व्यापार से रहित बहुत से मुनियों के ही सम्यक्त्व नहीं होता तो घर के व्यापार में तत्पर जो गृहस्थ उनकी हम क्या कहें, उन्हें सम्यक्त्व होना तो महा दुर्लभ है इसलिए तत्त्वों के विचार में सतत उद्यमी रहना योग्य है, थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके अपने को सम्यक्त्वी मानकर प्रमादी होना योग्य नहीं है'।।६४।।
(१८) कितने ही जीव तपश्चरणादि तो करते हैं परन्तु जिनवचनों की श्रद्धा नहीं करते और उसके बिना उनका समस्त आडम्बर वृथा है अतः सम्यक् श्रद्धानपूर्वक ही क्रिया करनी योग्य है।।६५।।
(१९) जीवों के जैसे-जैसे श्रद्धान निर्मल होता जाता है वैसे-वैसे लोकव्यवहार में भी उनकी धर्म रूप प्रवृत्ति होती जाती है और लोकमूढ़ता रूपी खोटा आचरण छूटता जाता है।।६६।।
(२०) समस्त मूढ़ताओं में लोकमूढ़ता ही प्रबल है जिससे बडे-बड़े पुरुषों तक का श्रद्धान शिथिल हो जाता है। दृढ़ सम्यक्त्व रूपी महाबल से रहित बड़े पुरुष भी लोकमूढ़ता के प्रवाह रूप उत्कट पवन की प्रचण्ड लहरों से हिल जाते हैं।।६८।।
(२१) जिसके भी निश्चल सम्यक्त्व नहीं वह दोषवान है अतः प्रथम जीव को अपना श्रद्धान दृढ़ करना चाहिये।।७०।।
(२२) तब तक तो सम्यक्त्व का अंश भी नहीं हो सकता जब तक मिथ्या देवादि की सेवा है अतः मिथ्या देवादि का प्रसंग तो प्रथम दूर ही से छोड़ देना चाहिये और तब ही सम्यक्त्व की कोई बात करनी चाहिये-यह अनुक्रम है।।७१।।
(२३) सम्यग्दर्शन का अर्थात् देव-गुरु-धर्म के श्रद्धानादि का तो कुछ ठीक न

हो और किसी प्रतिज्ञा को धारण करके स्वयं को श्रावक माने तो यह योग्य नहीं है।।७३।।

(२४) दृढ़ सम्यक्त्वयुक्त जीवों को यदि पूर्व कर्म के उदय से विघ्न का एक अंश भी आ जाये तो भी पापी जीव उसे प्रकट करके कहते हैं कि यह धर्म का फल है जबकि मिथ्यात्व का सेवन करने वालों को सैकड़ों विघ्न आते हैं तो भी कोई यह नहीं कहते कि 'ये विघ्न मिथ्यात्व का सेवन करने के कारण आये हैं'।।८४।।

(२५) सम्यक्त्वी जीव के विघ्न भी उत्सव के समान है क्योंकि किसी कर्म के उदय से यदि उसके उपसर्ग भी आता है तो उसमें उसका श्रद्धान निश्चल रहने से पाप की निर्जरा होती है और पुण्य का अनुभाग बढ़ता है तब आगामी महा सुख होता है सो सम्यक्त्व सहित दुःख भी भला है।।८५।।

(२६) जो जीव मरण पर्यन्त दुःख को प्राप्त होते हुए भी सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते उनको इन्द्र भी अपनी ऋद्धियों के विस्तार की निन्दा करता हुआ प्रणाम करता है क्योंकि वह जानता है कि 'सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है अतः अविनाशी ऋद्धि है सो दृढ़ सम्यक्त्वी जीव ही शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं जबकि लोक की ये ऋद्धियाँ इन्द्र-विभूति आदि तो विनाशीक हैं, दुःख की ही कारण हैं'।।८६।।

(२७) मोक्षार्थी जीव अपने जीवन को तो तृण के समान त्याग देते हैं परन्तु सम्यक्त्व को नहीं त्यागते क्योंकि जीवन तो पुनः प्राप्त हो जाता है परन्तु सम्यक्त्व के चले जाने पर उसका फिर पाना दुर्लभ है।।८७।।

(२८) जो पुरुष सम्यक्त्व रूपी रत्नराशि से सहित हैं वे यदि धन-धान्यादि विभव रहित हैं तो भी विभव सहित हैं और वे ही सच्चे धनवान हैं क्योंकि वीतरागी सुख के आस्वादी हैं और परद्रव्य के होने तथा न होने में उन्हें हर्ष-विषाद नहीं होता परन्तु जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं वे धनवान होते हुए भी दरिद्र हैं क्योंकि वे परद्रव्य की हानि-वृद्धि से सदा आकुलित हैं।।८८।।

(२९) सम्यग्दृष्टि को अवश्य ज्ञान-वैराग्य होता है इसलिए वीतराग की पूजा आदि में उसे परम रुचि बढ़ती है। धर्मकार्य के समय में किसी व्यापारादि कार्य के आ जाने पर वह धर्मकार्य को छोड़कर पापकार्य में नहीं लगता-यह ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।।८९।।

(३०) तीर्थंकर देवों की पूजा सम्यक्त्व के गुणों की कारण है।।९०।।
(३१) सम्यक्त्व सहित जीव जिनभाषित धर्म को सत्यार्थ जानता है एवं अन्य मिथ्यादृष्टि लोगों की सब रीति को मिथ्या जानता है।।९१।।
(३२) शास्त्रों का विशेष अभ्यास सम्यक्त्व का मूल कारण है।।९२।।
(३३) सम्यग्दृष्टि जीव हरिहरादि की ऋद्धियों एवं समृद्धि रूप वैभव में भी नहीं रमते तो अन्य विभूति में तो कैसे रमेंगे अर्थात् नहीं रमेंगे क्योंकि ज्ञानी जीव बहुत आरम्भ और परिग्रह से नरकादि के दुःखों की प्राप्ति जानते हैं और केवल सम्यग्दर्शनादि ही को आत्मा का हित मानते हैं।।९५।।
(३४) सम्यक्त्व सहित जीवों के द्वारा तो वे जीव निन्दनीय ही होते हैं जो तपश्चरण आदि क्रियाओं का आगम रहित बहुत सा आडम्बर करते हैं।।१००।।
(३५) सम्यक्त्व का मूल कारण तो जिनेन्द्र देव, निर्ग्रंथ गुरु और जिनधर्म का श्रद्धान है और यही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है, इसके सिवाय अन्य कुदेव, कुगुरु एवं कुशास्त्रादि तो पाप के स्थान हैं।।१०३।।
(३६) सुगुरु सम्यक्त्व का मूल कारण है।।१०४।।
(३७) श्रद्धावान जीवों को 'यह मेरा गुरु और यह पराया गुरु'-ऐसा भेद गुरु के विषय में कदापि नहीं होता। जिनवचन रूपी रत्नों के आभूषणों से जो मंडित होते हैं वे सब ही उनके लिए गुरु हैं।।१०५।।
(३८) मिथ्यात्व रहित सम्यक्त्वादि धर्मबुद्धि उल्लसित करने की यदि तुम्हारी इच्छा हो तो साधर्मी विशेष ज्ञानियों की संगति करो क्योंकि संगति ही से गुण-दोषों की प्राप्ति देखी जाती है।।१०६।।
(३९) निर्ग्रंथ गुरु का उपदेश होते हुए भी कई जीवों के सम्यक्त्व उल्लसित नहीं होता अथवा सूर्य का तेज उल्लुओं के अंधत्व को कैसे हर सकता है अर्थात् नहीं हर सकता।।१०८।।
(४०) जिनके नष्ट हुए पदार्थों का शोक आदि नहीं है ऐसे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीवों की आज दुर्लभता है।।११२।।
(४१) ऐसे जीवों की मूर्खता देखकर ज्ञानी सम्यग्दृष्टियों को करुणा उत्पन्न होती है जो व्रतादि का नाम लेकर रात्रिभोजनादि तथा धर्म का नाम लेकर हिंसा पाप करते हैं।।११४।।
(४२) ऐसे जीव होने दुर्लभ हैं जो जिनवचनों के ज्ञान से संसार से भयभीत होते हुए सम्यक्त्व का शक्ति सहित पालन करते हैं तथा अनेक खोटे कारण

मिलने पर भी सम्यक् विचार रूप शक्ति प्रकट करके श्रद्धान से नहीं चिगते।।११५।।

(४३) जैसे प्रकटपने सारे अंगों से सहित गाड़ी भी एक धुरी के बिना नहीं चलती वैसे धर्म का बड़ा आडम्बर भी सम्यक्त्व से रहित फलीभूत नहीं होता अतः सम्यक्त्व सहित ही व्रतादि धर्म धारण करना योग्य है।।११६।।

(४४) धर्म का स्वरूप जानने वाले सम्यक्त्वयुक्त जीवों का उन अज्ञानी जीवों पर रोष नहीं होता जो धर्म का स्वरूप और परमार्थ गुण रूप हित व अहित को नहीं जानते।।११७।।

(४५) व्रतादि का अनुष्ठान तो दूर ही रहो, एक सम्यक्त्व ही के होते भी नरकादि दुःखों का अभाव हो जाता है।।१२७।।

(४६) इस निकृष्ट काल में सम्यक्त्व बिगड़ने के अनेक कारण बन रहे हैं फिर भी जो जीव सम्यक्त्व से चलायमान नहीं होते उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।।१३३।।

(४७) अणुव्रतादि रूप ऊपर का धर्म धारण करने का जिनका भाव रहता है वे सम्यग्दृष्टि हैं।।१४२।।

(४८) जिनके साधर्मी से तो अहित है और बन्धु-पुत्रादि से अनुराग है उन्हें सिद्धान्त के न्याय से प्रकटपने सम्यक्त्व नहीं जानना। सम्यक्त्व के अंग तो वात्सल्यादि भाव हैं सो जिनको साधर्मी से प्रीति नहीं है उन्हें सम्यक्त्व नहीं है और पुत्रादि से प्रीति तो मोह के उदय से सब ही के होती है, उसमें कुछ सार नहीं है-ऐसा जानना।।१४७।।

(४९) हे सुगुरु ! हे प्रभो ! हमारा स्वामिपना ऐसा करो जिससे सामग्री का सुयोग होते हमें सम्यक्त्व सुलभ हो जाये।।१६०।।

(५०) रागादि दोषों से युक्त कुदेव को त्यागकर वीतराग देव को हृदय में धारण करना, वस्त्रादि परिग्रहधारियों का कुगुरु रूप से विचार करके निर्ग्रंथ गुरु के यथार्थ स्वरूप का ध्यान करना तथा हिंसामय धर्म को कुधर्म जानकर उसका दूर ही से त्याग करके दयामय धर्म की निशिदिन भावना करनी-ये ही सम्यग्दर्शन के मूल कारण हैं, इनके विचार में कभी भी आलस्य-प्रमाद नहीं करना चाहिये।।अन्तिम सवैया।।

मिथ्यात्व

(१) मिथ्यात्वसंयुक्त जीवों को अरहंत देव, निर्ग्रंथ गुरु और निर्मल जिनभाषित धर्म आदि की प्राप्ति होना दुर्लभ है।।गाथा १।।

(२) जो सुख के लिए कुदेवों को पूजते हैं वे जीव उल्टे अपनी गाँठ का सुख खोते हैं और मिथ्यात्वादि के योग से पाप बाँधकर नरकादि में दुःख भोगते हैं।।३।।

(३) मिथ्यात्व के उदय में रक्ताम्बर व पीताम्बर आदि मिथ्या वेषधारियों को धर्म के लिए हर्षित होकर पूजता है परन्तु धर्म की तो इससे उल्टे हानि ही होती है।।५।।

(४) मिथ्यात्व से मारे गये कुगुरुओं के निकट संसार से उदासीनता उत्पन्न हो ही नहीं सकती।।८।।

(५) मिथ्यात्व व कषाय के वशीभूत हुए अज्ञानी जीव संसार भ्रमण के कारण रूप कर्म को हँस-हँस के बाँधते हैं।।९।।

(६) सब पापों में मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है क्योंकि व्यापारादि आरम्भ से उत्पन्न हुए पाप के प्रभाव से जीव नरकादि दुःखों को तो पाता है परन्तु उसे कदाचित् मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाती है पर मिथ्यात्व के अंश के भी विद्यमान रहते हुए जीव को मोक्षमार्ग अतिशय दुर्लभ होता है, वह सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तपमयी बोधि को प्राप्त नहीं कर पाता।।१०।।

(७) जिनके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है उन्हें जिनवाणी नहीं रुचती।।१३।।

(८) मिथ्यात्व के तीव्र उदय में विशुद्ध सम्यक्त्व का कथन करना भी दुर्लभ होता है जैसे पापी राजा के उदय में न्यायवान राजा का आचरण दुर्लभ होता है।।१७।।

(९) वह ही कथा है, वह ही उपदेश है और वह ही ज्ञान है जिससे जीव मिथ्या और सम्यक् भावों को जाने।।२४।।

(१०) जिनराज को पा करके भी यदि मिथ्यात्व नहीं जाता तो इसमें बड़ा आश्चर्य है।।२५।।

(११) जिन्होंने अधिक जलादि की हिंसा के कारण रूप ऐसे होली, दशहरा एवं संक्रान्ति आदि और जिसमें कंदमूलादि का भक्षण अथवा रात्रिभक्षण हो ऐसे एकादशी व्रत आदि मिथ्यात्व के पर्वों की स्थापना की उनका नाम भी लेना पापबंध का कारण है क्योंकि उनके प्रसंग से अनेक धर्मात्माओं की भी पापबुद्धि हो जाती है।।२६-२७।।

(१२) तीव्र मिथ्यात्वयुक्त जीवों को धर्म का निमित्त मिलने पर भी धर्मबुद्धि नहीं होती।।२८।।

(१३) दान देने वाले तो अपने मान के पोषण के लिए देते हैं और लेने वाले लोभी होकर लेते हैं सो मिथ्यात्व एवं कषाय के पुष्ट होने से दोनों ही संसार में डूबते हैं।।३१।।

(१४) वर्तमान में लोग मिथ्यात्व के प्रवाह में आसक्त हैं और परमार्थ को जानने वाले बहुत थोड़े हैं।।३२।।

(१५) मिथ्यादृष्टियों के मत यथार्थ जिनधर्मियों के आगे नहीं चल पाते इसलिए उन मिथ्यादृष्टियों को ये अनिष्ट भासते ही हैं।।३४।।

(१६) कुगुरु के प्रसंग से मिथ्यात्वादि पुष्ट होने से जीव निगोदादि में अनंत मरण पाता है।।३७।।

(१७) जिनके मिथ्यात्वादि मोह का तीव्र उदय है उन्हें ही कुगुरुओं के प्रति भक्ति-वंदना रूप अनुराग होता है।।४१।।

(१८) मिथ्यादृष्टियों के सम्पदा का उदय देखकर दृढ़ श्रद्धानी जीवों के ये भाव नहीं होते कि यह मिथ्यादृष्टियों का धर्म भी भला है, उल्टे निर्मल श्रद्धान होता है कि 'यह काल-दोष है, भगवान ने ऐसा ही कहा है'।।४२।।

(१९) ऐसे जीवों के मिथ्यात्व का उदय है जिनके धर्म में माया है अर्थात् धर्म के किसी अंग का सेवन करते हैं तो अपनी ख्याति, लाभ एवं पूजा का आशय रखते हैं, गाथा-सूत्रों का यथार्थ अभिप्राय नहीं जानते उल्टे मिथ्या अर्थ ग्रहण करते हैं, सूत्र के अतिरिक्त बोलने में जिन्हें शंका नहीं होती यद्वा-तद्वा कहते हैं, कुगुरु को पक्षपातवश सुगुरु बतलाते हैं तथा पाप रूप दिवस को पुण्य रूप मानते हैं।।४४।।

(२०) कई जीव धर्म के इच्छुक होकर कष्ट सहते हैं, आत्मा का दमन

करते हैं और द्रव्यों का त्याग भी करते हैं परन्तु एक मिथ्यात्व रूपी विष के कण को नहीं त्यागते जिसके कारण संसार में डूब जाते हैं।।४६।।

(२१) मिथ्यात्वयुक्त अशुद्ध पुरुषों की संगति से प्रवीण पुरुषों का भी धर्मानुराग दिन-दिन प्रति घटता हुआ हीन हो जाता है।।४७।।

(२२) जिस क्षेत्र में मिथ्यादृष्टियों का बहुत जोर हो वहाँ धर्मात्मा को रहना योग्य नहीं है।।४८।।

(२३) मिथ्या कथन में एकान्त को प्राप्त जो मिथ्यावादी हैं वे पुरुष धर्म में स्थित धर्मात्माओं के प्रभाव का समस्त श्रावक समूह में पराभव करने में उद्यमी होते हैं।।५१।।

(२४) मूर्खों को रिझाने के लिए मिथ्यात्व संयुक्त जीवों के विपरीत आचरण की प्रशंसा करना कभी भी योग्य नहीं है।।५८।।

(२५) महा मिथ्यादृष्टि को भी सज्जन तो भला ही उपदेश देते हैं फिर उसका भला होना-न होना भवितव्य के आधीन है।।६२।।

(२६) कई मिथ्यादृष्टि जीव अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर अभिमान करते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं कि 'हे भाई ! पाँच महाव्रत के धारी मुनि भी स्व-पर को जाने बिना द्रव्यलिंगी ही रहते हैं तो फिर गृहस्थों की तो क्या बात अतः तत्त्वों के विचार में सतत उद्यमी रहना योग्य है'।।६४।।

(२७) रे जीव ! तू अन्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के दोषों का क्या निश्चय करता है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही, तू स्वयं को ही क्यों नहीं जानता, यदि तेरे निश्चल सम्यक्त्व नहीं तो तू भी तो दोषवान है।।७०।।

(२८) जो जीव मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी निर्मल जिनधर्म की वांछा करते हैं वे ज्वर से ग्रस्त होते हुए भी खीर आदि वस्तु खाने की इच्छा करते हैं।।७१।।

(२९) जो अन्यथा आचरण करता है वह मिथ्यादृष्टि ही है, कुल से कुछ साध्य नहीं है। जैसे कोई बड़े कुल की भी स्त्री है पर व्यभिचार का सेवन करती है तो व्यभिचारिणी ही है, कुलीन नहीं।।७२।।

(३०) मिथ्यादृष्टियों का तो संग भी अहितकारी है पर उसे तो जो करते नहीं और उसे छोड़कर उनके धर्म को करते हैं वे पापी जीव चोर का संग छोड़कर आप ही चोरी करते हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टियों का कहा हुआ

आचरण अंश मात्र भी करना योग्य नहीं है।।।७५।।

(३१) घर के स्वामी के द्वारा मिथ्यात्व की अंश मात्र भी प्रशंसादि करना योग्य नहीं है क्योंकि घर के कुटुम्ब का स्वामी होकर भी जिसने मिथ्यात्व की रुचि और सराहना की उसने अपने सारे ही वंश को संसार समुद्र में डुबा दिया।।७७।।

(३२) डंडाचौथ, गोगानवमी, दशहरा, गणगौर एवं होली आदि का तथा और भी जिनमें मिथ्यात्व एवं विषय-कषाय की वृद्धि होती है ऐसे समस्त प्रकार के मिथ्या पर्वों का आचरण करने वालों के सम्यग्दर्शन नहीं है, मिथ्यात्व ही है।।७८।।

(३३) जो स्वयं दृढ़ श्रद्धानी हैं ऐसे कोई विरले उत्तम पुरुष ही अपने समस्त कुटुम्ब को उपदेशादि के द्वारा मिथ्यात्व से रहित करते हैं सो ऐसे पुरुष थोड़े हैं।।७९।।

(३४) मिथ्यात्व के उदय में जीवों को प्रकट भी जिनदेव प्राप्त नहीं होते।।८०।।

(३५) जो पुरुष मिथ्यात्व में आसक्त है और सम्यग्दर्शनादि गुणों में मत्सरता धारण करता है वह पुरुष क्या माता के उत्पन्न हुआ अपितु नहीं हुआ अथवा उत्पन्न भी हुआ तो क्या वृद्धि को प्राप्त हुआ अपितु नहीं हुआ।।८१।।

(३६) मिथ्यात्व का सेवन करने वाले जीव को सैकड़ों विघ्न आते हैं परन्तु उन्हें मूर्ख लोग गिनते नहीं हैं और धर्म का सेवन करते हुए किसी को यदि किंचित् भी विघ्न हो तो उस विघ्न को धर्म से हुआ कहते हैं-ऐसी विपरीत बुद्धि का होना मिथ्यात्व की महिमा है।।८४।।

(३७) मिथ्यात्व सहित जीव को परम उत्सव भी महा विघ्न है क्योंकि उसके किसी पुण्य के उदय से वर्तमान में सुख सा दीखता है परन्तु मिथ्यात्व पाप का बंध होने से आगामी नरक का महा दुःख उत्पन्न होता है इसलिए मिथ्यात्व सहित सुख भी भला नहीं है।।८५।।

(३८) मिथ्यात्व से युक्त जीव धनादि सहित हो तो भी दरिद्र है क्योंकि परद्रव्य की हानि-वृद्धि से वह सदा आकुलित है।।८८।।

(३९) जिसको धर्म कार्य तो रुचता नहीं, जैसे-तैसे उसको पूरा करना

चाहता है पर व्यापार आदि को रुचिपूर्वक करता है सो यह ही मिथ्यादृष्टि का चिन्ह है।।८९।।

(४०) जिनमत में रागी-द्वेषी अपूज्य कुदेवों की पूजा मिथ्यात्व को करने वाली कही गई है।।९०।।

(४१) कई अधम मिथ्यादृष्टि जो कि मिथ्यात्व राजा के द्वारा ठगाये गये हैं सम्यक् शास्त्रों की निन्दा करते हैं और उसमें होने वाले नरकादि के दुःखो को गिनते नहीं हैं।।९७।।

(४२) कितने ही मिथ्यादृष्टि जीवों के द्वारा किए गए तपश्चरणादि क्रियाओं के आगम रहित अनेक आडम्बर मूर्खों को ही रंजायमान करने के लिये होते हैं, ज्ञानियों को नहीं, ज्ञानियों को तो वे निन्द्य ही भासते हैं।।१००।।

(४३) कुगुरु मिथ्यात्व का मूल कारण है।।१०४।।

(४४) सद्गुरु के वचन रूपी सूर्य का तेज मिलने पर भी जिनका मिथ्यात्व अंधकार नष्ट नहीं होता वे जीव उल्लू जैसे हैं।।१०८।।

(४५) मिथ्यात्व से युक्त जीवों की यह मूर्खता है और उनके ढीठपने को धिक्कार हो कि तीन लोक के जीवों को मरता हुआ देखकर भी वे अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते और पापों से विराम नहीं लेते।।१०९।।

(४६) मिथ्यात्व से मोहित जीवों की रति मिथ्या धर्मों में ही होती है, शुद्ध जिनधर्म में नहीं।।११३।।

(४७) मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का स्वरूप नहीं जानते सो न जानने वालों पर कैसा रोष-ऐसा जानकर ज्ञानी उन पर मध्यस्थ रहते हैं।।११७।।

(४८) मिथ्यात्व व कषायों के द्वारा जो अपना घात स्वयं करते हैं अर्थात् उन्हें अपना आत्मा ही वैरी है उन्हें दूसरे जीवों पर दया कैसे हो सकती है !।।११८।।

(४९) वे जीव मिथ्यात्वादि के द्वारा नरकादि ही के पात्र हैं जो जिनाज्ञा भंग करते हैं और अपनी पंडिताई से अन्यथा उपदेश कहते हैं।।१२४।।

(५०) जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है उन्हें बार-बार उपदेश देने से कुछ साध्य नहीं है क्योंकि वे तो उल्टे विपरीत ही परिणमते हैं।।१२५।।

(५१) जिन जीवों का हृदय अशुद्ध और मिथ्या भावों से मलिन है वे धर्मवचनों से क्या समझेंगे अर्थात् कुछ नही समझेंगे अतः ऐसे विपरीतमार्गी जीवों को उपदेश देने में कुछ भी सार नहीं है, उनके प्रति मध्यस्थ रहना ही उचित है।।१२६।।

(५२) वे मिथ्यादृष्टि हैं जिन्हें सुगुरु और कुगुरु में अन्तर नहीं दिखाई देता।।१३०।।

(५३) जो जीव नीचे गिरने रूप आलम्बन को ग्रहण करते हैं वे मिथ्यात्व सहित हैं, उनको ही अणुव्रत-महाव्रतादि रूप ऊपर की दशा का त्याग करके निचली दशा रुचती है।।१४२।।

(५४) साधर्मियों के प्रति तो अहितबुद्धि है और बंध-पुत्र आदि के प्रति अनुराग है तो प्रकटपने ही मिथ्यात्व है-ऐसा सिद्धान्त के न्याय से जानना चाहिए।।१४७।।

(५५) उन मिथ्यात्व रूपी सन्निपात से ग्रस्त जीवों का कौन वैद्य है जो जिनराज को मानते हुए भी कुदेवों को नमस्कार करते हैं। अन्य जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं परन्तु जो जैनी होकर भी अन्य रागादि दोष सहित कुदेवों को वंदते-पूजते हैं वे महा मिथ्यादृष्टि हैं।।१४९।।

(५६) वे जीव मिथ्यादृष्टि हैं जो चैत्यालय आदि में भेद मानकर कि ये चैत्यालयादि तो हमारे हैं और ये दूसरों के हैं परस्पर में भक्ति नहीं करते और धन नहीं खरचते।।१५०-१५१।।

(५७) तब तक मिथ्यात्व की मजबूत गाँठ का खोटा माहात्म्य है जब तक जिनवचनों को पाकर भी जीव को हित-अहित का विवेक उल्लसित नहीं होता।।१५३।।

(५८) मिथ्यात्व का ठिकाना जो निकृष्ट भाव उससे नष्ट हुआ है महाविवेक जिनका ऐसे हमें इस काल में स्वप्न में भी सुख की संभावना कैसे हो !।।१५८।।

(५९) मिथ्यात्व की प्रवृत्ति इस काल में बहुत है इसलिए हम जीवित हैं और श्रावक कहलाते हैं सो भी आश्चर्य है।।१५९।।



श्रावक

(१) शास्त्र श्रवण की पद्धति रखने को जिस-तिस के मुख से शास्त्र न सुनना, या तो निर्ग्रंथ आचार्य के निकट सुनना अथवा उन ही के अनुसार कहने वाले श्रद्धानी श्रावक के मुख से सुनना तब ही सत्यार्थ श्रद्धान रूप फल शास्त्र सुनने से उत्पन्न होगा अन्यथा नहीं।।गाथा २३।।

(२) जिनवचन में तो सम्यक्त्वादि धर्म के धारी श्रावक कहे गये हैं परन्तु आज इस काल में देव-गुरु-धर्म का व न्याय-अन्याय का तो कुछ ठीक नहीं है पर अपने को श्रावक मानते हैं सो यह बड़ा अकार्य है।।३५।।

(३) कितने ही जीव जिनसूत्र का उल्लंघन करके आचरण करते हुए भी स्वयं को उत्तम श्रावकों में स्थापित करते हैं अर्थात् उनके देव-गुरु-धर्म के श्रद्धानादि का तो कुछ ठीक नहीं होता और अनुक्रम का भंग करके कोई प्रतिज्ञादि धारण करके अपने को श्रावक मानते हैं पर वे श्रावक नहीं हैं। श्रावक तो वे तब होंगे जब यथायोग्य आचरण करेंगे।।७३।।

(४) पशुओं की महान हिंसा के दिवस पापनवमी को पूजकर भी अपने को श्रावक कहलवाते हैं सो वीतराग देव की निंदा कराते हैं। उनकी ऐसी प्रवृत्ति से सच्चे जैनियों को लज्जा उत्पन्न होती है।।७६।।

(५) इस दुःखमा काल में नाममात्र के धारी श्रावक तो बहुत हैं परन्तु धर्मार्थी श्रावक दुर्लभ हैं। धर्म सेवन से जिस वीतराग भाव की प्राप्ति होती है वह नामधारी धर्मात्माओं को कभी नहीं हो सकती।।११२।।

(६) प्रथम जिनवाणी के अनुसार आत्मज्ञानी होकर पीछे श्रावक के वा मुनि के व्रत धारण करे-ऐसी रीति है इसलिए जिसे आत्मज्ञान नहीं उसके सच्चा श्रावकपना नहीं होता। जिनवचनों के विधान का रहस्य जानकर भी जब तक आत्मा को नहीं देखा जाता तब तक श्रावकपना कैसे हो ! कैसा है वह श्रावकपना? धीर पुरुषों के द्वारा आचरित है।।१५५।।

(७) इस काल में जो मैं यह जीवन धारण किये हुए हूँ और श्रावक का नाम भी धारण किये हुए हूँ वह भी हे प्रभो! महान आश्चर्य है-इस प्रकार श्रावकपने की इस विषम दुःखमा काल में दुर्लभता दिखाई है।।१५९।।

अभिप्राय

(१) कषाय के वश से जिनवर की आज्ञा के सिवाय यदि एक अक्षर भी कहे तो वह जीव निगोद चला जाता है इसलिए अपनी पद्धति बढ़ाने के लिए अथवा मानादि का पोषण करने के लिये उपदेश देना योग्य नहीं है।।गाथा ११।।

(२) यथार्थ उपदेश देने वाले वक्ता का कारण के वश से क्रोध करके कहना भी क्षमा ही है क्योंकि उसका अभिप्राय जीवों को धर्म में लगाने का है और जो आजीविका आदि के लिए यथार्थ उपदेश नहीं देता वह अपना और पर का अकल्याण करने से उसकी क्षमा भी अभिप्राय के वश से दोष रूप है।।१४।।

(३) दान देने वाला तो अपने मान का पोषण करने के लिए देता है और लेने वाला लोभी हो दूसरे में अविद्यमान गुणों को भी गाकर लेता है सो दोनों ही मिथ्यात्व और कषाय को पुष्ट करते हैं।।३१।।

(४) मिथ्यादृष्टि ही धर्म के किसी अंग का भी सेवन करने में अपनी ख्याति-लाभ और पूजा का आशय रखता है अर्थात् धर्म में भी माया अर्थात् छल करता है।।४४।।

(५) जो जीव क्रोधादि कषायों से संयुक्त होकर अपनी बड़ाई आदि के लिए धर्म का सेवन करते हैं उन्हें बड़ाई भी नहीं मिलती और कषाय संयुक्त होने से धर्म भी नहीं होता।।५५।।

(६) दूसरे जनों से प्रशंसा चाहने के लोभ से अर्थात् मुझे सब अच्छा कहेंगे-इस अभिप्राय से जिनसूत्र के विरुद्ध न बोलकर सूत्रानुसार ही यथार्थ उपदेश देना योग्य है।।५६।।

(७) केवल अज्ञान से कोई जीव यदि पदार्थ को अयथार्थ भी कहे तो आज्ञा भंग का दोष नहीं है परन्तु कषाय के योग से एक अंश मात्र भी अन्यथा कहे या करे तो अनंत संसारी होता है अतः धर्मार्थी पुरुषों को कषाय के वश से जिनाज्ञा भंग करना योग्य नहीं है और जिनको मानादि कषायों का पोषण ही करना हो उनकी कथा नहीं है।।९८।।

(८) कोई कहे कि 'तुम्हें राग-द्वेष है इसलिए तुम ऐसा उपदेश देते हो' तो उससे ऐसा कहा है कि 'किसी लौकिक प्रयोजन और राग-द्वेष की पुष्टि के लिये हमारा उपदेश नहीं है, केवल धर्म के लिए सुगुरु और कुगुरु के ग्रहण-त्याग कराने का हमारा प्रयोजन है'।।१०४।।

(९) इस निकृष्ट काल में धर्मार्थी होकर धर्म सेवन करना दुर्लभ है। लौकिक प्रयोजन के लिए जो धर्म का सेवन करते हैं सो नाममात्र सेवन करते हैं, धर्म सेवन का गुण जो वीतराग भाव उसको वे नहीं पाते सो ऐसे जीव बहुत ही हैं।।११२।।

(१०) जो जीव लौकिक प्रयोजन साधने के लिये पाप करते हैं वे तो पापी ही हैं परन्तु जो बिना प्रयोजन ही अपनी मान कषाय को पोषने के लिये पंडितपने के गर्व से जिनमत के विरुद्ध उपदेश करते हैं वे महापापी हैं।।१२१।।

(११) अभिमान विष को उपशमाने के लिये अरिहंत देव एवं निर्ग्रंथ गुरुओं का स्तवन किया जाता है अर्थात् गुण गाये जाते हैं पर उससे भी मान का पोषण करना कि 'हम बड़े भक्त और बड़े ज्ञानी हैं तथा हमारा बड़ा चैत्यालय है आदि' सो यह उनका अभाग्य है।।१४४।।



ज्ञानी-अज्ञानी

(१) गृह व्यापार के परिश्रम से खेदखिन्न कितने ही अज्ञानी जीवों का तो विश्राम स्थान एक स्त्री ही है परन्तु ज्ञानी जीवों का जिनभाषित श्रेष्ठ धर्म ही विश्राम का स्थान है।।गाथा २०।।

(२) उदर भरकर अपनी पर्याय तो ज्ञानी-अज्ञानी दोनों ही पूरी करते हैं परन्तु उनकी क्रिया के फल में अन्तर तो देखो कि अज्ञानी तो अत्यन्त आसक्तपने के कारण नरक जाकर वहाँ के दुःख भोगता है और ज्ञानी भेदविज्ञान के बल से कर्मों का नाश कर शाश्वत सुखी हो जाता है।।२१।।

(३) शुद्ध गुरु के मुख से शास्त्र सुने तो श्रद्धानपूर्वक धर्म में रुचि होती है पर अश्रद्धानी के मुख से शास्त्र सुनने पर श्रद्धान निश्चल नहीं होता।।२२।।

(४) जो अत्यंत पापी जीव हैं वे तो धर्म के पर्वों में भी पाप में तत्पर होते हैं परन्तु जो ज्ञानी धर्मात्मा हैं, निर्मल श्रद्धानी हैं वे जीव किसी भी पाप पर्व में धर्म से चलायमान नहीं होते।।२९।।

(५) जिन अज्ञानियों के मिथ्यात्वादि मोह का तीव्र उदय है उनके कुगुरुओं की भक्ति-वंदना रूप अनुराग होता है परन्तु भव्य जीवों की वीतरागी सुगुरुओं पर तीव्र प्रीति होती है।।४१।।

(६) निर्मल श्रद्धावान ज्ञानी सज्जनों की संगति से निर्मल आचरण सहित धर्मानुराग बढ़ता है और वही धर्मानुराग अशुद्ध मिथ्यादृष्टि अज्ञानियों की संगति से दिन-दिन प्रति प्रवीण पुरुषों का भी हीन हो जाता है।।४७।।

(७) जिस स्थान पर जैन सिद्धान्त का ज्ञानी गृहस्थ तो असमर्थ हो और अज्ञानीजन समर्थ हों वहाँ धर्म की उन्नति नहीं होती और धर्मात्मा जीव अनादर ही पाता है।।४९।।

(८) कई अज्ञानी जीव जिनमत की अवज्ञा करते हैं जिससे नरकादि के घोर दुःख पाते हैं और ज्ञानियों के हृदय उन दुःखों का स्मरण करके भय से थरथर काँपते हैं।।६९।।

(९) कितने ही जीव तो कुलक्रम में आसक्त हैं, जैसा बड़े करते आये वैसा करते हैं, कुछ निर्णय नहीं कर सकते और कितने ही जीव जिनवाणी के अनुसार निर्णय करके जिनधर्म को धारण करते हैं सो इन दो प्रकार के जीवों के अन्तरंग में देखो कि कितना बड़ा अन्तर है ! ये बाह्य में तो एक जैसे दिखते

हैं पर इनके परिणामों में बहुत ज्यादा अंतर है।।७४।।

(१०) मिथ्यात्व का सेवन करने वाले अज्ञानियों को सैकड़ों विघ्न आते हैं तो भी पापी जीव कुछ नहीं कहते परन्तु दृढ़ सम्यक्त्वी ज्ञानियों को पूर्व कर्म के उदय से यदि विघ्न का एक अंश भी आ जाता है तो उसे धर्म का फल प्रकट कर कहते हैं।।८४।।

(११) ज्ञानी जीव को विघ्न भी उत्सव और अज्ञानी को परम उत्सव भी महा विघ्न है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव को पूर्व कर्म के उदय से यदि कोई उपसर्ग आदि भी आ जाये तो वहाँ उसकी श्रद्धा निश्चल रहने से पाप कर्म की निर्जरा होती है और पुण्य का अनुभाग बढ़ जाता है जिससे उसे भविष्य में महान सुख होगा अतः उसे विघ्न भी उत्सव के समान है जबकि मिथ्यात्व सहित जीव के किसी पूर्व पुण्य कर्म के उदय से वर्तमान में तो सुख सा दिखाई देता है पर उसे वह अत्यंत आसक्तिपूर्वक भोगता है जिससे उसके तीव्र पाप का बंध होने से आगामी नरकादि का महान दुःख ही होता है अतः मिथ्यादृष्टि को उत्सव भी विघ्न के समान है।। ८५।।

(१२) सम्यक्त्व रूपी रत्नराशि से सहित ज्ञानी पुरुष धन-धान्यादि वैभव से रहित होने पर भी वास्तव में वैभव सहित ही हैं और सम्यक्त्व से रहित अज्ञानी पुरुष धनादि सहित हों तो भी दरिद्र हैं।।८८।।

(१३) ज्ञानी सम्यग्दृष्टि को धर्मकार्य के समय में यदि कोई व्यापारादि का कार्य आ जाये जो वह उसे दुःखदायी जान धर्मकार्य को छोड़कर पाप कार्य में नहीं लगता है यह ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है तथा जिसको धर्मकार्य तो रुचता नहीं, जैसे-तैसे उसे पूरा करना चाहता है और व्यापारादि को रुचिपूर्वक करता है सो यह ही मिथ्यादृष्टि का चिन्ह है-ऐसा जानना।।८९।।

(१४) कोई जीव आगम रहित तपश्चरण आदि क्रियाओं का आडम्बर अधिक करते हैं सो उससे अज्ञानी मूर्ख जीव तो रंजायमान होते हैं परन्तु ज्ञानियों के द्वारा तो वह निन्दनीय ही है।।१००।।

(१५) ज्ञानी जीव ही धर्म के स्वरूप को जानते हैं, अज्ञानी नहीं।।११७।।

(१६) जो जीव नीचे गिरने रूप आलम्बन को ग्रहण करते हैं अर्थात् अणुव्रत-महाव्रतादि रूप ऊपर की दशा का त्याग करके निचली दशा जिनको रुचती है वे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही हैं और जिनका मन ऊपर चढ़ने रूप सीढ़ी पर रहता है अर्थात् सम्यक्त्वादि ऊपर का धर्म धारण करने का जिनका भाव रहता है वे ज्ञानी सम्यग्दृष्टि हैं।।१४२।।

दृष्टान्त

(१) **जिस प्रकार** कोई वेश्यासक्त पुरुष अपना धन ठगाता हुआ भी हर्ष मानता है **उसी प्रकार** मिथ्या वेषधारियों के द्वारा ठगाया हुआ जीव अपनी धर्म रूपी निधि के चले जाने पर भी उन वेषधारियों को धर्म के लिए हर्षित हो-होकर पूजता है।।गाथा ५।।

(२) **जिस प्रकार** चमड़े को खाने वाले कुत्ते के मुख में कपूर डालने वाला मूर्ख होता है **उसी प्रकार** खोटे आग्रह रूपी पिशाच के द्वारा गृहीत जीव को धर्मोपदेश देने वाला मूर्ख होता है।।१३।।

(३) **जिस प्रकार** पापी राजा का उदय होने पर न्यायवान जीवों का सदाचारपूर्वक रहना दुर्लभ होता है **उसी प्रकार** मिथ्यात्व के तीव्र उदय में निर्मल सम्यक्त्व का कहना भी दुर्लभ होता है।।१७।।

(४) **जिस प्रकार** लोक में श्रेष्ठ मणि से सहित भी सर्प विघ्न का कर्ता होने से त्याज्य होता है **उसी प्रकार** सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देने वाला पुरुष क्षमादि बहुत गुणों और व्याकरणादि अनेक विद्याओं का स्थान होने पर भी त्याज्य होता है।।१८।।

(५) **जिस प्रकार** एक भेड़ कुएँ में गिरती है तो उसके पीछे चली आने वाली सभी भेड़ें गिरती जाती हैं, कोई भी विचार नहीं करतीं **उसी प्रकार** कोई एक अज्ञानी जीव किसी कुगुरु को मानता है तो उसके अनुसार सभी मानने लगते हैं, कोई भी गुण-दोष का निर्णय नहीं करता।।३८।।

(६) **जिस प्रकार** कुलवधू कभी भी वेश्याओं के चरित्र की प्रशंसा नहीं करती **उसी प्रकार** मूर्खों को प्रसन्न करने के लिए मिथ्यादृष्टियों के विपरीत आचरण की प्रशंसा कभी भी नहीं करनी चाहिए।।५८।।

(७) **जिस प्रकार** कोई उत्तम कुलवधू व्यभिचार का सेवन करके अपने शील को तो मलिन करती है और कुल का नाम लेकर कहती है कि 'मैं कुलीन हूँ' **उसी प्रकार** कुगुरु मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी कहते हैं कि 'हम सुगुरु के शिष्य हैं'।।७२।।

(८) **जिस प्रकार** अत्यन्त कीचड़ में फँसी हुई गाड़ी को कोई बड़े बलवान वृषभ ही निकालते हैं **उसी प्रकार** इस लोक में मिथ्यात्व से अपने कुटुम्ब को कोई उत्तम विरले पुरुष ही निकालते हैं।।७९।।

(९) **जिस प्रकार** पृथ्वीतल पर प्रकट दैदीप्यमान सूर्य भी मेघ से आच्छादित होने पर लोगों को दिखाई नहीं देता **उसी प्रकार** प्रकट जिनदेव भी मिथ्यात्व के उदय में जीवों को दिखाई नहीं देते।।८०।।

(१०) **जिस प्रकार** कल्पवृक्ष की समानता अन्य कोई वृक्ष नहीं कर सकता **उसी प्रकार** शुद्ध जिनधर्म का उपदेश देने वाले की समानता अन्य धन-धान्यादि पदार्थों को देने वाला नही कर सकता।।१०१।।

(११) **जिस प्रकार** सूर्य का प्रकाश हो जाने पर भी उल्लुओं का अंधत्व नष्ट नहीं होता **उसी प्रकार** सुगुरु के वचन रूपी सूर्य का तेज मिलने पर भी कई जीवों का मिथ्यात्व अंधकार नष्ट नहीं होता।।१०८।।

(१२) **जिस प्रकार** का यह कार्य है कि पहले तो ऊपर पर्वत से गिरना और फिर लाठी से सिर में घाव हो जाना **उसी प्रकार** का ही यह भी कार्य है कि एक तो प्रियजन के मरण का दुःख होना और दूसरा उसके शोक में अपने को नरक में पटकना।।१११।।

(१३) **जिस प्रकार** प्रकटपने सारे अंग सहित गाड़ी भी एक धुरी के बिना नहीं चलती **उसी प्रकार** धर्म का बड़ा आडंबर भी सम्यक्त्व के बिना फलीभूत नहीं होता।।११६।।

(१४) **जिस प्रकार** घोर बंदीखाने में पड़ा जीव दूसरों को छुड़ाकर सुखी नहीं कर सकता **उसी प्रकार** मिथ्यात्व एवं कषायों के द्वारा स्वयं अपना घात करने वाला जीव अन्य जीवों पर करुणा नहीं कर सकता।।११८।।

(१५) **जिस प्रकार** महावीर स्वामी का जीव मारीचि जैन सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देने के कारण अति भयानक भव-वन में कोड़ाकोड़ी सागर तक घूमा **उसी प्रकार** जिनाज्ञा भंग करके अपनी पंडिताई से अन्यथा कहने वाले जीव अभिमान से अपने को पंडित मानते हुए नरक में डूब जाते हैं।।१२२-१२४।।

(१६) **जिस प्रकार** लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि यदि कोई राजादि की सेवा करके उससे फल चाहता है तो उसकी आज्ञा प्रमाण चलता है और उसकी सेवा तो करे परन्तु आज्ञा नहीं माने तो उसे फल नहीं मिलता **उसी प्रकार** यदि तुम जिनदेव की आराधना करके उसका फल चाहते हो तो जिनेन्द्र की आज्ञा प्रमाण चलना और यदि आज्ञा को प्रमाण नहीं करोगे तो आराधना का फल जो मोक्षमार्ग वह पाना दुर्लभ है।।१३२।।

मोह का माहात्म्य

(१) रक्ताम्बर, पीताम्बर, हंस एवं परमहंस आदि मिथ्या वेषों के धारकों को धर्म के लिये हर्ष से पूजता है-वंदता है और उससे जो सम्यग्दर्शन की हानि होती है उसको जानता नहीं है सो **यह मोह का माहात्म्य है।**।गाथा ५।।

(२) प्रयोजन के लोभ से पुत्रादि स्वजनों के मोह को तो ग्रहण करता है अथवा स्वजनों के व्यामोह में धन को तो लोभ से ग्रहण करता है परन्तु रमणीक जिनधर्म को ग्रहण नहीं करता। अहो! **यह मोह का माहात्म्य है।**।१९।।

(३) यदि कोई रोटी का एक टुकड़ा भी मांगता है तो प्रवीणता रहित बावला कहलाता है पर कुगुरु के द्वारा नाना प्रकार के परिग्रह की याचना किये जाने पर भी लोग उसे प्रवीण कहते हैं सो **यह मोह का माहात्म्य है।**।३९।।

(४) जीव का कुगुरुओं के प्रति भक्ति-वंदना रूप जो अनुराग होता है **यह मोह का माहात्म्य है।**।४१।।

(५) मिथ्यात्व के सेवन से सैकड़ों विघ्न आते हैं उन्हें तो मूर्ख लोग गिनते भी नहीं परन्तु धर्म का सेवन करने वाले धर्मात्मा पुरुषों को पूर्व कर्म के उदय से यदि कदाचित्-किंचित् भी विघ्न आ जाये तो ऐसा कहते हैं कि यह विघ्न धर्म सेवन से आया है-ऐसी जो विवेकहीन विपरीत बुद्धि होती है सो **यह मोह का माहात्म्य है।**।८४।।

(६) अत्यन्त मान और मोह रूपी राजा के द्वारा ठगाये गये कई अधम मिथ्यादृष्टि सम्यक् शास्त्रों की भी निन्दा करते हैं और निन्दा करने से जो नरकादि के दुःख होते हैं उन्हें गिनते नहीं हैं सो **यह मोह का माहात्म्य है।**।९७।।

(७) साधर्मियों के प्रति तो अहितबुद्धि और बंधु-पुत्रादि में अनुराग सो **यह मोह का माहात्म्य है।**।१४७।।

(८) मिथ्यात्व की मजबूत गाँठ के कारण जिनवचनों को पा करके भी हित-अहित का विचार नहीं जगता और स्व-पर का विवेक उल्लसित नहीं होता सो **यह मोह का माहात्म्य है।**।१५३।।

विविध

(१) जिनद्रव्य जो चैत्यालय का द्रव्य उसे जो पुरुष अपने प्रयोग में लेते हैं वे जिनाज्ञा से पराङ्मुख अज्ञानी मोह से संसार समुद्र में डूबते हैं ।।गाथा १२।।

(२) मध्यम स्थिति वाले गुण-दोष तो अनुसंग (संगति) से होते हैं पर उत्कृष्ट पुण्य-पाप अनुसंग से नहीं होते। भोले जीवों को ही जैसा निमित्त मिले वैसे परिणाम होते हैं।।२८।।

(३) लक्ष्मी इन दो प्रकार की होती है-एक लक्ष्मी तो पुरुषों के भोगों मे लगने से पाप के योग से सम्यक्त्वादि गुण रूप ऋद्धि का नाश करती है और एक दान-पूजा में लगने से पुण्य के योग से सम्यक्त्वादि गुणों को हुलसायमान करती है सो पात्रदानादि धर्म कार्य में जो धन लगता है वह ही सफल है।।३०।।

(४) शुद्ध जिनमार्ग में जन्म लेने वाले जीव तो सुखपूर्वक शुद्ध मार्ग में चलते ही हैं परन्तु जिन्होंने अमार्ग में जन्म लिया है और मार्ग में चलते हैं सो आश्चर्य है।।८३।।

(५) यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरादि बड़े पुरुष इसको क्यों त्यागते अतः ज्ञात होता है कि संसार में महा दुःख है।।९४।।

(६) गुण और दोष को नहीं पहचानने वाले मूर्ख जीव पंडितों के उपर क्रोधादि करते ही हैं क्योंकि उन्हें उनके गुणों की परख नहीं है अथवा वे मूर्ख भी यदि क्रोधादि न करें और मध्यस्थ हों तो विष और अमृत का समानपना ठहर जाये सो है नहीं।।१०२।।

(७) संसार में पर्यायदृष्टि से कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है इसलिए शरीरादि के लिए वृथा पाप का सेवन करना और आत्मा का कल्याण नहीं करना-यह मूर्खता है।।१०९।।

(८) नष्ट हुए पदार्थों का शोक करके ऊँचे स्वर से रोते हुए जो सिर और छाती कूटता है वह अपनी आत्मा को नरक में पटकता है।।११०।।

(९) ऐसा वस्तुस्वरूप ही है कि जो पर्याय व्यतीत हो गई वह फिर नहीं आती अतः शोक में कुछ सार नहीं है। शोक एक तो वर्तमान में दुःख रूप है और दूसरे आगामी नरकादि दुःखों का कारण है।।१११।।

(१०) जो जीव वीर्यादि सत्त्व रहित हैं, धन तथा पुत्रादि स्वजनों में मोहित व लोभी हैं और शक्तिहीन हैं वे ही उदर भरने के लिए व्यापार में पापकर्म का सेवन करते हैं, शक्तिवान नहीं।।१२०।।

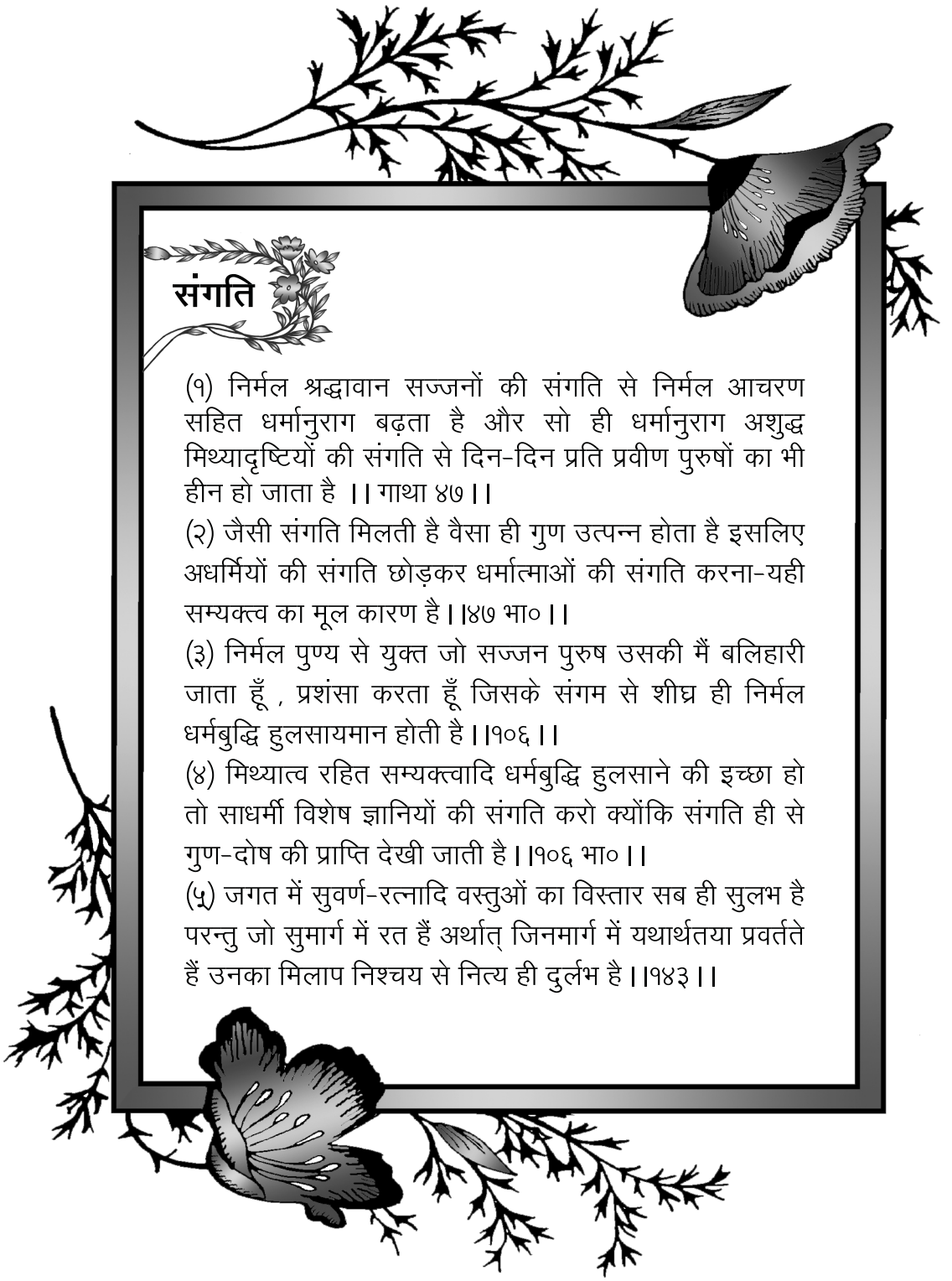

संगति

(१) निर्मल श्रद्धावान सज्जनों की संगति से निर्मल आचरण सहित धर्मानुराग बढ़ता है और सो ही धर्मानुराग अशुद्ध मिथ्यादृष्टियों की संगति से दिन-दिन प्रति प्रवीण पुरुषों का भी हीन हो जाता है ।। गाथा ४७ ।।

(२) जैसी संगति मिलती है वैसा ही गुण उत्पन्न होता है इसलिए अधर्मियों की संगति छोड़कर धर्मात्माओं की संगति करना-यही सम्यक्त्व का मूल कारण है ।।४७ भा० ।।

(३) निर्मल पुण्य से युक्त जो सज्जन पुरुष उसकी मैं बलिहारी जाता हूँ , प्रशंसा करता हूँ जिसके संगम से शीघ्र ही निर्मल धर्मबुद्धि हुलसायमान होती है ।।१०६ ।।

(४) मिथ्यात्व रहित सम्यक्त्वादि धर्मबुद्धि हुलसाने की इच्छा हो तो साधर्मी विशेष ज्ञानियों की संगति करो क्योंकि संगति ही से गुण-दोष की प्राप्ति देखी जाती है ।।१०६ भा० ।।

(५) जगत में सुवर्ण-रत्नादि वस्तुओं का विस्तार सब ही सुलभ है परन्तु जो सुमार्ग में रत हैं अर्थात् जिनमार्ग में यथार्थतया प्रवर्तते हैं उनका मिलाप निश्चय से नित्य ही दुर्लभ है ।।१४३ ।।

हस्तशिक्षा




आचार्य बुलाते हैं


इधर आओ, जरा सुनो


यह तुम्हारे लिए आत्महित का उत्तम अवसर है


थोड़ा समय तो उसके लिए निकालो


एक आत्मा ही का चिंतन-मनन करो


समय बड़ी तेजी से बीता जा रहा है


तुम्हारे हाथ में दुर्लभ मनुष्य पर्याय रूपी रत्न है


राग-द्वेष इन दो का परिहार करो

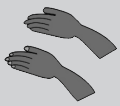
बहुत काल तो बीता


वृथा राग-रंग में उसे व्यर्थ मत होने दो


तीन रतन (रत्नत्रय) का आचरण करो


थोड़ी ही आयु बची है


और पैसा कमाना भी मनुष्य पर्याय का सार नही


चार आराधनाओं को आराधो


अब तो मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ करो



निमित्ताधीन दृष्टि छोड़कर मोक्षमार्ग का दरवाजा खोलो


पाँच इन्द्रिय विषयों का त्याग करो


प्राणिमात्र के प्रति मन में बंधी हुई गांठों को खोलो


यदि खोलोगे तो भविष्य अत्यंत उज्ज्वल है

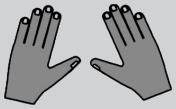
विषय-कषायों से अब बस हो


आपस में कषाय व वैमनस्य न करो


इस जीवन में फूल खिलेंगे


मोक्षमार्ग पर ही चलने की प्रतिज्ञा करो


भाईचारे की भावना रखो


और आगामी अपार एवं दुःख में भवसमुद्र से तिर जाओगे


संसार में मुट्ठी बाँधकर आये हो


मैत्री, प्रेम व वात्सल्य से चलो


कर्म बंधनों का नाश होकर मोक्ष प्राप्त होगा।


हाथ पसारकर जाना है


आपस में सहयोग जरूरी है


जय जिनेन्द्र देव की

शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

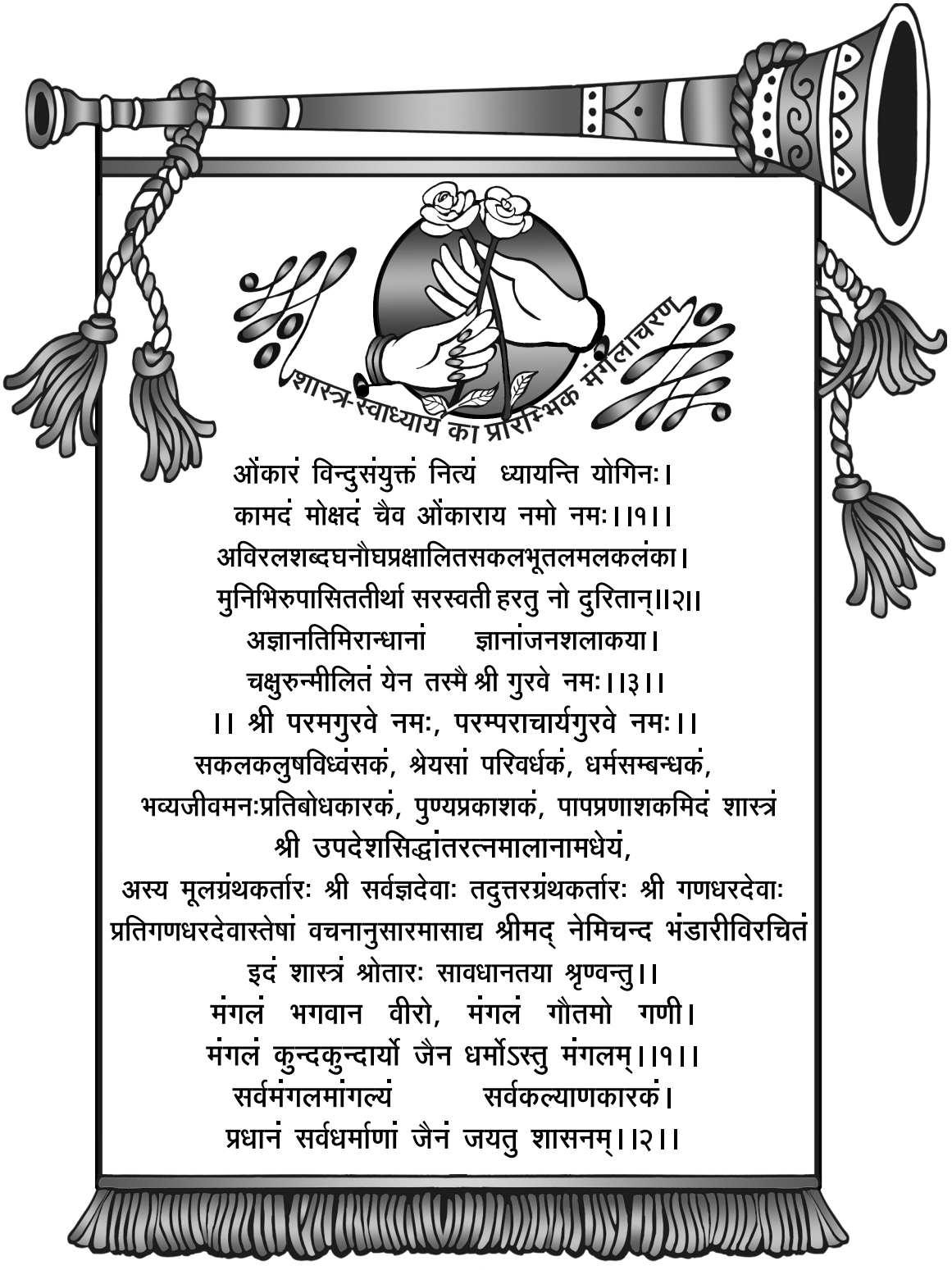

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः।।१।।
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलंका।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान्।।२।।
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानांजनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।३।।
।। श्री परमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरवे नमः।।
सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं,
भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं
श्री उपदेशसिद्धांतरत्नमालानामधेयं,
अस्य मूलग्रंथकर्तारः श्री सर्वज्ञदेवाः तदुत्तरग्रंथकर्तारः श्री गणधरदेवाः
प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्रीमद् नेमिचन्द भंडारीविरचितं
इदं शास्त्रं श्रोतारः सावधानतया श्रृण्वन्तु।।
मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।१।।
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्।।२।।

क या क हाँ

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	मंगलाचरण	२
२.	जिनेन्द्र की श्रद्धा की महिमा	३
३.	कुदेवों को नमन करने वाला ठगाया गया	३
४.	मृत्यु से रक्षक एक सम्यक्त्व ही है	४
५.	मिथ्यात्व की महिमा	५
६.	लोकप्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं	६
७.	न्याय कभी कुलक्रम से नहीं होता	६
८.	कुगुरु के निकट वैराग्य की असंभवता	७
९.	संयमी का संताप	८
१०.	मिथ्यात्व का दुष्कर फल	८
११.	उत्सूत्रभाषण से जिनाज्ञा का भंग	९
१२.	मन्दिर जी का द्रव्य बरतने वाला महापापी है	१०
१३.	दुराग्रही उपदेश का पात्र नहीं	११
१४.	जिनसूत्रभाषी व उत्सूत्रभाषी का विवेचन	११
१५.	जिनधर्म को कष्ट सहकर भी जान	१२
१६.	जिनमत का ज्ञान दुर्लभ है	१२
१७.	शुद्ध सम्यक्त्व को कहने वाले भी दुर्लभ हैं	१३
१८.	बहुत गुणवान भी उत्सूत्रभाषी त्याज्य है	१३
१९.	मोह का माहात्म्य	१४
२०.	विश्राम का वास्तविक स्थान धर्म ही है	१५
२१.	ज्ञानी-अज्ञानी की क्रिया-फल में अन्तर	१५
२२.	सम्यक्त्व सुगुरु के उपदेश से होता है	१६
२३.	किससे शास्त्र सुनना चाहिये	१६
२४.	सम्यक् कथा, उपदेश व ज्ञान की पहिचान	१७
२५.	जिनदेव को पाकर भी मिथ्यात्व क्यों नहीं जाता	१८
२६.	धार्मिक पर्वों के स्थापकों की प्रशंसा	१८
२७	हिंसक पर्वों के स्थापकों की निन्दा	१९

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
२८.	मध्यम गुण-दोष ही संगति से होते हैं	१६
२९.	उत्कृष्ट पुण्य–पाप संगति से नहीं होते	२०
३०.	धन के दो प्रकार	२०
३१.	पंचम काल में गुरु भाट हो गए हैं	२१
३२.	इस काल में जिनधर्म की विरलता क्यों	२२
३३.	देव-गुरु का यथार्थ स्वरूप पाना कठिन है	२२
३४.	जिनाज्ञारत जीव पापियों को सिरशूल हैं	२३
३५.	ग्रंथकर्ता के हृदय का आक्रन्दन	२४
३६.	कुगुरु के त्यागी को दुष्ट कहना मूर्खता है	२४
३७.	कुगुरु सेवन से सर्प का ग्रहण भला है	२५
३८.	अहो ! यह लोक भेड़चाल से ठगाया गया	२६
३९.	महा मोह की महिमा	२६
४०.	कुगुरु स्व-पर अहितकारी है	२७
४१.	सारिखे की सारिखे से प्रीति	२७
४२.	जिनधर्म विरल देखकर भी निर्मल श्रद्धान का होना	२८
४३.	इस काल के जीवों का पापोदय	२८
४४.	मिथ्यादृष्टि के लक्षण	२९
४५.	प्रत्येक धर्मकार्य जिनाज्ञा प्रमाण ही कर	२९
४६.	मिथ्यात्व संसार में डुबाने का कारण है	३०
४७.	संगति से धर्मानुराग की वृद्धि-हानि	३१
४८.	मिथ्यादृष्टियों के निकट मत बसो	३१
४९.	धर्मात्मा कहाँ पराभव पाता है	३२
५०.	अमार्गसेवी धनिक धर्मार्थी को पीड़ादायक	३२
५१.	मिथ्यावादी धर्मात्माओं का अनादर करते हैं	३२
५२.	धर्मात्माओं के आश्रयदाता जयवंत हैं	३३
५३.	धर्माधार देने वाला अमूल्य है	३३
५४.	सत्पुरुषों के गुणगान से कर्म गलते हैं	३४

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
५५.	कषायी व कीर्ति इच्छुक के धर्म नहीं होता	३४
५६.	उत्सूत्रभाषी के दुःख जिननाथ ही जानते हैं	३५
५७.	धीर पुरुष कदापि उत्सूत्रभाषी नहीं होते	३५
५८.	मिथ्यादृष्टियों की कदापि प्रशंसा न करना	३६
५९.	जिनाज्ञा भंग का किसे भय है, किसे नहीं	३६
६०.	जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान	३६
६१.	स्वधर्म में उपहास तो सर्वथा न करना	३७
६२.	शुद्ध हृदय वाले पुरुषों का स्वभाव	३८
६३.	विष उगलते हुए सर्प के प्रति भी करुणा	३८
६४.	गृहस्थ को सम्यग्दर्शन महा दुर्लभ है	३८
६५.	उत्सूत्रभाषी भव समुद्र में डूब जाता है	३९
६६.	निर्मल श्रद्धान से लोकरीति में भी धर्मप्रवृत्ति	४०
६७.	जिनधर्म के सामने मिथ्या धर्म तृण तुल्य हैं	४०
६८.	अहो ! लोकमूढ़ता प्रबल है	४१
६९.	जिनमत की अवज्ञा न कर, दुःख मिलेगा	४१
७०.	सम्यक्त्व के बिना तू दोषी ही है	४१
७१.	शुद्ध जिनधर्म चाहिये तो मिथ्या आचरण छोड़	४२
७२.	आचरण से साध्य की सिद्धि, कुल से नहीं	४३
७३.	उत्सूत्र आचरण करने वाला श्रावक नहीं	४३
७४.	निर्णय करके धर्म धारण करना योग्य है	४४
७५.	मिथ्यादृष्टियों के धर्म का आचरण योग्य नहीं	४५
७६.	वीतरागी की अवहेलना के कार्य मत कर	४५
७७.	कुल को भव समुद्र में डुबाने वाला कौन	४६
७८.	मिथ्या पर्वों के आचरने वालों को सम्यक्त्व नहीं	४६
७९.	कुटुम्ब का मिथ्यात्व हरने वाले विरल हैं	४७
८०.	प्रकट भी जिनदेव की अप्राप्ति	४७
८१.	मिथ्यात्वरत का मनुष्य जन्म निष्फल है	४८

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
८२.	मात्र वेषी दूर से ही त्याज्य है	..... ४६
८३.	जिनमार्ग में चलने वाले अमार्गी प्रशंसनीय हैं	..... ४६
८४.	पापियों की विवेकहीन बुद्धि होती है	..... ४६
८५.	मिथ्यात्वयुत सुख से सम्यक्त्वयुत दुःख भला है	..... ५०
८६	दृढ़ सम्यग्दृष्टि इन्द्र द्वारा भी वंदनीय हैं	..... ५१
८७.	मोक्षार्थी किसी कीमत पर सम्यक्त्व नहीं छोड़ता	..... ५१
८८	सम्यग्दर्शन ही वास्तविक वैभव है	..... ५२
८९.	सम्यग्दृष्टि को धन से भी सार जिनपूजा है	..... ५३
९०.	जिनपूजन और कुदेवपूजन की तुलना	..... ५३
९१.	तत्त्वविद् की पहिचान	..... ५४
९२.	जिनाज्ञा के अनुसार धर्म करो	..... ५४
९३.	ढीठ, दुष्ट चित्त और सुभट कौन है	..... ५६
९४.	गुणवान के निश्चय से मोक्ष होता ही है	..... ५६
९५.	ऋद्धियों से उदास पुरुष ही प्रशंसनीय है	..... ५७
९६.	पूर्वाचार्य का आभार	..... ५७
९७.	शास्त्र की निन्दा दुःखों का कारण है	..... ५८
९८.	जिनाज्ञा के भंग से दुःखों की प्राप्ति	..... ५८
९९.	जिनवचन-विराधक को धर्म व दया नहीं होती	..... ५९
१००.	आगम रहित क्रिया आडम्बर निंद्य है	..... ६०
१०१.	शुद्ध धर्म का दाता ही परमात्मा है	..... ६०
१०२.	अविवेकी मध्यस्थ नहीं रह सकता	..... ६१
१०३.	धर्म के मूल वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र हैं	..... ६१
१०४.	जिनाज्ञा में रत ही हमारे धर्मार्थ गुरु हैं	..... ६२
१०५.	जिनवचनों से मंडित सब ही गुरु हैं	..... ६३
१०६.	सज्जनों की संगति की बलिहारी है	..... ६३
१०७.	गुणवान गुरुओं का सद्भाव आज भी है	..... ६४
१०८.	सुगुरु के उपदेश से भी किन्हीं के सम्यक्त्व नहीं	..... ६५

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१०६.	अज्ञानियों के ढीठपने को धिक्कार है	..... ६५
११०.	अत्यन्त शोक से नरक गमन होता है	..... ६६
१११.	शोक करना सर्वथा दुःखदायी है	..... ६६
११२.	आज धर्मार्थी सुगुरु व श्रावक दुर्लभ हैं	..... ६७
११३.	शुद्ध धर्म से धन्य पुरुषों को ही आनन्द	..... ६७
११४.	पाप को धर्म कहकर सेवन मत करो	..... ६८
११५.	जिनवचन में रमने वाले विरल हैं	..... ६८
११६.	सम्यक्त्व बिना सारा आचरण फलीभूत नहीं	..... ६९
११७.	अज्ञानियों पर ज्ञानियों का रोष नहीं होता	..... ६९
११८.	आत्म-वैरी की पर पे करुणा कैसे हो	..... ६९
११९.	पापयुक्त व्यापारों के त्यागी धन्य हैं	..... ७०
१२०.	मोही-लोभी के ही व्यापार में पाप का सेवन	..... ७०
१२१.	उत्सूत्रभाषी के पंडितपने को धिक्कार हो	..... ७१
१२२-१२४.	उत्सूत्रभाषी का भयानक संसार वन में भ्रमण	..... ७२
१२५.	तीव्र मिथ्यात्वी को हितोपदेश भी महा दोष रूप है	..... ७२
१२६.	अशुद्ध हृदयी को उपदेश देना वृथा है	..... ७३
१२७.	जिनधर्म के श्रद्धान से तीव्र दुःखों का नाश	..... ७३
१२८.	सुगुरु से धर्म श्रवण की भावना	..... ७४
१२९.	तत्त्वज्ञ को अदृष्ट भी ज्ञानी गुरु प्रिय हैं	..... ७४
१३०.	कुगुरु की सुगुरु से तुलना मत करो	..... ७५
१३१.	श्रद्धा बिना जिनदेव का वंदन-पूजन निष्फल	..... ७६
१३२.	पहिले जिनवचनों को मानो	..... ७६
१३३.	आज भी जो सम्यक्त्व में अडिग हैं वे धन्य हैं	..... ७७
१३४.	गुरु को परीक्षा करके जान	..... ७८
१३५.	शुद्ध गुरु की प्राप्ति सहज नहीं	..... ७९
१३६.	सच्चा गुरु ही मेरा शरण है	..... ७९

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१३७.	परमार्थ शक्य नहीं तो व्यवहार को ही जान	.....८०
१३८.	व्यवहार परमार्थ को साधने वाला है	.....८०
१३९.	गुरु को परीक्षा करके ही पूजना	.....८१
१४०.	शास्त्रानुसार परीक्षा करके ही गुरु को मानना	.....८१
१४१.	अज्ञानी गुरु के संग से ज्ञानी भी चलायमान	.....८२
१४२.	मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि में अन्तर	.....८३
१४३.	सुमार्गरत पुरुषों का मिलाप दुर्लभ है	..... ८४
१४४.	देव-गुरु की पूजा से मानपोषण दुश्चरित्र है	..... ८४
१४५.	लोकाचार में प्रवर्तने वाला जैन नहीं है	..... ८५
१४६.	जिननाथ की बात को मानने वाले विरल हैं	..... ८५
१४७.	साधर्मी के प्रति अहितबुद्धि वाला मिथ्यात्वी है	.....८६
१४८.	जिनदेव का ज्ञाता लोकाचार को कैसे माने	..... ८७
१४९.	मिथ्यात्व से ग्रस्त जीवों का कौन वैद्य है	..... ८७
१५०-१५१.	धर्मायतनों में भेद डालना जिनमत की रीति नहीं	..... ८ ८
१५२.	धर्मायतनों में भेद करने वाला गुरु नहीं	..... ८ ८
१५३.	मिथ्यात्व की गाँठ का माहात्म्य	..... ८ ९
१५४.	प्रभु वचनों की आसादना महादुःख का कारण है	..... ८ ९
१५५.	आत्मज्ञान बिना सुश्रावकपना नहीं	.....९०
१५६.	जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने का मनोरथ	.....९०
१५७.	प्रभु के चरणों में प्रार्थना	.....९१
१५८.	गुरु के बिना सुख कैसे हो	.....९१
१५९.	पंचम काल में श्रावक कहलाना भी आश्चर्य है	.....९२
१६०.	सम्यक्त्व प्राप्ति की भावना	.....९२
१६१.	अंतिम निवेदन-ग्रन्थाभ्यास की प्रेरणा	.....९३
१६२.	गाथा चित्रावली	..... ९७
१६३.	उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला के कुछ अनमोल रत्न	..... १५५

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

अथ

'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला'

नामक ग्रंथ की वचनिका लिखते हैंः–



पंच परम गुरु नमन करि, वंदूं श्री जिनवान।
जा प्रसाद सब अघ टरैं, उपजत सम्यग्ज्ञान[1]।।

'शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति हो'

इस प्रयोजन से अपने इष्ट देव को नमस्कार करके 'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' नामक प्राकृत गाथामय ग्रन्थ की देशभाषा में वचनिका लिखते हैं। इस ग्रन्थ में सत्यार्थ देव-गुरु-धर्म का श्रद्धान दृढ़ कराने वाले उपदेश रूपी रत्नों का संग्रह है और यही मोक्षमार्ग का प्रथम कारण है क्योंकि सच्चे देव-गुरु-धर्म की दृढ़ प्रतीति होने से जीवादि पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान-आचरण रूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है और तब ही इस जीव का परम कल्याण होता है इसलिए इस ग्रन्थ को अपना परम कल्याणकारी जानकर नित्य ही इसका अभ्यास करना योग्य है।

१. पाठान्तर-वीतराग सर्वज्ञ के, वंदौं पद सिवकार ।
जासु परम उपदेश मणि, माला त्रिभुवन सार।।

श्री
नेमिचंद भंडारी कृत





मंगलाचरण

अरहं देवो सुगुरु, सुद्धं धम्मं च पंच णवयारो।
धण्णाण कयत्थाणं, णिरंतरं वसइ हिययम्मि।।१।।

अर्थः- चार घातिया कर्मों का नाश करके अनंत ज्ञानादि को प्राप्त कर लिया है जिन्होंने ऐसे अरिहन्त देव, अंतरंग मिथ्यात्वादि तथा बहिरंग वस्त्रादि परिग्रह से रहित ऐसे प्रशंसनीय गुरु, हिंसादि दोष रहित जिनभाषित निर्मल धर्म और पंच परमेष्ठी वाचक पंच णमोकार मंत्र–ये चार पदार्थ, अपना कार्य जिन्होंने कर लिया है ऐसे उत्तम कृतार्थ पुरुषों के हृदय में निरन्तर बसते हैं।।

भावार्थः- मोक्षमार्ग की प्राप्ति अरिहन्तादि के निमित्त से ही होती है इसलिए निकट भव्य जीवों को इनके स्वरूप का विचार होता है। अन्य मिथ्यादृष्टियों को इनकी प्राप्ति होना दुर्लभ है।। १।।





जिनेन्द्र की श्रद्धा की महिमा

जइ ण कुणसि तवयरणं, ण पढसि ण गुणसि ददासि णो दाणं।
ता इत्तियं ण सक्कसि, जं देवो इक्क अरिहन्तो।। २।।

अर्थः- हे भाई! यदि अपनी शक्ति की हीनता के कारण तू तपश्चरण नहीं करता है, विशेष अध्ययन नहीं करता है, न ही विचार करता है तथा दान भी नहीं करता है तो ये सब कार्य तू भले ही मत कर परन्तु एक सर्वज्ञ वीतराग देव की श्रद्धा तो दृढ़ रख क्योंकि जिस कार्य को करने के लिये अकेले एक अरिहन्त देव समर्थ हैं उस कार्य को करने के लिये ये तपश्चरणादि कोई भी समर्थ नहीं हैं।।

भावार्थः- जो पुरुष अपनी शक्ति की हीनता के कारण तपश्चरण आदि तो नहीं करता है परन्तु 'भगवान अरिहन्त देव ने जो कहा है वह ही सत्यार्थ है'—इस प्रकार अरिहन्त भगवान के मत का श्रद्धान करता है वह पुरुष मोक्षमार्गी ही है और अरिहन्त भगवान के मत की श्रद्धा किये बिना यदि घोर तपश्चरणादि करे तो भी विशेष फल नहीं मिलता इसलिये जितनी अपनी शक्ति हो उतना कार्य करना और जिस कार्य को करने की शक्ति नहीं हो उसका श्रद्धान करना। श्रद्धान ही मुख्य धर्म है—ऐसा जानना।। २।।

कुदेवों को नमन करने वाला ठगाया गया

रे जीव! भव दुहाइं, इक्कु चिय हरइ जिणमयं धम्मं।
इयराणं पणमंतो, सुह कज्जे मूढ! मुसिओसि।। ३।।





अर्थः- रे जीव ! जिनेन्द्रभाषित धर्म अकेला ही संसार के समस्त दुःखों को हरने वाला है इसलिए हे मूढ़मति ! सुख के लिये अन्य सरागी देवों को नमस्कार करता हुआ तू ठगाया गया है।।

भावार्थः- समस्त सुखों का कारण ऐसा जो जिनप्रणीत धर्म उसे प्राप्त करके भी जो मूर्ख प्राणी सुख के लिए अन्य सरागी देवों को पूजता है वह अपनी गाँठ के सुख को तो खो देता है और मिथ्यात्वादि के योग से पाप बंध करके नरकादि में उल्टे दुःख ही भोगता है।।३।।

मृत्यु से रक्षक एक सम्यक्त्व ही है

देवेहिं-दाणवेहिं ण, सुउ मरणाउ रक्खिओ कोवि।
दिढकय जिण सम्मत्तं, बहुविह अजरामरं पत्ता।।४।।

अर्थः- देव अर्थात् कल्पवासी देव और दानव अर्थात् भवनत्रिक–इनके द्वारा किसी जीव की मृत्यु से रक्षा हुई हो ऐसा आज तक सुनने में नहीं आया है परन्तु जिन्होंने जिनराज का सम्यक्त्व रूप श्रद्धान दृढ़ किया है ऐसे अनेक ही जीवों ने अजर–अमर पद पाया है।।

भावार्थः- इस जीव को समस्त भयों में मरण भय सबसे बड़ा भय है, उसे दूर करने के लिये ये सरागी देवादि को पूजता है परन्तु कोई भी देव इसे मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं है इसलिए सरागियों को पूजना–वंदना मिथ्याभाव है और रागद्वेष रहित सर्वज्ञ अरिहन्त देव





के श्रद्धान से मोक्ष की प्राप्ति होती है जिसमें यह जीव सदैव अविनाशी सुख भोगता है इसलिये जिनेन्द्र भगवान ही मरण का भय निवारण करते हैं–ऐसा जानना।।४।।

मिथ्यात्व की महिमा

जह कुवि वेस्सारत्तो, मुसिज्जमाणो वि मण्णए हरसं।
तह मिच्छवेस मुसिया, गयं पि ण मुणंति धम्मणिहिं।।५।।

अर्थः- जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष अपना धन ठगाता हुआ भी हर्ष मानता है वैसे ही मिथ्या वेषधारियों द्वारा ठगाते हुए जीव अपनी धर्म रूपी निधि के नष्ट होते हुए भी इस बात को मानते नहीं हैं, जानते नहीं हैं।।

भावार्थः- जिस प्रकार कोई वेश्यासक्त पुरुष तीव्र राग के उदय से अपना धन ठगाता हुआ भी हर्ष मानता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि जीव भी मिथ्यावेष के धारकों को धर्म के लिये हर्षित होकर पूजता है, नमस्कार आदि करता है और उससे सम्यग्दर्शन धर्म रूपी निधि की जो हानि होती है उसे वह जानता ही नहीं है–यह सब मिथ्यात्व की महिमा है।।५।।

आगे कोई कहता है कि 'हमारे तो इन मिथ्या वेषधारियों की सेवा कुलक्रम से चली आ रही है अथवा सारा लोक इनका सेवन करता है सो हम कुलधर्म को कैसे छोड़ दें ?' उन्हें आचार्य समझाते हैं:-





लोकप्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं

लोयपवाहे सकुले, कम्मम्मि जइ होदु मूढ धम्मुत्ति।
ता मिच्छाण वि धम्मो, धकाई अहम्म-परिवाडी।।६।।

अर्थः- हे मूढ़ ! यदि लोकप्रवाह[1] अर्थात् अज्ञानी जीवों द्वारा माने हुए आचरण में तथा अपने कुलक्रम[2] में ही धर्म हो तो म्लेच्छों के कुल में चली आई हुई हिंसा भी धर्म कहलायेगी तब फिर अधर्म की परिपाटी कौन सी ठहरेगी !।।

भावार्थः- लोकप्रवाह तथा कुलक्रम में धर्म नहीं है, धर्म तो जिनवर कथित वीतराग भाव रूप है सो यदि अपने कुल में सच्चा जिनधर्म भी चला आ रहा हो परन्तु उसे कुलक्रम जानकर सेवन करे तो वह भी विशेष फल का दाता नहीं है इसलिए जिनवाणी के अनुसार परीक्षापूर्वक निर्णय करके ही धर्म को धारण करना योग्य है।।६।।

न्याय कभी कुलक्रम से नहीं होता

लोयम्मि रायणीई, णायं ण कुल-कम्मम्मि कय आवि।
किं पुण तिलोयपहुणो, जिणिंद धम्माहि गारम्मि !।।७।।

अर्थः- लोक में भी राजनीति है कि न्याय कभी कुलक्रम से नहीं होता तो फिर क्या तीन लोक के प्रभु जो अरिहन्त परमात्मा हैं उनके धर्म में न्याय कुलक्रम के अनुसार होगा अर्थात् कभी भी नहीं होगा।।

१. अर्थ–भेड़चाल। २. अर्थ–कुल परिपाटी।





भावार्थः- लोक रीति ऐसी है कि राजा भी कुलक्रम के अनुसार न्याय नहीं करता। जैसे कोई बड़े कुल का मनुष्य हो और वह चोरी आदि अन्याय करे तो राजा उसे दण्ड ही देता है तब फिर विचार करो कि ऐसे अलौकिक उत्कृष्ट जैनधर्म में कुलक्रम के अनुसार न्याय कैसे होगा अर्थात् कभी नहीं होगा। यदि कोई बड़े आचार्यों के कुल का नाम करके पाप कार्य करेगा तो वह पापी ही है, गुरु नहीं–ऐसा जानना। ऐसे को गुरु मानना सर्वथा मिथ्यात्व का ही प्रभाव है।।७।।

कुगुरु के निकट वैराग्य की असंभवता

जिणवयण वियत्तूण वि, जीवाणं जं ण होइ भव-विरई।
ता कह अवियत्तूण वि, मिच्छत्त हयाण पासम्मि।।८।।

अर्थः- जब जिनवचनों को जानकर भी जीवों को संसार से उदासीनता नहीं होती तब फिर जिनवचनों से रहित मिथ्यात्व से मारे हुए जो कुगुरु हैं उनके निकट संसार से उदासीनता कैसे होगी अर्थात् नहीं होगी।।

भावार्थः- कितने ही अज्ञानी जीव संसार से छूटने के लिये कुगुरुओं का सेवन करते हैं उनको कहते हैं कि 'वीतराग भाव के पोषक जो जिनवचन हैं उन्हें जानकर भी कर्म के उदयवश संसार से उदासीनता नहीं उत्पन्न होती है तो फिर रागद्वेष एवं मिथ्यात्वादि को पुष्ट करने वाले जो परिग्रहधारी कुगुरु हैं उनके निकट रहने से वैराग्य कैसे उत्पन्न





होगा अर्थात् कभी उत्पन्न नहीं होगा अतएव कुगुरु को दूर ही से त्याग देना चाहिये'।। ८।।

संयमी का सन्ताप

विरयाणं अविरइए, जीवो दट्ठूण होइ मणतावो।
हा! हा! कह भव-कूवे, वूडंता पिच्छ णच्चंति।। ६।।

अर्थः- असंयमी जीवों को देखकर संयमी जीवों के मन में बड़ा सन्ताप होता है कि 'हाय! हाय!! देखो तो, संसार रूपी कुएँ में डूबते हुए भी ये जीव कैसे नाच रहे हैं !'।।

भावार्थः- मिथ्यात्व व कषाय के वशीभूत हुए अज्ञानी जीव संसार भ्रमण के कारण रूप कर्म को हँस–हँसकर बाँधते हैं। उन्हें देखकर श्री गुरुओं के हृदय में करुणा भाव उत्पन्न होता है कि 'ये जीव ऐसा कार्य क्यों करते हैं, वीतरागी होने का उपाय क्यों नहीं करते!'।। ६।।

आगे समस्त पापों में से मिथ्यात्व में अधिक पाप दिखाते हैं :-

मिथ्यात्व का दुष्कर फल

आरंभ जम्मि पावे, जीवा पावंति तिक्ख दुक्खाइं।
जं पुण मिच्छत्त लवं, तेण वि ण लहंति जिणबोहिं।। १०।।

अर्थः- व्यापारादि आरंभ से उत्पन्न हुआ जो पाप है उसके प्रभाव से जीव नरकादि के तीक्ष्ण दुःखों को प्राप्त करता है परन्तु यदि





मिथ्यात्व का एक अंश भी विद्यमान हो तो जीव सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र एवं तपमयी बोधि को प्राप्त नहीं कर पाता है।।

भावार्थः- कोई जीव व्यापारादि को छोड़कर जिनाज्ञा से विरुद्ध आचरण करता हुआ भी अपने को गुरु मानता है उसको कहते हैं कि 'व्यापारादि के आरंभ से जो पाप होता है उससे जीव नरकादि का दुःख तो पाता है पर उसे कदाचित् मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाती है परन्तु जिनवाणी के अश्रद्धान रूप मिथ्यात्व के एक अंश के भी विद्यमान रहते हुए मोक्षमार्ग अतिशय दुर्लभ होता है इस कारण से मिथ्यात्व सब पापों में बड़ा पाप है।।१०।।

उत्सूत्रभाषण से जिनाज्ञा का भंग

जिणवर आणा भंगं, उमग्ग-उस्सुत्त लेस देसणयं।
आणा भंगे पावं, ता जिणमयं दुक्करं धम्मं।।११।।

अर्थः- जिन आज्ञा का उल्लंघन करके उन्मार्ग–उत्सूत्र का जो अंश मात्र भी उपदेश देना है वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का भंग करना है और मार्ग का उल्लंघन करके प्रवर्तना है तथा जिन आज्ञा भंग करने में इतना अधिक पाप है कि उसे फिर जिनभाषित धर्म को पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है।।

भावार्थः- कषाय के वशीभूत होकर यदि कोई जिनवर की आज्ञा के अतिरिक्त एक अक्षर भी कहे तो उसमें इतना अधिक पाप होता है कि जिससे वह जीव निगोद चला जाता है। निगोद में जाने के





पश्चात् जिनधर्म को प्राप्त करना अतिशय कठिन हो जाता है इसलिए अपनी पद्धति बढ़ाने के लिये अथवा मानादि कषायों का पोषण करने के लिये जिनवाणी के सिवाय रंच मात्र भी उपदेश देना योग्य नहीं है।।११।।

मन्दिर जी का द्रव्य बरतने वाला महापापी है

जिणवर आणा रहिअं, वट्टारंता वि केवि जिणदव्वं।
वुड्डंति भव-समुद्दे, मूढा मोहेण अण्णाणी।।१२।।

अर्थः- कई पुरुष जिनाज्ञा रहित जिनद्रव्य अर्थात् मन्दिर जी के द्रव्य को अपने प्रयोग में लेते हैं वे अज्ञानी मोह से संसार समुद्र में डूबते हैं।।

भावार्थः- कई जीव मन्दिर जी के द्रव्य से व्यापार करते हैं और कई उधार लेकर आजीविका करते हैं वे जिनाज्ञा से पराङ्मुख हैं एवं अज्ञानी हैं। वे जीव महापाप बांधकर संसार में डूबते हैं[1]।।१२।।

१. टि०—सागर प्रति में इस गाथा का अर्थ व भावार्थ निम्न प्रकार दिया है :—
अर्थः- जिनवर की आज्ञा से रहित होकर कोई मूढ़ पुरुष जिनद्रव्य अर्थात् जिनमार्ग के द्रव्यलिंग रूप दिगम्बर वेष को धारण करता हुआ मिथ्यात्व से अज्ञानी रहता हुआ भव समुद्र में ही डूबता है।।

भावार्थः- जिनवर की आज्ञानुसार सम्यग्दर्शनादि धारण किये बिना जिनमार्ग के द्रव्यलिंग को धारण कर लेने मात्र से जीव का कल्याण नहीं होता। मोह से अज्ञानी मूढ़ जीव द्रव्यलिंग को धारण कर लेने पर भी संसार में ही भटकता है इसलिए प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने का उपदेश है। जिनमार्ग में पहिले सम्यक्त्व होता है पश्चात् मुनिव्रत होता है—ऐसा क्रम है।।१२।।





दुराग्रही उपदेश का पात्र नहीं

कुग्गहगह-गहियाणं, मुद्धो जो देइ धम्म उवएसो।
सो चम्मासी कुक्कुर, वयणम्मि खवेइ कप्पूरं।।१३।।

अर्थः- खोटे आग्रह रूपी ग्राह[1] से ग्रहे हुए जीवों को जो मूर्ख धर्मोपदेश देता है वह चमड़ा खाने वाले कुत्ते के मुख में कपूर को रखने जैसी चेष्टा करता है।।

भावार्थः- जिनके तीव्र मिथ्यात्व का उदय है उन्हें जिनवाणी रुचती नहीं है, इसी प्रकार यह भी जान लेना चाहिये कि जिन्हें जिनवाणी रुचती नहीं है उनके तीव्र मिथ्यात्व का उदय चल रहा है, वृथा उपदेश क्यों देता है!।।१३।।

जिनसूत्रभाषी व उत्सूत्रभाषी का विवेचन

रोसो वि खमाकोसो, सुत्तं भासंत जस्स धण्णस्स।
उस्सुत्तेण खमा वि य, दोस महामोह आवासो।।१४।।

अर्थः- जिनसूत्र के अनुसार उपदेश देने वाले उत्तम वक्ता का रोष भी करे तो वह क्षमा का भंडार है और जो पुरुष जिनसूत्र के विरुद्ध उपदेश देता है उसकी क्षमा भी रागादि दोष तथा मिथ्यात्व का ठिकाना है।।

१. अर्थ—मगर अथवा पिशाच।





भावार्थः- कोई सद्वक्ता यथार्थ उपदेश देता है और कारण के वश से वह क्रोध करके भी कहे तो उसका क्रोध भी क्षमा ही है क्योंकि उसका प्रयोजन जीवों को धर्म में लगाने का है और जो पुरुष अपनी पूजा व आजीविका आदि के लिए यथार्थ उपदेश नहीं देता वह अपना तथा दूसरों का अकल्याण करने वाला होने से उसकी क्षमा भी आशय के वश से दोष रूप ही है।।१४।।

जिनधर्म को कष्ट सहकर भी जान

इक्को वि ण संदेहो, जं जिणधम्मेण अत्थि मोक्खसुहं।
तं पुण दुव्विण्णेयं, अइ उक्किट्ठ पुण्णरसियाणं।।१५।।

अर्थः- 'जिनधर्म के सेवन से मोक्षसुख प्राप्त होता है'—इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है इसलिए जो पुरुष धर्म के अति उत्कृष्ट रस के रसिक हैं उन्हें यह जिनधर्म कष्ट करके भी जानना योग्य है।।

भावार्थः- जीव का हितकारी एक जिनधर्म ही है इसलिये अत्यन्त कष्ट करके भी इस जिनधर्म का स्वरूप जानना योग्य है। इसके सिवाय अन्य लौकिक वार्ताओं को सीखने में किसी भी प्रकार से आत्महित नहीं है, वे तो कर्म के अनुसार सभी के बन ही रही हैं।।१५।।

जिनमत का ज्ञान दुर्लभ है

सव्वं पि वियाणिज्जइ, लब्भइ तह चउरिमाय जणमज्झे।
एक्कं पि भाय ! दुलहं, जिणमयं विहि रयण सुविआणं।।१६।।





अर्थः- और लौकिक वार्ताओं को तो सभी जानते हैं तथा वैसे ही चौराहे पर पड़ा हुआ रत्न भी मिल सकता है परन्तु हे भाई! जिनेन्द्रभाषित धर्म रूपी रत्न का सम्यक् ज्ञान दुर्लभ है इसलिये जैसे भी बने वैसे जिनधर्म का स्वरूप जानना—यह तात्पर्य है।।१६।।

शुद्ध सम्यक्त्व को कहने वाले भी दुर्लभ हैं

मिच्छत्त बहुल उयरा, विसुद्ध सम्मत्त कहणमवि दुलहं।
जह वर णरवर चरियं, पाव णरिंदस्स उदयम्मि।।१७।।

अर्थः- मिथ्यात्व के तीव्र उदय में विशुद्ध सम्यक्त्व का कथन करना भी उसी प्रकार दुर्लभ हो जाता है जिस प्रकार पापी राजा के उदय में न्यायवान राजा का आचरण दुर्लभ होता है[1]।।

भावार्थः- इस निकृष्ट क्षेत्र—काल में मिथ्यादृष्टियों का तीव्र उदय होने से यथार्थ कथन करने वाले भी जब दुर्लभ हैं तो आचरण करने वालों का तो कहना ही क्या!।।१७।।

बहुत गुणवान भी उत्सूत्रभाषी त्याज्य है

बहुगुणविज्जाणिलओ, उस्सूत्तभासी तहा विमुत्तव्वो।
जह वरमणिजुत्तो वि हु, वि विग्घयरो विसहरो लोए।।१८।।

१. टि०—सागर प्रति में इस अन्तिम पंक्ति के स्थान पर यह पंक्ति है:—
'जिस प्रकार पापी राजा का उदय होने पर न्यायवान जीवों का सदाचारपूर्वक रहना दुर्लभ हो जाता है।'





अर्थः- सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देने वाला पुरुष भले ही क्षमादि बहुत से गुणों और व्याकरणादि अनेक विद्याओं का स्थान हो तो भी वह उसी प्रकार त्याग देने योग्य है जिस प्रकार लोक में श्रेष्ठ मणि सहित भी विषधर सर्प विघ्नकारी होने से त्याज्य ही होता है।।

भावार्थः- विद्या आदि का चमत्कार देखकर भी कुगुरुओं का प्रसंग नहीं करना चाहिये क्योंकि स्वेच्छाचारी उपदेश देने वाले का उपदेश सुनने से अपने श्रद्धानादि मलिन हो जाने से बहुत बड़ी हानि होती है।। १८।।

मोह का माहात्म्य

सयणाणं वामोहे, लोआ घिप्पंति अत्थ लोहेण।
णो घिप्पंति सुधम्मे, रम्मे हा! मोह माहप्पं।।१६।।

अर्थः- संसारी जीव प्रयोजन के लोभवश पुत्रादि स्वजनों के मोह को ग्रहण करते हैं परन्तु यथार्थ सुखकारी जैनधर्म को अंगीकार नहीं करते सो हाय! हाय!! यह मोह (मिथ्यात्व) का ही माहात्म्य है[1]।।

भावार्थः- समस्त जीव अपने को सुखी करना चाहते हैं किन्तु सुख का कारण जो जैनधर्म है उसका तो सेवन करते नहीं और पापबंध

१. टि०– इस गाथा का अर्थ इस प्रकार से भी हो सकता है–'संसारी जीव स्त्री आदि स्वजनों के व्यामोह में अर्थ अर्थात् धन को तो लोभ से ग्रहण करते हैं परन्तु रमणीक जिनधर्म को ग्रहण नहीं करते। अहो! यह मोह का माहात्म्य है।'





के कारण जो पुत्रादि हैं उनका स्नेह करते हैं–यह मोह का ही माहात्म्य है।।१६।।

विश्राम का वास्तविक स्थान धर्म ही है

गिहवावार परिस्सम, खिण्णाण णराण वीसमट्ठाणं।
एगाण होइ रमणी, अण्णेसिं जिणिंद वरधम्मो।।२०।।

अर्थः- गृह–व्यापार के परिश्रम से खेदखिन्न कितने ही अज्ञानी जीवों का विश्राम स्थान एक स्त्री ही है और ज्ञानी जीवों का तो जिनेन्द्रभाषित श्रेष्ठ धर्म ही विश्राम का स्थान है।।

भावार्थः- अज्ञानी जीव स्त्री आदि पदार्थों को ही सुख का कारण मानते हैं किन्तु ज्ञानी जीव तो वीतरागभाव रूप जैनधर्म को सुख का कारण मानते हैं।।२०।।

ज्ञानी-अज्ञानी की क्रिया-फल में अन्तर

तुल्ले वि उअर भरणे, मूढ अमूढाण पिच्छ सुविवागं।
एगाण णरय दुक्खं, अण्णेसिं सासयं सुक्खं।।२१।।

अर्थः- उदर भरने में समानता होने पर भी ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया के फल में अन्तर तो देखो–एक को तो नरक का दुःख प्राप्त होता है और दूसरे को शाश्वत सुख प्राप्त होता है।।

भावार्थः- उदर भरकर अपनी पर्याय तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही पूरी करते हैं परन्तु अज्ञानी तो अत्यन्त आसक्तपने के कारण नरक





जाता है और ज्ञानी भेदविज्ञान के बल से कर्मों का नाश करके सुखी हो जाता है अतएव विवेकी अर्थात् भेदविज्ञानी होना योग्य है–यह तात्पर्य है।।२१।।

आगे संसार से उदास होने रूप विवेक का उपाय बतलाते हैं :-

सम्यक्त्व सुगुरु के उपदेश से होता है

जिणमय कहापबंधो, संवेगकरो जियाण सव्वाणं।
संवेगो सम्मत्ते, सम्मत्तं सुद्ध देसणया।।२२।।

अर्थः- जिनभाषित जो कथाप्रबंध[1] हैं वे सब जीवों को संवेग रूप हैं, धर्म में रुचि कराने वाले हैं परन्तु संवेग सम्यक्त्व के होने पर होता है और सम्यक्त्व शुद्ध देशना अर्थात् सुगुरु के उपदेश से होता है।।

भावार्थः- शुद्ध निर्ग्रन्थ गुरु के मुख से जिनसूत्र सुने तो श्रद्धान–पूर्वक धर्म में रुचि होती है। अश्रद्धानी परिग्रहधारी गुरु के मुख से सुने तो श्रद्धान निश्चल नहीं होता–ऐसा तात्पर्य है।।२२।।

किससे शास्त्र सुनना चाहिये

तं जिण-आण-परेण य, धम्मो सोअव्व सुगुरु पासम्मि।
अह उचिओ सद्धाओ, तस्सुवएसस्स कहगाओ।।२३।।

अर्थः-अतएव जिन आज्ञा में परायण पुरुष को बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु के निकट ही शास्त्र श्रवण करना चाहिये

१. अर्थ–प्रथमानुयोग के शास्त्र।





और यदि ऐसे गुरु का संयोग न बने तो निर्ग्रन्थ गुरुओं के ही उपदेश को कहने वाले श्रद्धानी श्रावक से धर्म सुनना चाहिये।।

भावार्थः- शास्त्र श्रवण की पद्धति रखने के लिये जिस–तिस के मुख से शास्त्र नहीं सुनना, या तो निर्ग्रन्थ आचार्य के निकट सुनना या उन ही की आज्ञानुसार कहने वाले श्रद्धानी श्रावक के मुख से सुनना तब ही सत्यार्थ श्रद्धान रूप फल शास्त्र श्रवण से उत्पन्न होगा अन्यथा नहीं।। २३।।

सम्यक् कथा, उपदेश व ज्ञान की पहिचान

सा कहा सो उवएसो, तं णाणं जेण जाणइ जीवो।
सम्मत्त-मिच्छ भावं, गुरु-अगुरु लोय-धम्मठिदी।।२४।।

अर्थः- वही तो कथा है और वही उपदेश है और वही ज्ञान है जिसके द्वारा जीव सम्यक्–मिथ्या भाव को जान ले तथा गुरु–कुगुरु का स्वरूप जान ले तथा लोकरीति[1] और धर्म का स्वरूप जान ले।।

भावार्थः- जिनके द्वारा हित–अहित का ज्ञान हो ऐसे जैन शास्त्र ही सुनना, अन्य जो रागादि को बढ़ाने वाले मिथ्या शास्त्र हैं वे सुनने योग्य नहीं हैं।। २४।।

१. अर्थ–लोकमूढ़ता।





जिनदेव को पाकर भी मिथ्यात्व क्यों नहीं जाता

जिणगुण[1] रयण महाणिहि, लद्धूण वि किं ण जाइ मिच्छत्तं।
अह लद्धे वि णिहाणे, किवणाण पुणो वि दारिद्दं।।२५।।

अर्थः- जिनेन्द्र भगवान के गुण रूपी रत्नों का बड़ा भंडार प्राप्त करके भी मिथ्यात्व क्यों नहीं जाता है–यह महान आश्चर्य है अथवा निधान पा करके भी कृपण पुरुष तो दरिद्री ही रहता है, इसमें क्या आश्चर्य है।।

भावार्थः- जिनराज को पाकर भी यदि मिथ्यात्व भाव नहीं जाता है तो बड़ा आश्चर्य है अथवा जिसकी भली होनहार नहीं है उसका ऐसा ही स्वभाव है–ऐसा जानकर संतोष करना।।२५।।

आगे जिन्होंने सम्यक्त्व होने के कारण रूप धर्म पर्व स्थापित किये हैं उनकी प्रशंसा करते हैं :-

धार्मिक पर्वों के स्थापकों की प्रशंसा

सो जयउ जेण विहिआ, संवच्छर चाउमासिय सुपव्वा।
णिंदजणाण जायइ, जस्स पहावो धम्ममई।।२६।।

अर्थः- वे महापुरुष जयवन्त हों जिन्होंने उन सांवत्सरिक[2] तथा चातुर्मासिक अर्थात् दशलक्षण एवं अष्टान्हिका आदि धर्म के पर्वों का विधान किया जिनके प्रभाव से निन्दनीय–पापी पुरुष भी धर्मबुद्धि वाले हो जाते हैं।।

१. टि०–'जिणमय' शब्द समुचित जान पड़ता है जिसका अर्थ है–'जिनमत।'
२. अर्थ–वार्षिक।





भावार्थः- महारंभी जीव भी इन दशलक्षण आदि पर्वों में जिनमन्दिर जाकर धर्म का सेवन करते हैं इसलिए धर्मपर्वों के कर्ता पुरुष धन्य हैं।।२६।।

आगे मिथ्यात्व को प्रबल करने वाले पर्व जिन्होंने रचे उनकी निन्दा करते हैं :-

हिंसक पर्वों के स्थापकों की निन्दा

णामं पि तस्स असुहं, जेण णिद्दिट्ठाइं मिच्छपव्वाइ।
जेसिं अणुसंगाओ, धम्मीण वि होइ पावमई।।२७।।

अर्थः- जिन्होंने अधिक जलादि की हिंसा के कारण रूप तथा कंदमूल आदि का भक्षण और रात्रि भक्षण के पोषक मिथ्यात्व के पर्वों की स्थापना की उनका तो नाम भी लेना पाप बंध का कारण है क्योंकि उन मिथ्या पर्वों के प्रसंग से अनेक धर्मात्माओं की भी पापबुद्धि हो जाती है अर्थात् धर्मात्मा भी देखादेखी चंचल बुद्धि हो जाते हैं।।२७।।

मध्यम गुण-दोष ही संगति से होते हैं

मज्झट्ठिइ पुण ऐसा, अणुसंगेण हवंति गुणदोसा।
उक्किट्ठ पुण्ण पावा, अणुसंगेण ण घिप्पंति।।२८।।

अर्थः- इस प्रकार जो गुण और दोष प्रसंग से होते हैं वे मध्यम स्थिति रूप होते हैं क्योंकि उत्कृष्ट पुण्य–पाप प्रसंग से नहीं होते[1]।।

१. टि०–सागर प्रति में इस गाथा का अर्थ इस प्रकार दिया है:–
अर्थः- मध्यम स्थिति वाले जीवों को संगति से गुण–दोष हो जाते हैं परन्तु उत्कृष्ट परिणाम वाले जीवों को अनुसंग (संगति) से पुण्य–पाप नहीं होते।





भावार्थः- जो जीव तीव्र मिथ्यादृष्टि है उसे धर्म का निमित्त मिले तो भी उसकी धर्मबुद्धि नहीं होती, इसी प्रकार जो दृढ़ श्रद्धानी है उसे पाप का निमित्त मिलने पर भी पापबुद्धि नहीं होती किन्तु भोले अर्थात् मध्यम परिणाम वाले जीवों को जैसा निमित्त मिले वैसे परिणाम हो जाते हैं।।२८।।

यही बात फिर कहते हैं :-

उत्कृष्ट पुण्य–पाप संगति से नहीं होते

अइसय पावी जीवा, धम्मिय पव्वेसु ते वि पावरया।
ण चलंति सुद्ध धम्मा, धण्णा किवि पाव पव्वेसु।।२६।।

अर्थः- जो अत्यन्त पापी जीव हैं वे धर्म पर्वों में भी पाप में रत होते हैं और जो शुद्ध धर्मात्मा हैं अर्थात् निर्मल श्रद्धानी हैं वे किसी भी पाप पर्व में धर्म से चलित नहीं होते।।२६।।

अब धन को निमित्त के वश से गुण-दोष का कारण बतलाते हैं :-

धन के दो प्रकार

लच्छी वि हवइ दुविहा, एगा पुरिसाण खवइ गुणरिद्धिं।
एगाय उल्लसंती, अपुण्ण-पुण्णप्पभावाओ।।३०।।

अर्थः- लक्ष्मी भी दो प्रकार की होती है–एक तो विषय भोगों में लगने से पाप के योग से जीव की सम्यक्त्वादि गुण रूपी ऋद्धियों का नाश करती है और एक लक्ष्मी ऐसी है जो दान–पूजादि पुण्य





कार्यों में लगने से पुण्य के योग से सम्यक्त्वादि गुण रूप पवित्र भावों को उल्लसित अर्थात् हुलसायमान करती है अतएव जीव का जो धन सुपात्र को दान आदि धर्म कार्यों में लगता है वही सफल है–यह तात्पर्य है।।३०।।

आगे कई जन दान भी देते हैं परन्तु कुपात्र के योग से वह दान निष्फल ही जाता है ऐसा दिखाते हैं :-

पंचम काल में गुरु भाट हो गये हैं

गुरुणो भट्टा जाया, सद्दे थुणिऊण लिंति दाणाइं।
दोण्णि वि अमुणिय सारा, दूसम समयम्मि वुड्डंति।।३१।।

अर्थः- इस दुःखमा पंचम काल में गुरु तो भाट हो गये हैं जो शब्दों द्वारा दातार की स्तुति करके दान लेते हैं सो ये दाता और दान लेने वाले दोनों ही जिनमत के रहस्य से अनभिज्ञ होने से संसार समुद्र में डूबते हैं।।

भावार्थः- दाता तो अपने मानादि कषाय भावों का पोषण करने के लिए दान देता है और दान लेने वाला लोभी होकर दाता में अविद्यमान गुणों को भाट के समान गा–गाकर दान लेता है। इस प्रकार मिथ्यात्व और कषाय के पुष्ट होने से दोनों ही संसार में डूबते हैं और यहाँ 'पंचम काल में' कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार स्तुति करके दान लेने वाले अन्य मत में तो ब्राह्मण आदि पहिले से भी थे परन्तु अब जिनमत में भी अनेक वेषधारी भाट के समान स्तुति करके दान





लेने वाले हो गये हैं सो इस निकृष्ट काल में ही हुए हैं—ऐसा जानना।। ३१।।

इस काल में जिनधर्म की विरलता क्यों

मिच्छपवाहे रत्तो, लोओ परमत्थ जाणओ थोओ।
गुरुणो गारव रसिया, सुद्धं मग्गं णिगूहंति।।३२।।

अर्थः- मिथ्यात्व के प्रवाह में आसक्त जो लोक उसमें परमार्थ के जानने वाले तो बहुत थोड़े हैं और गुरु कहलाने वाले अपनी महिमा के रसिक हैं इसलिये वे शुद्ध मार्ग को छिपाते हैं।।

भावार्थः- धर्म का स्वरूप गुरु के उपदेश से जानने में आता है परन्तु इस काल में जो गुरु कहलाते हैं वे अपनी महिमा में आसक्त होने से यथार्थ धर्म का स्वरूप नहीं कहते इसलिए इस काल में जिनधर्म की विरलता हुई है।। ३२।।

देव-गुरु का यथार्थ स्वरूप पाना कठिन है

सव्वो वि अरह देवो, सुगुरु गुरु भणइ णाम मित्तेण।
तेसिं सरूव सुहयं, पुण्णविहूणा ण पावंति।।३३।।

अर्थः- अरिहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरु—ऐसा तो नाममात्र से सब ही कहते हैं परन्तु उनका यथार्थ सुखमय स्वरूप भाग्यहीन जीवों को प्राप्त नहीं होता।।

भावार्थः- नाममात्र से तो 'अरिहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरु' ऐसा





अन्य लोग भी कहते हैं परन्तु उनका यथार्थ स्वरूप नहीं जानते अतः जिनवाणी के अनुसार अरिहन्तादि का सच्चा स्वरूप अवश्य ही निश्चय करना चाहिये। इस कार्य में भोला रहना योग्य नहीं है।। ३३।।

जिनाज्ञारत जीव पापियों को सिरशूल हैं

सुद्धा जिण आणरया, केसिं पावाण हुंति सिरसूलं।
जेसिं ते सिरसूलं, केसिं मूढा ण ते गुरुणो।।३४।।

अर्थः- जिनराज की शुद्ध आज्ञा में तत्पर रहने वाले पुरुष कितने ही पापी जीवों को सिरशूल हैं अर्थात् यथार्थ जिनधर्मियों के आगे मिथ्यादृष्टियों का मत चलने नहीं पाता अतः वे इनको अनिष्ट भासेंगे ही और कई जीवों को वे मूर्ख गुरु नहीं, उनको वे सिरशूल हैं।।

भावार्थः- जो जीव मिथ्यादृष्टियों को गुरु नहीं मानते हैं, यथार्थ श्रद्धानी हैं उनको वे कुगुरु यथार्थ मार्ग का लोप करने वाले अनिष्ट लगते हैं कि ऐसे मिथ्यादृष्टियों का संयोग जीवों को कभी भी न हो[1]।। ३४।।

१. टि०—सागर प्रति में इस गाथा का अर्थ व भावार्थ ऐसे है :—

अर्थः- जिनराज की शुद्ध आज्ञा में तत्पर रहने वाले पुरुष कितने ही पापी जीवों को सिरदर्द के समान हैं क्योंकि यथार्थ जिनधर्मियों के पास मिथ्यादृष्टियों के मत चल नहीं पाते इसलिए वे इन्हें अनिष्ट लगते हैं। उन मूर्ख जीवों को वे ज्ञानी 'गुरु' नहीं, सिरदर्द के समान लगते हैं।।

भावार्थः- जो जीव मिथ्यादृष्टियों को गुरु मानते हैं वे यथार्थ श्रद्धावान को कुगुरु मानते है तथा उन्हें यथार्थ मार्ग का लोप करने वाले अनिष्ट समझते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टियों का संयोग जीवों को कभी न हो।। ३४।।





ग्रंथकर्ता के हृदय का आक्रन्दन

हा ! हा ! गुरुय अकज्जं, सामी णहु अत्थि कस्स पुक्करिमो।
कह जिणवयण कह सुगुरु, सावया कहय इदि अकज्जं।।३५।।

अर्थः- हाय ! हाय !! बड़ा अकार्य है कि प्रगट कोई स्वामी नहीं है, हम किसके पास जाकर पुकार करें कि 'जिनवचन तो किस प्रकार के हैं और सुगुरु कैसे होते हैं और श्रावक किस प्रकार के हैं' यह बड़ा अकार्य है।।

भावार्थः- जिनवचन में तो जिसके पास तिल–तुष मात्र भी परिग्रह न हो ऐसे परिग्रह रहित को 'गुरु' कहा गया है और सम्यक्त्वादि धर्म के धारक 'श्रावक' कहे गये हैं परन्तु इस समय इस पंचम काल में गृहस्थों से भी अधिक तो परिग्रह रखते हैं और अपने को गुरु मनवाते हैं तथा इसी प्रकार देव–गुरु–धर्म का व न्याय–अन्याय का तो कुछ ठीक नहीं है और अपने को श्रावक मानते हैं सो यह बड़ा भारी अन्याय–अकार्य है। 'अरे रे ! न्याय करने वाला कोई नहीं है, किससे कहें'–इस प्रकार आचार्य ने खेद प्रगट किया है।।३५।।

कुगुरु के त्यागी को दुष्ट कहना मूर्खता है

सप्पे दिट्ठे णासइ, लोओ ण हु किंपि कोई अक्खेइ।
जो चयइ कुगुरु सप्पं, हा ! मूढा भणइ तं दुट्ठं।।३६।।

अर्थः- अरे रे ! सर्प को देखकर लोग दूर भागते हैं तो उनको तो





कोई भी कुछ कहता नहीं पर जो कुगुरु रूपी सर्प का त्याग करते हैं उन्हें हाय ! हाय !! मूर्ख लोग दुष्ट कहते हैं—यह बड़े खेद की बात है।।

भावार्थः- सर्प से भी अधिक दुःखदायी कुगुरु हैं परन्तु सर्प का त्याग करने वाले को तो सभी लोग भला कहते हैं और जो कुगुरु को त्यागता है उसे मूर्ख जीव निगुरा, गुरुद्रोही अथवा दुष्ट इत्यादि वचनों से संबोधित करते हैं सो यह बड़ा खेद है।। ३६।।

अब कुगुरु में सर्प से भी अधिक दोष क्या है सो बताते हैं :-

कुगुरु सेवन से सर्प का ग्रहण भला

सप्पो इक्कं मरणं, कुगुरु अणंताई देइ मरणाई।
तो वर सप्पं गहिअं, मा कुरु कुगुरु सेवणं भद्द !।।३७।।

अर्थः- सर्प तो एक ही मरण देता है अर्थात् यदि कदाचित् सर्प डसे तो एक बार ही मरण होता है परन्तु कुगुरु अनंत मरण देता है अर्थात् कुगुरु के प्रसंग से मिथ्यात्वादि की पुष्टि होने से नरक–निगोदादि में जीव अनंत बार मरण को प्राप्त होता है इसलिये हे भद्र ! सर्प का ग्रहण करना तो भला है परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है, तू वह मत कर।। ३७।।





आगे लोगों की अज्ञानता दिखाते हैं :-

अहो ! यह लोक भेड़चाल से ठगाया गया

जिण-आणा वि चयंता, गुरुणो भणिऊण जे णमस्संति।
तो किं कीरइ लोओ, छलिओ गड्डरि-पवाहेण।।३८।।

अर्थः- जिनराज की आज्ञा तो यह है कि 'कुगुरु का सेवन मत करो, उनको छोड़ दो' उस आज्ञा का भी त्याग करके और कुगुरु को गुरु कहकर नमस्कार करते हैं सो क्या करें ! लोक गाडरी–प्रवाह अर्थात् भेड़चाल से ठगाया गया है।।

भावार्थः- जिस प्रकार एक भेड़ कुएँ में गिरती है तो उसके पीछे–पीछे चली आने वाली सभी भेड़ें कुएँ में गिरती जाती हैं, कोई भी हित–अहित का विचार नहीं करतीं उसी प्रकार कोई अज्ञानी जीव किसी एक कुगुरु को मानता है तो उसकी देखादेखी सभी लोग उसे मानने लग जाते हैं, कोई भी गुणदोष का निर्णय नहीं करता–यह अज्ञान की महिमा है।। ३८ ।।

महा मोह की महिमा

णिदक्खिणो लोओ, जइ कुवि मग्गेइ रुट्टिया खंडं।
कुगुरूणसंगवयणे, दक्खिणं हा ! महामोहो।।३६।।

अर्थः- यदि कोई रोटी का एक टुकड़ा भी माँगता है तो लोक में उसे प्रवीणता रहित बावला कहते हैं परन्तु कुगुरु नाना प्रकार के परिग्रहों की याचना करता है तो भी लोग उसे प्रवीण कहते हैं सो हाय ! हाय !! यह महा मोह का ही माहात्म्य है।। ३६ ।।





कुगुरु स्व-पर अहितकारी है

किं भणिमो किं करिमो, ताण हयासाण धिट्ठ दुट्ठाणं।
जे दंसिऊण लिंगं, खिंचंति णरयम्मि मुद्धजणं।।४०।।

अर्थः- आचार्य कहते हैं कि 'उन कुगुरुओं को हम क्या कहें और उनका क्या करें! वे कुगुरु लिंग अर्थात् बाह्य वेष दिखाकर भोले जीवों को नरक में खींचे ले जाते हैं। कैसे हैं वे कुगुरु? नष्टबुद्धि हैं अर्थात् कार्य–अकार्य के विवेक से रहित हैं तथा लज्जा रहित चाहे जो बोलते हैं अतः ढीठ हैं एवं धर्मात्माओं के प्रति द्वेष रखते हैं अतः दुष्ट भी हैं'।।

भावार्थः- कुगुरु अपने मिथ्या वेष से भोले जीवों को ठगकर कुगति में ले जाते हैं।।४०।।

सारिखे की सारिखे से प्रीति

कुगुरु विसंसि मोहं, जेसिं मोहाइ चंडिमा दट्ठं।
सुगुरूण उवरि भत्ती, अइ णिविडा होई भव्वाणं।।४१।।

अर्थः- जिनके मिथ्यात्वादि मोह का तीव्र उदय है उन्हें तो कुगुरुओं के प्रति भक्ति–वंदना रूप अनुराग होता है और भव्य जीवों को बाह्य–अभ्यंतर परिग्रह रहित सुगुरु के प्रति ही तीव्र प्रीति होती है।।

भावार्थः- जो जीव जैसा होता है उसकी वैसे ही जीव के साथ प्रीति होती है सो जो तीव्र मोही कुगुरु हैं उनके प्रति तो मोहियों की ही प्रीति होती है व वीतरागी सुगुरुओं के प्रति मंद मोही जीवों की प्रीति होती है–ऐसा जानना।।४१।।





जिनधर्म विरल देखकर भी निर्मल श्रद्धान का होना

जह जह उट्ठइ धम्मो, जह जह दुट्ठाण होइ अइ उदओ।
सम्मादिट्ठि जियाणं, तह तह उल्लसइ सम्मत्तं।।४२।।

अर्थः- जैसे–जैसे जिनधर्म हीन होता जाता है तथा जैसे–जैसे दुष्टों का अत्यंत उदय होता जाता है वैसे–वैसे ही सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व उल्लसित होता जाता है।।

भावार्थः- इस निकृष्ट काल में जिनधर्म की अवनति और मिथ्यादृष्टियों के सम्पदा का उदय देखकर दृढ़ श्रद्धानी जीवों को कभी भी ऐसी भावना नहीं होती कि इन मिथ्यादृष्टियों का धर्म भी भला है किन्तु उल्टे निर्मल श्रद्धान होता जाता है कि यह तो काल का दोष है, भगवान ने ऐसा ही कहा है।।४२।।

इस काल के जीवों का पापोदय

जइ जंतु जणणि तुल्ले, अइ उदयं जं ण जिणमए होइ।
तं किट्ठ काल संभव, जियाणं अइ पाव माहप्पं।।४३।।

अर्थः- छह काय के जीवों की रक्षा करने में माता के समान जो जिनधर्म, उसका भी यदि अत्यंत उदय नहीं होता है तो यह इस निकृष्ट काल में जन्मे हुए जीवों के अति पापोदय का ही माहात्म्य है।।

भावार्थः- इस निकृष्ट काल में भाग्यहीन जीव उत्पन्न होते हैं, उन्हें जिनधर्म की प्राप्ति अतिशय दुर्लभ है अतः दिनोंदिन जिनधर्म की विरलता दिखाई दे रही है पर जिनधर्म किसी प्रकार से भी हीन नहीं है।।४३।।





मिथ्यादृष्टि के लक्षण

धम्मम्मि जस्स माया, मिच्छत्त गाहा उस्सुत्ति णो संका।
कुगुरु वि करइ सुगुरु, दिउसो वि सपाव पुण्णोत्ति[1]।। ४४।।

अर्थः- जिन जीवों को धर्म के विषय में माया–छल है अर्थात् धर्म के किसी अंग का सेवन करते हैं तो उसमें अपनी ख्याति, लाभ–पूजादि का आशय रखते हैं; गाथा–सूत्रों का अर्थ मिथ्या मानते हैं अर्थात् गाथा–सूत्रों का यथार्थ अभिप्राय तो जानते नहीं और उल्टे मिथ्या अर्थ ग्रहण करते हैं; उत्सूत्र अर्थात् सूत्र के अतिरिक्त बोलने में जिन्हें शंका नहीं होती, यद्वा–तद्वा कहते हैं; पक्षपातवश कुगुरु को सुगुरु बतलाते हैं तथा पाप रूप दिवस को पुण्य रूप मानते हैं–ऐसे जीव मिथ्यादृष्टि हैं।। ४४।।

आगे धर्म कार्य भी यदि जिनाज्ञा से रहित करें तो उसमें दोष दिखलाते हैं :-

प्रत्येक धर्मकार्य जिनाज्ञा प्रमाण ही कर

किच्चं पि धम्म किच्चं, पूयापमुहं जिणिंद आणाए।
भूअ मणुग्गह रहियं, आणा भंगादु दुहदायं।। ४५।।

१. टि०–'दिउसो निस पाव पुण्णोत्ति' पाठ उपयुक्त जंचता है जिसका अर्थ है कि 'रात को तो दिन और पाप को पुण्य कहते हैं।' 'दिउसो' के स्थान पर 'उदओ' शब्द होने पर 'उदओ वि सपाव पुण्णोत्ति' पद का अर्थ होगा कि 'पाप के उदय (समय–दिन) को पुण्य का उदय कहते हैं।'





अर्थः- करने योग्य जो पूजा–प्रतिष्ठा आदि धर्म कार्य हैं वे भी जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा प्रमाण ही यथार्थ करने योग्य हैं क्योंकि यत्नाचार रहित जो कार्य हैं वे जिनाज्ञा के भंग होने से दुःखदायक ही हैं।।

भावार्थः- पूजनादि कार्यों का विधान जिस प्रकार से करने को जिनवाणी में कहा है उसी प्रमाण यत्नाचार सहित करना चाहिये, अपनी इच्छा के अनुसार यद्वा–तद्वा करना योग्य नहीं है।।४५।।

मिथ्यात्व संसार में डुबाने का कारण है

कट्ठं करोदि अप्पं, दमन्ति दव्वं चयंति धम्मत्थी।
इक्कं ण चयंति मिच्छत्तं, विसलवं जेण वुड्डंति।।४६।।

अर्थः- कई जीव धर्म के इच्छुक होकर कष्ट करते हैं, आत्मा का दमन करते हैं एवं द्रव्यों का त्याग भी करते हैं परन्तु एक मिथ्यात्व रूपी विष के कण को ही नहीं छोड़ते हैं और इसी कारण वे संसार में डूबते हैं।।

भावार्थः- कई जीव धर्म के इच्छुक होकर उपवासादि कार्य भी करते हैं परन्तु सच्चे देव–गुरु–धर्म की व जीवादि तत्त्वों की श्रद्धा का कुछ ठीक ही नहीं है तो उनसे कहते हैं कि 'सम्यक्त्व के बिना ये समस्त कार्य यथार्थ फल देने वाले नहीं हैं इसलिये प्रथम जिनवाणी के अनुसार श्रद्धान ठीक करना चाहिये'।।४६।।





संगति से धर्मानुराग की वृद्धि-हानि

सुद्धविहि धम्मराओ, वड्ढई सुद्धाण संगमे सुअणे।
सोवि य असुद्ध संगे, णिउणाणि वि गलइ अणुदीहं।।४७।।

अर्थः- निर्मल श्रद्धावान सज्जनों की संगति से निर्मल आचरण सहित धर्मानुराग बढ़ता है और वही धर्मानुराग अशुद्ध मिथ्यादृष्टियों की संगति से प्रवीण पुरुषों का भी प्रतिदिन घटते हुए हीन हो जाता है।।

भावार्थः- जैसी संगति मिलती है वैसे ही गुण उत्पन्न होते हैं इसलिए अधर्मी पुरुषों की संगति छोड़कर धर्मात्मा पुरुषों की संगति करनी चाहिये क्योंकि सम्यक्त्व का मूल कारण यही है।।४७।।

मिथ्यादृष्टियों के निकट मत बसो

जो सेवइ सुद्ध गुरु, असुद्ध लोआण सो महासत्तू।
तम्हा ताण सयासे, बलरहिओ मा वसिज्जासु।।४८।।

अर्थः- जो पुरुष बाह्य–अभ्यंतर परिग्रह रहित शुद्ध गुरुओं का सेवक है वह मिथ्यादृष्टि जीवों का महा शत्रु है इसलिए उसे उन मिथ्यादृष्टियों के निकट बलरहित होकर नहीं बसना चाहिए।।

भावार्थः- जिस क्षेत्र में मिथ्यादृष्टियों का बहुत जोर हो वहाँ धर्मात्मा पुरुषों को रहना उचित नहीं है, उन्हें तो जिनधर्मियों की संगति में ही रहना उचित है–यह उपदेश है।।४८।।





धर्मात्मा कहाँ पराभव पाता है

समयविओ असमत्था, सुसमत्था जत्थ जिणमए अविओ।
तत्थ ण वड्ढइ धम्मो, पराहवं लहइ गुणरागी।। ४६।।

अर्थः- जहाँ पर जैन सिद्धांत का ज्ञाता गृहस्थ तो असमर्थ हो और अज्ञानी समर्थ हो वहाँ धर्म की उन्नति नहीं होती और धर्मात्मा जीव पराभव[1] ही प्राप्त करता है।।

भावार्थः- जहां कोई जिनवाणी का मर्म नहीं जानता हो वहाँ पर रहना उचित नहीं है।। ४६।।

अमार्गसेवी धनिक धर्मार्थी को पीड़ादायक

जं ण करइ अइ भावं, अमग्गसेवी समत्थओ धम्मे।
ता लद्धं अह कुज्जा, ता पीडइ सुद्ध धम्मत्थी।। ५०।।

अर्थः- जो धनादि संपदा से युक्त होने पर भी धर्म में अत्यन्त अनुराग नहीं करता वह कुमार्गी जीव प्राप्त धन को निष्फल गंवाता है और शुद्ध धर्म के इच्छुक जीवों को पीड़ा देता है।। ५०।।

मिथ्यावादी धर्मात्माओं का अनादर करते हैं

जइ सव्व सावयाणं, एगत्तं जंति मिच्छवायम्मि।
धमत्थि आण सुन्दर, ता कहण पराहवं कुज्जा।। ५१।।

१. अर्थ—अनादर।





अर्थः- मिथ्या कथन में एकांत को प्राप्त जो मिथ्यावादी हैं वे पुरुष समस्त श्रावक समूह में धर्म में स्थित धर्मात्माओं के प्रभाव का पराभव करने में उद्यमी होते हैं।। ५१।।

धर्मात्माओं के आश्रयदाता जयवंत हैं

तं जयइ पुरिसरयणं, सुगुणड्ढं हेमगिरि वर महग्घं।
जस्सासयम्मि सेवइ, सुविहि रउ सुद्ध जिणधम्मं।। ५२।।

अर्थः- भले आचरण में तत्पर पुरुष जिनके आश्रय से निर्मल जिनधर्म का सेवन करते हैं वे पुरुषों में रत्न समान पुरुषोत्तम जयवंत हैं। कैसे हैं वे सत्पुरुष? सम्यग्दर्शन आदि उत्तमोत्तम गुणों के धारक हैं और हेमगिरि[1] समान बड़ा उनका मूल्य है।।

भावार्थः- जिनकी सहायता से जिनधर्मी धर्म का सेवन करें वे पुरुष धन्य हैं क्योंकि साधर्मियों से प्रीति करना है सो सम्यक्त्व का अंग है।। ५२।।

धर्माधार देने वाला अमूल्य है

सुरतरु चिंतामणिणो, अग्घं ण लहंति तस्स पुरिसस्स।
जो सुविहि रय जणाणं, धम्माधारं सया देई।। ५३।।

अर्थः- जो पुरुष शास्त्राभ्यास आदि भला आचरण करने वाले जीवों को सदाकाल धर्म का आधार देता है और उनका निर्विघ्न शास्त्राभ्यास आदि होता रहे ऐसी सामग्री का मेल मिलाता है उस पुरुष का

१. अर्थ—स्वर्ण का मेरु पर्वत।





मूल्यांकन कल्पवृक्ष अथवा चिंतामणि रत्न से भी नहीं हो सकता है अर्थात् वह पुरुष उनसे भी महान है।।५३।।

सत्पुरुषों के गुणगान से कर्म गलते हैं

लज्जंति जाणि मोहं, सप्पुरिसाणि अय णाम गहणेण।
पुण तेसिं कित्तणाओ, अम्हाण गलंति कम्माइं।।५४।।

अर्थः- मैं ऐसा जानता हूँ कि जिनधर्मियों की सहायता करने वाले पुरुषों का नाम लेने मात्र से मोह कर्म लज्जायमान होकर मंद पड़ जाता है और उनका गुणगान करने से हमारे कर्म गल जाते हैं।।

भावार्थः- जिनधर्मियों का नाम लेने से जीव का कल्याण होता है।।५४।।

कषायी व कीर्ति इच्छुक के धर्म नहीं होता

आणा रहिअं कोहाइ, संजुअं अप्पसंसणत्थं च।
धम्मं सेवंताणं, णय कित्ती णेय धम्मं च।।५५।।

अर्थः- जो जीव जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा रहित और क्रोधादि कषायों सहित अपनी प्रशंसा के लिए धर्म का सेवन करते हैं उन्हें न तो यश ही मिलता है और न धर्म ही होता है।।

भावार्थः- जो जीव अपनी बड़ाई आदि के लिए धर्म का सेवन करते हैं उन्हें बड़ाई तो मिलती ही नहीं कषाय संयुक्त होने से धर्म भी नहीं होता अतः धर्म का सेवन निरपेक्ष होकर ही करना चाहिये।।५५।।





उत्सूत्रभाषी के दुःख जिननाथ ही जानते हैं

इयरजण संसणाए, धिद्धी उस्सूत्त भासिए ण भयं।
हा ! हा ! ताण णराणं, दुहाइ जइ मुणइ जिणणाहो।।५६।।

अर्थः- इतर जनों से प्रशंसा चाहने के लोभ से अर्थात् 'मुझे सब अच्छा कहेंगे' इस अभिप्राय से जो जिनसूत्र के विरुद्ध बोलने से नहीं डरते उन्हें धिक्कार है, धिक्कार है। हाय! हाय!! उन जीवों को परभव में जो दुःख होंगे उन्हें यदि जानते हैं तो केवली भगवान ही जानते हैं।।

भावार्थः- थोड़े से दिनों की मान–बड़ाई के लिये जो जीव अन्य मूर्खों के कहने से जिनसूत्र के विरुद्ध उपदेश देता है वह अनंत काल तक निगोदादि के दुःख पाता है इसलिये जिनसूत्र के अनुसार ही यथार्थ उपदेश देना योग्य है।।५६।।

धीर पुरुष कदापि उत्सूत्रभाषी नहीं होते

उस्सूत्त भासियाणं, बोही णासो अणंत संसारो।
पाणव्वए वि धीरा, उस्सूत्तता ण भासंति।।५७।।

अर्थः- जो जीव जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देते हैं उनके सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति रूपी बोधि का नाश हो जाता है और अनंत संसार बढ़ जाता है इसलिये प्राणों का नाश होते भी धीर पुरुष तो जिनसूत्र के विरुद्ध कदापि नहीं बोलते।।५७।।





मिथ्यादृष्टियों की कदापि प्रशंसा न करना

मुद्धाण रंजणत्थं, अविहि पसंसं कयावि ण करिज्जं।
किं कुलबहुणो कत्थ वि, थुणंति वेस्साण चरियाइं।। ५८।।

अर्थः- मूर्खों को प्रसन्न करने के लिए मिथ्यादृष्टियों के विपरीत आचरण की कदापि प्रशंसा करनी योग्य नहीं है क्योंकि कुलवधू क्या कभी भी वेश्याओं के चारित्र की प्रशंसा करती है अपितु कभी नहीं करती।। ५८।।

जिनाज्ञा भंग का किसे भय है वा किसे नहीं

जिण आणा भंगभयं, भवभयभीआण होइ जीवाणं।
भवभय अभीरुयाणं, जिण आणा भंजणं क्रीडा।। ५६।।

अर्थः- जो जीव संसार से भयभीत हैं उन्हें जिनराज की आज्ञा भंग करने का भय होता है और जिन्हें संसार का भय नहीं है उनके जिन आज्ञा भंग करना खेल है।। ५६।।

जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान

को असुआणं दोसो, जं सुअ सुहियाण चेयणा णट्ठा।
धिद्धि कम्माण जओ[1], जिणो वि लद्धो अलद्धत्ति।। ६०।।

अर्थः- जब जिनवाणी को समझने वाले भी नष्टबुद्धि होकर अन्यथा

१. टि०—'कम्माण जओ' के स्थान पर 'कम्माणुदओ' पाठ उचित प्रतीत होता है।





आचरण करने लगते हैं तब जिन्हें शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है उन्हें क्या दोष दें ! इसलिए कर्मोदय को धिक्कार हो ! धिक्कार हो !! क्योंकि उसके वश होने पर जीव को जिनदेव की प्राप्ति भी अप्राप्ति समान ही है।।

भावार्थः- जैनकुल में उत्पन्न हुए कितने ही जीव नाम मात्र के तो जैनी कहलाते हैं किन्तु वे जिनदेव के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते और कितने ही जीव शास्त्राभ्यास भी करते हैं परन्तु वे भी अच्छी तरह से उपयोग लगाकर देवादि के स्वरूप का निर्णय नहीं करते सो यह उनके तीव्र पाप का ही उदय है जो निमित्त मिलने पर भी वे यथार्थ जिनमत को नहीं पा सके।।६०।।

स्वधर्म में उपहास तो सर्वथा न करना

इयराण वि उवहासं, तमजुत्तं भाय कुलपसूआणं।
एस पुण कोवि अग्गी, जं हासं सुद्ध धम्मम्मि।।६१।।

अर्थः- हे भाई ! जो बड़े कुल में उत्पन्न हुए पुरुष हैं उन्हें औरों का भी उपहास करना उचित नहीं है फिर तुम्हारी यह कौन सी रीति है कि शुद्ध धर्म में हास्य करते हो !।।

भावार्थः- हास्य करना तो सर्वत्र ही पाप है परन्तु जो जीव धर्म में हास्य करते हैं उन्हें महापाप होता है।।६१।।





शुद्ध हृदय वाले पुरुषों का स्वभाव

दोसो जिणिंद वयणे, संतोसो जाण मिच्छपावम्मि।
ताणं पि सुद्ध हियया, परमहियं दाउमिच्छंति।। ६२।।

अर्थः- जिनको जिनेन्द्र के वचनों के प्रति तो द्वेष है और मिथ्यात्व पाप में हर्ष है–ऐसे जीवों को भी निर्मल चित्त वाले सत्पुरुष परम हित देने की इच्छा रखते हैं।।

भावार्थः- सज्जन पुरुष तो महा मिथ्यादृष्टियों के भी भले ही का उपदेश देते हैं परन्तु उनका भला होना न होना तो भवितव्य के आधीन है।। ६२।।

विष उगलते हुए सर्प के प्रति भी करुणा

अहवा सरल सहावो, सुअणा सव्वत्थ हुंति अवियप्पा।
छंडंति विसभराण वि, कुणंति करुणा दुहाहाणं।। ६३।।

अर्थः- अथवा सरल स्वभावी सज्जन पुरुष सभी जीवों के प्रति समान भाव रखते हैं, किसी का भी बुरा नहीं चाहते। वे तो विष के समूह को उगलते हुए सर्प के प्रति भी दयाभाव रखते हैं सो ऐसा सज्जनपना सम्यग्दृष्टियों में ही होता है।। ६३।।

अब सम्यग्दर्शन के होने का दुर्लभपना दिखाते हैं :-

गृहस्थ को सम्यग्दर्शन महा दुर्लभ है

गिहवावार विमुक्के, बहु मुणि लोए वि णत्थि सम्मत्तं।
आलंबण-णिलयाणं, सद्धाणं भाय! किं भणिमो।। ६४।।





अर्थः- हे भाई ! गृह–व्यापार रहित ऐसे बहुत से मुनियों को ही सम्यक्त्व नहीं होता तो घर–व्यापार में लीन गृहस्थों की तो हम क्या कहें ! उन्हें सम्यक्त्व होना तो महा दुर्लभ है।।

भावार्थः- कई अज्ञानी जीव अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर अभिमान करते हैं उनको आचार्य कहते हैं कि 'हे भाई ! पंच महाव्रत के धारी मुनि भी स्व–पर को जाने बिना द्रव्यलिंगी ही रहते हैं तो फिर गृहस्थों की तो क्या बात अतः जिनवाणी के अनुसार तत्त्वों के विचार में उद्यमी रहना योग्य है। थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करके अपने को सम्यक्त्वी मानकर प्रमादी होना योग्य नहीं है।। ६४।।

उत्सूत्रभाषी भव समुद्र में डूब जाता है

ण सयं ण परं कोवा, जइ जिअ उस्सुत्त-भासणं विहियं।
ता वुड्डसि णिज्झंतं, णिरत्थयं तव कुडाडोवं।। ६५।।

अर्थः- यदि तूने सूत्र का उल्लंघन करके ऐसा कथन करना प्रारम्भ कर दिया है कि जिसमें अपना भी कुछ हित नहीं है और पर का भी नहीं है तो हे जीव ! तू निःसन्देह भवसमुद्र में डूब गया और तेरा समस्त तपश्चरण आदि का आडंबर वृथा है।।

भावार्थः- कितने ही जीव व्रत–उपवासादि तपश्चरण तो करते हैं परन्तु जिनवचनों का श्रद्धान नहीं करते हैं सो उनका समस्त आडंबर वृथा है अतः सम्यक् श्रद्धानपूर्वक ही क्रिया करनी योग्य है।। ६५।।





निर्मल श्रद्धान से लोकरीति में भी धर्मप्रवृत्ति

जह जह जिणिंद वयणं, सम्मं परिणमइ सुद्ध हिययाणं।
तह तह लोयपवाहे, धम्मं पडिहाइ ण दुच्चरियं।। ६६।।

अर्थः- शुद्ध हृदय वाले पुरुषों को जैसे–जैसे जिनवचन भली प्रकार परिणमते हैं अर्थात् समझ में आते जाते हैं वैसे–वैसे लोकरीति में भी धर्म प्रतिभासित होता है और खोटा आचरण नहीं प्रतिभासित होता।।

भावार्थः- जीवों के जैसे–जैसे श्रद्धान निर्मल होता जाता है वैसे–वैसे लोक व्यवहार में भी उनकी धर्म रूप प्रवृत्ति होती जाती है और लोकमूढ़ता रूप खोटा आचरण छूटता जाता है।। ६६।।

जिनधर्म के सामने मिथ्या धर्म तृण तुल्य हैं

जाण जिणिंदो णिवसइ, सम्मं हिययम्मि सुद्धणाणेण।
ताण तिणं व विरायइ, मिच्छाधम्मो इमो सयलो।। ६७।।

अर्थः- जिन पुरुषों के हृदय में शुद्ध ज्ञान सहित जिनराज बसते हैं उन्हें अन्य समस्त मिथ्यादृष्टियों के धर्म तृण तुल्य तुच्छ भासित होते हैं।।

भावार्थः- जो जीव वीतराग देव के सेवक हैं उन्हें सरागियों द्वारा कहा गया मिथ्या धर्म तुच्छ भासता है, उनका अभ्युदय देखकर वे मन में आश्चर्य नहीं करते। वे यही जानते हैं कि यह विष मिश्रित भोजन है जो वर्तमान में तो भला दिखाई देता है किन्तु परिपाक में अतिशय हानिकारक है।। ६७।।





अहो ! लोकमूढ़ता प्रबल है

लोयपवाह-समीरण, उद्दण्ड पयण्ड लहरीए।
दिढ़ सम्मत्त महाबल, रहिआ गुरुआ वि हल्लंति।। ६८।।

अर्थः- लोकमूढ़ता के प्रवाह रूप उत्कट पवन की प्रचण्ड लहरों से दृढ़ सम्यक्त्व रूपी महाबल से रहित बड़े–बड़े पुरुष भी हिल जाते हैं।।

भावार्थः- समस्त मूढ़ताओं में लोकमूढ़ता ही प्रबल है जिससे बड़े–बड़े पुरुषों का भी श्रद्धान शिथिल हो जाता है इसलिये जैसे भी बने वैसे जिनमत का श्रद्धान दृढ़ करना और लोकरीति में मोहित नहीं होना। क्योंकि इसे सब लोग करते हैं इसलिये कुछ तो इसमें सार है–ऐसा न जानना।। ६८।।

जिनमत की अवज्ञा न कर, दुःख मिलेगा

जिणमय अवहीलाए, जं दुक्खं पावणंति अण्णाणी।
णाणीण संभरित्ता, भयेण हिययं थरत्थरइ।। ६९।।

अर्थः- कई अज्ञानी जीव जिनमत की अवज्ञा करते हैं और उससे नरकादि में घोर दुःख भोगते हैं, उन दुःखों का स्मरण करने से ही ज्ञानी पुरुषों का हृदय भय से थर–थर कांपता है।। ६९।।

सम्यक्त्व के बिना तू दोषी ही है

रे जीव अणाणीणं, मिच्छादिट्ठीण णिअसि किं दोसो!
अप्पा वि किं ण याणसि, ण जइ काट्ठण्ण सम्मत्तं।। ७०।।





अर्थः- हे जीव ! तू अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के दोषों का क्या निश्चय करता है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं हीं, तू अपने को ही क्यों नहीं जानता ? यदि तुझे निश्चल सम्यक्त्व नहीं हुआ है तो तू भी तो दोषी ही है इसलिये जिनवाणी के अनुसार श्रद्धान दृढ़ करना –यह तात्पर्य है ।। ७० ।।

शुद्ध जिनधर्म चाहिये तो मिथ्या आचरण छोड़

मिच्छत्तमायरंत वि, जे इह वंछंति सुद्ध जिणधम्मं।
ते धत्ता वि जरेण य, भुत्तुं इच्छंति खीराइं।। ७१।।

अर्थः- जो जीव मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी शुद्ध जिनधर्म की इच्छा करते हैं वे ज्वरग्रस्त होते हुए भी खीर आदि खाने की इच्छा करते हैं ।।

भावार्थः- कोई–कोई जीव कुदेव–सेवन आदि मिथ्या आचरण को तो छोड़ते नहीं हैं और कहते हैं कि 'यह तो व्यवहार मात्र है, श्रद्धान तो हमें जिनमत का ही है।' उनको आचार्य देव कहते हैं कि 'हे भाई ! जब तक रागी–द्वेषी देवों की सेवा तुम्हारे है तब तक तो तुम्हें सम्यक्त्व का एक अंश भी होना असंभव है इसलिये मिथ्या देवादि का प्रसंग तो दूर ही से छोड़ देना और तब ही सम्यक्त्व की कोई बात करना–ऐसा ही अनुक्रम है' ।। ७१ ।।





आचरण से साध्य की सिद्धि, कुल से नहीं

जह केइ सुकुल बहुणो, सीलं मइलंति लिंति कुल णामं।
मिच्छत्तमायरंत वि, वहंति तह सुगुरु केरत्तं।।७२।।

अर्थः- जैसे कोई उत्तम कुलवधू व्यभिचार का सेवन करके अपने शील को तो दोष लगाये और कुल का नाम लेकर कहे कि 'मैं अमुक ऊँचे कुल वाली हूँ' वैसे ही कुगुरु स्वयं मिथ्यात्व का आचरण करते हुए भी कहते हैं कि 'हम सुगुरु के शिष्य हैं'।।

भावार्थः- इस काल में जैनमत में भी पीतांबर, रक्तांबर आदि वेषधारी हुए हैं वे भगवान की आज्ञा की विराधना करके वस्त्रादि परिग्रह धारण करते हुए भी अपनी भट्टारक, आचार्य आदि पदवी मानते हैं और कहते हैं कि 'हम गणधर आदि के कुल के हैं।' उनसे यहाँ कहते हैं कि 'जो अन्यथा आचरण करेगा वह मिथ्यादृष्टि ही है, कुल से कुछ साध्य की सिद्धि नहीं है। जैसे कोई बड़े कुल की भी स्त्री हो पर यदि वह कुशील का सेवन करे तो कुलटा ही है, कुलीन नहीं'।।७२।।

उत्सूत्र आचरण करने वाला श्रावक नहीं

उस्सुत्तमायरंत वि, ठवंति अप्पं सुसावगातम्मि।
ते सदरिद्द धत्थ वि, तुलंति सरिसं धणाड्ढेहिं।।७३।।

अर्थः- जो पुरुष जिनसूत्र का उल्लंघन करके आचरण करते हुए भी स्वयं को उत्तम श्रावकों में स्थापित करते हैं अर्थात् अपने को श्रावक मानते हैं वे दरिद्रता से ग्रसे हुए भी अपने आपको धनवान के समान तोलते हैं।।





भावार्थः- कितने ही जीवों के देव–गुरु–धर्म की श्रद्धा आदि का तो कुछ भी ठीक नहीं होता और अनुक्रम का भंग करके किसी भी प्रकार की कोई प्रतिज्ञा आदि लेकर अपने को श्रावक मानने लगते हैं पर वास्तव में वे श्रावक नहीं हैं। श्रावक तो वे तब ही होंगे जब यथायोग्य आचरण करेंगे।।७३।।

निर्णय करके धर्म धारण करना योग्य है

किवि कुल कम्मम्मि रत्ता, किवि रत्ता सुद्ध जिणवरमयम्मि।
इय अंतरम्मि पिच्छह, मूढाणं यं ण याणंति।।७४।।

अर्थः- कितने ही जीव तो कुलक्रम में ही आसक्त हैं अर्थात् जैसा बड़े करते आये हैं वैसा ही करते हैं, किसी भी प्रकार के हित–अहित का विचार कर निर्णय नहीं करते और कितने ही जीव शुद्ध जिनराज के मत में आसक्त हैं तथा जिनवाणी के अनुसार निर्णय करके जिनधर्म को धारण करते हैं सो देखो! इन दो प्रकार के जीवों के अन्तरंग में कितना बड़ा अन्तर है। वे बाहर से तो एक जैसे दिखाई देते हैं किन्तु परिणामों में बहुत ज्यादा अंतर है पर मूढ़ जीव न्याय को नहीं जानते, वे तो सभी को एक समान मानते हैं।।

भावार्थः- स्वयं परीक्षापूर्वक निर्णय किये बिना मात्र कुलक्रम के अनुसार जो जीव धर्म को धारण करते हैं तो यदि उनके कुल के लोग धर्म को छोड़ते हैं तो वे भी छोड़ देते हैं परन्तु जो जीव परीक्षापूर्वक निर्णय करके सच्चे जिनधर्म को धारण करते हैं वे कभी भी धर्म से





चलायमान नहीं होते इसलिये आचार्य कहते हैं कि 'जिनवाणी के अनुसार देव, गुरु और धर्म का यथार्थ स्वरूप पहिचान कर ही धर्म धारण करना भला है'।। ७४।।

मिथ्यादृष्टियों के धर्म का आचरण योग्य नहीं

संगो वि जाण अहिओ, तेसिं धम्माइ जे पकुव्वंति।
मुत्तूण चोरसंगं, करंति ते चोरियं पावा।। ७५।।

अर्थः- जिन मिथ्यादृष्टियों की संगति भी महान अहितकारी है उसे छोड़कर, जो जीव उनके धर्म का आचरण करते हैं वे तो मानो चोर का संग छोड़कर स्वयं पापी होकर चोरी करते हैं।।

भावार्थः- कितने ही जीव अपने को धर्मात्मा कहलवाने के लिए स्वयं मिथ्यादृष्टियों की संगति तो नहीं करते परन्तु उनके द्वारा कहा गया जिनाज्ञा रहित कुदेवों का पूजनादि आचरण रूप कार्य करते रहते हैं, वे पापी ही हैं इसलिये मिथ्यादृष्टियों द्वारा कहा हुआ आचरण रंचमात्र भी करना योग्य नहीं है।।७५।।

वीतरागी की अवहेलना के कार्य न कर

जत्थ पसु महिस लक्खा, पव्वे होमंति पाव णवमीए।
पूयंति तं पि सड्ढा, हा! हीला वीयरायस्स।। ७६।।

अर्थः- जिस पापनवमी[1] के दिन लाखों पशुओं–भैंसों आदि की बलि

१. टि०–विजयादशमी (दशहरे) से पहला दिन 'पापनवमी' कहलाता है।





चढ़ाई जाती है उस पापनवमी को भी कई लोग पूजते हैं और श्रावक कहलाते हैं सो हाय ! हाय !! वे तो वीतराग देव की निन्दा कराते हैं। लोग कहते हैं कि 'देखो! जैनी भी ऐसा कार्य करते हैं।' इससे सच्चे जैनियों को लज्जा आती है और जैनधर्म की अप्रभावना होती है।।७६।।

कुल को भव समुद्र में डुबाने वाला कौन

जो गिह कुडुंब सामी, संतो मिच्छत्त रोयणं कुणई।
तेण सयलो वि वंसो, परिखित्तो भव समुद्दम्मि।।७७।।

अर्थः- जो घर के कुटुम्ब का स्वामी हो करके मिथ्यात्व की रुचि और प्रशंसा करता है उसने समस्त कुल को संसार समुद्र में डुबा दिया।।

भावार्थः- कुल का स्वामी यदि मिथ्या देवादि की रुचि–सराहना करता है तो उसके कुल के सभी लोग वैसा ही आचरण करते हैं और कहते हैं कि 'हमारे बड़े ऐसा ही करते आये हैं।' इस प्रकार परिवार के सब ही जीवों के मिथ्यात्व की पुष्टि हो जाने से वे संसार में ही भ्रमण करते हैं अतः घर के स्वामी के द्वारा मिथ्यात्व की थोड़ी सी भी प्रशंसादि की जानी योग्य नहीं है।।७७।।

मिथ्या पर्वों के आचरने वालों को सम्यक्त्व नहीं

कुण्ड चउत्थी णवमी, वारस पिण्डप्पदाण पमुहाई।
मिच्छत्त भावगाइ, कुणंति तेसिं ण सम्मत्तं।।७८।।





अर्थः- चौथ, नवमी एवं बारस आदि कई अन्य भी पर्व हैं जिनमें मिथ्यात्व, विषय–कषाय की वृद्धि होती है ऐसे समस्त प्रकार के मिथ्या पर्वों के आचरण करने वालों को सम्यग्दर्शन नहीं है, वे सब मिथ्यादृष्टि ही हैं।। ७८।।

कुटुम्ब का मिथ्यात्व हरने वाले विरल हैं

जह अइ कलम्मि खुत्तं, सगडं कड्ढंति केवि धुरि धवला।
तह मिच्छाउ कुडुंबं, इह विरला केवि कड्ढंति।। ७९।।

अर्थः- जैसे अत्यंत कीचड़ में फँसी हुई गाड़ी को कोई बड़े बलवान वृषभ ही बाहर खींच पाते हैं वैसे ही इस लोक में मिथ्यात्व रूपी कीचड़ में फँसे हुए अपने कुटुंब को कोई उत्तम विरले पुरुष ही उसमें से बाहर निकाल पाते हैं।।

भावार्थः- जो स्वयं दृढ़ श्रद्धानी हैं वे अपने समस्त कुटुंब को उपदेशादि के द्वारा मिथ्यात्व से रहित करते हैं सो ऐसे धर्मात्मा बहुत थोड़े हैं।। ७९।।

प्रकट भी जिनदेव की अप्राप्ति

जह बद्दलेण सूरं, महियल पयडं पि णेअ पिच्छंति।
मिच्छत्तस्सय उदये, तहेव ण णिअंति जिणदेवं।।८०।।





अर्थः- जिस प्रकार पृथ्वीतल पर प्रकट दैदीप्यमान सूर्य भी बादलों से ढका होने पर लोगों को दिखाई नहीं देता उसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय में जीवों को प्रकट जिनदेव भी प्राप्त नहीं होते।।

भावार्थः- अरिहन्तदेव का स्वरूप जैसा है वैसा युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध परीक्षा करने वालों को तो प्रकट दिखाई देता है परन्तु जिनके मिथ्यात्व का उदय है उन्हें कुछ भी नहीं भासता।।८०।।

मिथ्यात्वरत का मनुष्य जन्म निष्फल है

किं सो वि जणणि जाओ, जाओ जणणी ण किं गओ बुड्ढिं।
जइ मिच्छरओ जाओ, गुणेसु तह मच्छरं वहइ।।८१।।

अर्थः- जो पुरुष मिथ्यात्व में आसक्त है और सम्यग्दर्शनादि गुणों में मत्सरता धारण करता है वह पुरुष क्या माता के उत्पन्न हुआ अपितु नहीं हुआ अथवा उत्पन्न भी हुआ तो क्या वृद्धि को प्राप्त हुआ अपितु नहीं हुआ[1]।।

भावार्थः- मनुष्य जन्म धारण करने का फल तो यह है कि जिनवाणी का अभ्यास करके मिथ्यात्व का तो त्याग करना और सम्यक्त्वादि गुणों को अंगीकार करना। जिसने यह कार्य नहीं किया उसका मनुष्य जन्म पाना भी न पाने के बराबर है।।८१।।

१. टि०—सागर प्रति में इस गाथा का अर्थ ऐसा दिया है :—

अर्थः- जो पुरुष मिथ्यात्व में लीन है और सम्यक्त्वादि गुणों के प्रति मत्सर भाव रखता है तो उस पुरुष ने माता के पेट से जन्म ही क्यों लिया? उसका जन्म लेना व्यर्थ हुआ।





मात्र वेषी दूर से ही त्याज्य हैं

वेस्साण वंदियाण य, महाणडूवाण जक्ख सिक्खाणं।
भत्ताभर कट्ठाणं, विरयाणं जंति दूरेण।।८२।।

अर्थः- मात्र वेष धारण किया है जिन्होंने उन्हें वंदन करने से, उनकी शिक्षाओं को ग्रहण करने से तथा उनकी विशेष भक्ति करने से जीव महा भवसमुद्र में डूबते हैं इसलिये उन्हें दूर से ही त्याग देना चाहिये।। ८२।।

जिनमार्ग में चलने वाले अमार्गी प्रशंसनीय हैं

सुद्धे मग्गे जाया, सुहेण गच्छंति सुद्ध मग्गम्मि।
जेहि अमग्गे जाया, मग्गे गच्छंति ते बुज्जं।।८३।।

अर्थः- जिन्होंने शुद्ध मार्ग में जन्म लिया है वे तो सुखपूर्वक शुद्ध मार्ग में चलते ही हैं परन्तु जिन्होंने अमार्ग में जन्म लिया है और मार्ग में चलते हैं सो आश्चर्य है।।

भावार्थः- जिनके परम्परा से जिनधर्म चला आया है वे जिनधर्म में प्रवर्तते हैं सो तो ठीक ही है परन्तु जो अन्य कुल में जन्म लेकर जिनधर्म में प्रवर्तन करते हैं सो यह आश्चर्य है, वे अधिक प्रशंसा के योग्य हैं।। ८३।।

पापियों की विवेकहीन बुद्धि होती है

मिच्छत्तसेवगाणं, विग्घं सयाइं पि विंति णो पावा।
विग्घं लवम्मि वि पडिए, दिढा धम्माण य भण्णंति।।८४।।





अर्थः- मिथ्यात्व का सेवन करने वालों को सैकड़ों विघ्न आते हैं तो भी पापी जीव कोई यह नहीं कहते कि ये विघ्न मिथ्यात्व का सेवन करने के कारण आए हैं और दृढ़ सम्यक्त्वी जीवों को पूर्व कर्म के उदय से यदि विघ्न का एक अंश भी आ जाता है तो उसे वे धर्म का फल प्रकट कर कहते हैं।।

भावार्थः- कुदेवादि का सेवन करने से सैकड़ों विघ्न आते हैं उन्हें तो मूर्ख लोग गिनते ही नहीं हैं परन्तु धर्म का सेवन करने वाले धर्मात्मा पुरुषों को यदि पूर्व कर्म के उदय से कदाचित्–किंचित् भी विघ्न आ जाये तो ऐसा कहते हैं कि 'धर्म सेवन करने से ही यह विघ्न आया है।' ऐसी विवेकहीन विपरीत बुद्धि होती है सो यह मिथ्यात्व की महिमा है।। ८४।।

मिथ्यात्वयुत सुख से सम्यक्त्वयुत दुःख भला है

सम्मत्तसंजुयाणं, विग्घं पि हु होइ उच्छउ सरिच्छं।
परमुच्छवं पि मिच्छत्त, संजुअं अइ महाविग्घं।।८५।।

अर्थः- सम्यक्त्व सहित जीव को विघ्न भी हो तो भी वह उसे उत्सव के समान है और मिथ्यात्व सहित जीव को परम उत्सव भी हो तो भी वह उसे महा विघ्न है।।

भावार्थः- सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों को पूर्व कर्म के उदय से यदि कोई उपसर्ग आदि भी आ जाये तो वहां उनकी श्रद्धा निश्चल रहने से पाप कर्म की निर्जरा होती है और पुण्य का अनुभाग बढ़ जाता है जिससे उन्हें भविष्य में महान सुख होगा इसलिये उनको विघ्न भी





उत्सव के समान है परन्तु मिथ्यात्व सहित जीवों को किसी पूर्व पुण्य कर्म के उदय से वर्तमान में तो सुख सा दिखाई देता है जिसे वे अत्यंत आसक्तिपूर्वक भोगते हैं किन्तु उससे तीव्र पाप का बंध होने से आगामी नरकादि का महा दुःख होगा इसलिये उन्हें उत्सव भी विघ्न के समान है। अतः ऐसा जानना कि सम्यक्त्व सहित दुःख भी भला है किन्तु मिथ्यात्व सहित सुख भी भला नहीं है।। ८५।।

दृढ़ सम्यग्दृष्टि इन्द्र द्वारा भी वंदनीय हैं

इंदो वि ताण पणमइ, हीलंतो णियरिद्धि वित्थारं।
मरणंते वि हु पत्ते, सम्मत्तं जे ण छंडंति।।८६।।

अर्थः- मरण पर्यंत दुःख प्राप्त होने पर भी जो जीव सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते हैं उन्हें इन्द्र भी अपनी ऋद्धियों के विस्तार की निन्दा करता हुआ प्रणाम करता है।।

भावार्थः- इन्द्र भी यह जानता है कि जिनके दृढ़ सम्यग्दर्शन है वे ही जीव शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं इसलिए सम्यक्त्व ही अविनाशी ऋद्धि है क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है और ये अन्य ऋद्धियाँ–इन्द्र विभूति आदि तो विनाशीक हैं, दुःख की कारण हैं अतः वह भी सम्यग्दृष्टियों को नमस्कार करता है।। ८६।।

मोक्षार्थी किसी कीमत पर सम्यक्त्व नहीं छोड़ता

छंडंति णियअ जीवं, तिणं व मुक्खत्थिणो तउ ण सम्मं।
लब्भइ पुणो वि जीवं, सम्मत्तं हारियं कुत्तो।।८७।।





अर्थः- जो जीव मोक्ष के इच्छुक हैं वे अपने जीवन को तो तृण के समान त्याग देते हैं परन्तु सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते क्योंकि जीवन तो पुनः प्राप्त हो जाता है परन्तु सम्यक्त्व के चले जाने पर फिर उसकी प्राप्ति दुर्लभ है।।

भावार्थः- कर्मोदय के आधीन मरण और जीवन तो अनादि ही से होता आया है किन्तु जिनधर्म और सम्यक्त्व की प्राप्ति महा दुर्लभ है इसलिये प्राणांत होता हो तो भी सम्यक्त्व छोड़ना योग्य नहीं है।। ८७।।

सम्यग्दर्शन ही वास्तविक वैभव है

गय विहवा वि सविहवा, सहिया सम्मत्त रयण राएण।
सम्मत्त रयण रहिआ, संते वि धणे दरिद्दंत्ति।।८८।।

अर्थः- जो पुरुष सम्यक्त्व रूपी रत्नराशि से सहित हैं वे धन–धान्यादि वैभव से रहित होने पर भी वास्तव में वैभव सहित ही हैं और जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं वे धनादि सहित हों तो भी दरिद्र ही हैं।।

भावार्थः- जिन्हें आत्मज्ञान हुआ है उन्हें धनादि परद्रव्य के होने और न होने से हर्ष–विषाद नहीं होता, वे तो वीतरागी सुख के आस्वादी अर्थात् अभिलाषी हैं इसलिये वे ही सच्चे धनवान हैं और अज्ञानी तो परद्रव्य की हानि–वृद्धि में सदा आकुलित हैं इसलिये वे दरिद्र ही हैं–ऐसा जानना।। ८८।।





सम्यग्दृष्टि को धन से भी सार जिनपूजा है

जिणपूयण उच्छावे, जइ कुवि सद्दाण देइ धनकोडी।
मुत्तूण तं असारं, सारं थिरयंति जिणपूयं।।८६।।

अर्थः- श्रद्धावान् जीवों को जिनराज की पूजा के समय में यदि कोई करोड़ों का धन दे तो भी वे उस असार धन को छोड़कर स्थिर चित्त से सारभूत जिनराज की पूजा ही करते हैं।।

भावार्थः- सम्यग्दृष्टि को अवश्य ज्ञान–वैराग्य होता है इसलिये वीतरागी की पूजा आदि में उसे परम रुचि बढ़ती है। धर्मकार्य के समय में यदि कोई व्यापारादि का कार्य आ जाये तो वह उसे दुःखदायी ही समझता है और धर्मकार्य को छोड़कर पापकार्य में नहीं लगता है–यह ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है और जिसे धर्मकार्य तो रुचता नहीं है जिस–तिस प्रकार उसे पूरा करना चाहता है तथा व्यापारादि को रुचिपूर्वक करता है सो यह ही मिथ्यादृष्टि का चिन्ह है–ऐसा जानना।। ८६।।

जिनपूजन और कुदेवपूजन की तुलना

तित्थयराणं पूया, सम्मत्त-गुणाण-कारणं भणिया।
सोवि य मिच्छत्तयरी, जिणसमये देसियापूयं।। ९०।।

अर्थः- तीर्थंकर देवों की पूजा तो सम्यक्त्व के गुणों की कारण है और सो ही रागी–द्वेषी अपूज्य कुदेवों की पूजा मिथ्यात्व को करने वाली जिनमत में कही है।।





भावार्थः- जिसमें जो गुण होते हैं उसकी सेवा करने से वे ही गुण प्राप्त हो जाते हैं–ऐसा न्याय है। अरिहन्त देव का स्वरूप ज्ञान–वैराग्यमय है अतः उनकी पूजा, ध्यान एवं स्मरणादि करने से ज्ञान–वैराग्य रूप सम्यक्त्व गुण की प्राप्ति होती है और सरागी देवों का स्वरूप राग–द्वेष एवं लोभ–क्रोधादि विकारमय है अतः उनकी पूजा–भक्ति करने से मिथ्यात्वादि पुष्ट होते ही होते हैं–ऐसा जानना।।६०।।

तत्त्वविद् की पहिचान

जं जं जिण आणाए, तं चिय मण्णइ ण मण्णए सेसं।
जाणइ लोयपवाहे, ण हु तत्तं सोय तत्तविऊ।।६१।।

अर्थः- जिनाज्ञा में जो–जो कहा गया है उस–उसको तो मानता है और जिनाज्ञा के सिवाय और को नहीं मानता है तथा लोकरीति में परमार्थ नहीं जानता है–ऐसा पुरुष तत्त्वविद् है।।

भावार्थः- जो सम्यग्दृष्टि हैं वे जिनभाषित धर्म को तो सत्यार्थ जानते हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि लोगों की सब रीति को मिथ्या जानते हैं।।६१।।

जिनाज्ञा के अनुसार धर्म करो

जिण आणाए धम्मो, आणारहियाण फुड अहम्मित्ति।
इय मुणिऊण य तत्तं, जिण आणाए कुणह धम्मं।।६२।।





अर्थः- जिनाज्ञा से तो धर्म है और जिनाज्ञा से रहित जीवों के प्रकट अधर्म है–ऐसा वस्तुस्वरूप जानकर जिनाज्ञा के अनुसार धर्म करो।।

भावार्थः- जो–जो धर्म कार्य करना वह जिनाज्ञा प्रमाण ही करना। अपनी युक्ति से मानादि कषायों का पोषण करने के लिये जिनाज्ञा के सिवाय प्रवर्तन करना योग्य नहीं है क्योंकि छद्मस्थ से अवश्य भूल हो ही जाती है।

यहाँ कोई कहता है–जिनाज्ञा तो अन्य लोग भी कहते हैं फिर हम किसको प्रमाण मानें?

इसका उत्तर–कुन्दकुन्द आदि महान आचार्यों ने जो युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध यथार्थ आचरण बताया है उसे तो अंगीकार करना और अन्य लोग ने जो अपना शिथिलाचार बताया है सो युक्ति, शास्त्र से परीक्षा करके जो प्रकट विरुद्ध भासित हो उसे त्यागना।

फिर कोई कहता है–यदि दिगम्बर शास्त्रों में अन्य–अन्य प्रकार से कथन हो तो क्या करें?

इसका उत्तर–जो सभी शास्त्रों में एक जैसा कथन हो वह तो प्रमाण है ही और यदि कहीं विवक्षावश अन्य कथन हो तो उसकी विधि मिला लेना अर्थात् विवक्षा समझ लेना। यदि अपने ज्ञान में विधि न मिले तो अपनी भूल मानकर विशेष ज्ञानियों से पूछकर निर्णय कर लेना। शास्त्र देखने का विशेष उद्यमी रहे तो भूल मिट जाती है और श्रद्धा निर्मल होती है। शास्त्रों का विशेष अभ्यास सम्यक्त्व का मूल कारण है।। ६२।।





ढीठ, दुष्टचित्त और सुभट कौन है

साहीणे गुरुजोगे, जे ण हु णिसुणंति सुद्ध धम्मत्थं।
ते धिट्ठ-दुट्ठचित्ता, अह सुहडा भवभयविहूणा।।६३।।

अर्थः- धर्म का सत्यार्थ मार्ग दिखलाने वाले सुगुरु का स्वाधीन सुयोग मिलने पर भी जो निर्मल धर्म का स्वरूप नहीं सुनते वे पुरुष ढीठ हैं और दुष्ट चित्त वाले हैं अथवा संसार परिभ्रमण के भय से रहित सुभट हैं।।

भावार्थः- धर्मात्मा पुरुष तो यदि वक्ता का निमित्त न हो तो भी उसका निमित्त कष्ट से भी मिलाकर धर्म श्रवण करते हैं और जिनको स्वयमेव वक्ता का निमित्त मिला और फिर भी धर्म श्रवण नहीं करते वे अपना अकल्याण करने से दुष्ट हैं और कहे की लज्जा नहीं इस कारण ढीठ हैं और यदि उन्हें संसार का भय होता तो वे धर्म श्रवण करते किन्तु वे नहीं सुनते हैं इससे जाना जाता है कि वे संसार के भय से रहित सुभट हैं। यह आचार्य ने तर्क निंदा की है।।६३।।

गुणवान के निश्चय से मोक्ष होता ही है

सुद्ध कुल-धम्म-जायवि, गुणिणो ण रमंति लिंति जिणदिक्खं।
तत्तो वि परमतत्तं, तओ वि उवयारओ मुक्खं।।६४।।

अर्थः- शुद्ध कुल व धर्म में उत्पन्न हुए गुणवान पुरुष निश्चय से संसार में नहीं रमते हैं किन्तु जिनदीक्षा ग्रहण करते हैं और फिर उसके बाद परम तत्त्व रूप निज शुद्ध आत्मा का ध्यान करके आत्मा का परम हित रूप मोक्ष प्राप्त करते हैं।।





भावार्थः- यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकर आदि महापुरुष किसलिये राजपाट को छोड़कर दीक्षा धारण करते पर वे दीक्षा धारण करते ही हैं इससे मालूम होता है कि संसार में महान दुःख है।। ६४।।

ऋद्धियों से उदास पुरुष ही प्रशंसनीय है

वण्णेमि णारयाउ वि, जेसिं दुक्खाइं संस्मरंताणं।
भव्वाण जणइ हरिहर, रिद्धि-समिद्धि-विउव्वासं।।६५।।

अर्थः- मैं उस भव्य जीव की प्रशंसा करता हूँ, उसे धन्य मानता हूँ जिसे नरकादि के दुःख स्मरण करते हुए मन में हरिहरादि की ऋद्धि और समृद्धि के प्रति भी उदासभाव ही उत्पन्न होता है।।

भावार्थः- ज्ञानी जीव हरिहरादि की ऋद्धियों एवं समृद्धि रूप वैभव में भी प्रसन्न नहीं होते तो अन्य विभूति में तो कैसे रमेंगे अर्थात् नहीं रमेंगे क्योंकि ज्ञानी जीव बहुत आरंभ और परिग्रह से नरकादि के दुःखों की प्राप्ति जानते हैं और केवल सम्यग्दर्शनादि ही को आत्मा का हित मानते हैं।। ६५।।

पूर्वाचार्य का आभार

सिरि धम्मदास गणिणा, रइयं उवएसमालसिद्धंतं।
सव्वे वि समण सावया, मण्णंति पठंति पाठंति।।६६।।

अर्थः- श्री धर्मदास आचार्य द्वारा उपदेश की है माला जिसमें ऐसा





यह सिद्धांत रचा गया है जिसे सभी मुनि और श्रावक श्रद्धापूर्वक मानते हैं, पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं।।

भावार्थः- यह उपदेश पहले आचार्य धर्मदास जी ने रचा था उसी को मैंने कहा है कोई कपोल–कल्पित नहीं है अतः प्रामाणिक है और सम्यक्त्वादि को पुष्ट करने से सबका कल्याणकारी है।।६६।।

शास्त्र की निन्दा दुःखों का कारण है

तं चेव केइ अहमा, छलिया अइ माण मोह भूएण।
किरियाए हीलंता, हा! हा! दुक्खाइं ण गणंति।।६७।।

अर्थः- ऐसे शास्त्रों की भी कई अधम मिथ्यादृष्टि आचरण में निन्दा करते हैं सो हाय! हाय!! निंदा करने से जो नरकादि के दुःख होते हैं उन्हें वे जीव गिनते ही नहीं हैं। कैसे हैं वे जीव? अत्यंत मान और मोह रूपी राजा के द्वारा ठगाये गये हैं।।

भावार्थः- जो यथार्थ आचरण तो कर नहीं सकते और अपने आपको महंत मनवाना चाहते हैं, तीव्र मोही हैं उनको यह यथार्थ उपदेश रुचता नहीं।।६७।।

जिनाज्ञा के भंग से दुःखों की प्राप्ति

इयराण चक्कराण वि, आणा भंगे वि होइ मरणदुहं।
किं पुण तिलोयपहुणो, जिणिंद देवाहिदेवस्स।।६८।।

अर्थः- चक्रवर्ती अथवा अन्य साधारण राजाओं की भी आज्ञा भंग करने पर मरण तक का दुःख होता है तो फिर क्या तीन लोक के





प्रभु देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की आज्ञा का भंग करने पर दुःख नहीं होगा अर्थात् होगा ही होगा।।

भावार्थः- मात्र अज्ञानवश कोई जीव यदि पदार्थ का अयथार्थ निरूपण करे तो भी आज्ञा भंग का दोष नहीं है किन्तु जो जीव कषायवश एक अंश मात्र भी अयथार्थ–अन्यथा कहे अथवा करे तो वह अनंत संसारी होता है क्योंकि जो समस्त मिथ्या मतों का प्रवर्तन है वह प्रवर्तन जिनाज्ञा नहीं मानने के कारण है इसलिये धर्मार्थी पुरुषों को कषाय के वश होकर जिनाज्ञा भंग करना योग्य नहीं है। बाकी जिन्हें अपनी मानादि कषायों की पुष्टि करनी हो उनकी बात अलग है।। ६८।।

जिनवचन-विराधक को धर्म व दया नहीं होती

जगगुरु जिणस्स वयणं, सयलाण जियाण होइ हियकरणं।
ता तस्स विराहणया, कह धम्मो कह णु जीवदया।।६६।।

अर्थः- जगत के गुरु जो जिनराज हैं उनके वचन समस्त जीवों को हितकारी हैं सो ऐसे जिनवचनों की विराधना से कहो, कैसे धर्म हो सकेगा और किस प्रकार जीवदया पल सकेगी!।।

भावार्थः- अन्य कई लोग हैं वे जिनाज्ञा प्रमाण पूजादि कार्यों में हिंसा मानकर उनका तो उत्थापन करते हैं तथा अन्य रीति से धर्म तथा जीवदया की प्ररूपणा करते हैं। उनको कहा गया है कि 'जिनपूजनादि कार्यों में यदि हिंसा का दोष होता तो भगवान उनका उपदेश ही क्यों देते इसलिए तुम्हारी समझ में ही दोष है। जिनवचन तो सर्वथा दयामयी





ही हैं और जिनको जिनाज्ञा प्रमाण नहीं उनके न तो धर्म है और न ही दया है'।।६६।।

आगम रहित क्रिया आडम्बर निंद्य है

किरियाइ फडाडोवं, अहियं साहंति आगमविहूणं।
मुद्धाण रंजणत्थं, सुद्धाणं हीलणत्थाए।।१००।।

अर्थः- जो जीव आगम रहित तपश्चरण आदि क्रियाओं का आडंबर अधिक करते हैं सो उनसे मूर्ख जीव तो रंजायमान होते हैं किन्तु शुद्ध सम्यग्दृष्टियों के द्वारा तो वे निन्दनीय ही हैं।।

भावार्थः- कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव जिनाज्ञा के बिना अनेक आडंबर धारण करते हैं वे आडम्बर मूर्खों को उत्कृष्ट भासते हैं परन्तु ज्ञानी जानते हैं कि ये समस्त क्रिया जिनाज्ञा रहित होने से कार्यकारी नहीं है।।१००।।

शुद्ध धर्म का दाता ही परमात्मा है

जो देइ सुद्ध धम्मं, सो परमप्पा जयम्मि ण हु अण्णो।
किं कप्पदुम्म सरिसो, इयर तरु होइ कइ आवि।।१०१।।

अर्थः- जो शुद्ध जिनधर्म का उपदेश देता है वह ही लोक में प्रकटपने परमात्मा है, अन्य धन–धान्यादि पदार्थों का देने वाला परमात्मा नहीं है सो क्या कल्पवृक्ष की बराबरी अन्य कोई वृक्ष कर सकता है, कदापि नहीं। ऐसा परमात्मा जयवंत हो!।।





भावार्थः- समस्त जीवों का हित सुख है और वह सुख धर्म से होता है इसलिए जो शुद्ध धर्म का उपदेश देते हैं वे ही परमात्मा और परम हितकारी हैं, अन्य स्त्री–पुत्रादि हितकारी नहीं हैं क्योंकि उनसे तो मोह उत्पन्न होता है।।१०१।।

अविवेकी मध्यस्थ नहीं रह सकता

जे अमुणिय गुणदोसा, ते कह विबुहाण हुंति मज्झत्था!
अह ते वि हु मज्झत्था, विस अमियाण तुल्लत्तं।।१०२।।

अर्थः- जो मूर्ख गुण और दोष को नहीं पहिचानते वे पंडितों के ऊपर माध्यस्थ्य भाव कैसे रख सकते हैं, क्रोधादि कैसे नहीं करेंगे अर्थात् करेंगे ही क्योंकि उन्हें पंडितों के गुणों की परख नहीं है अथवा वे मूर्ख भी यदि मध्यस्थ हों तो विष और अमृत का समानपना ठहर जाए सो है नहीं[1]।।१०२।।

धर्म के मूल वीतरागी देव-गुरु-शास्त्र हैं

मूलं जिणिंद देवो, तव्वयणं गुरुजणं महासयणं।
सेसं पावट्ठाणं, परमप्पाणं च वज्जेमि।।१०३।।

अर्थः- धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण जिनेन्द्र देव, जिनवचन और

१. टि०–सागर प्रति में इस अन्तिम पंक्ति के स्थान पर ये पंक्तियाँ हैं :–
'वे तो विष और अमृत को समान ही बतलाते हैं, फिर मध्यस्थ कैसे रह सकेंगे अर्थात् नहीं रह सकते।'





महा सज्जनस्वभावी निर्ग्रन्थ गुरुजन हैं। इनके सिवाय अन्य कुदेवादि तो पाप के स्थान हैं जिनसे मैं स्वयं को तथा दूसरों को वर्जित करता हूँ।।

भावार्थः- देव–गुरु–धर्म का श्रद्धान सम्यक्त्व का मूल कारण है सो मैंने अपना तथा दूसरों का श्रद्धान दृढ़ करने के लिये यह उपदेश रचा है–ऐसा आशय है।।१०३।।

जिनाज्ञा में रत ही हमारे धर्मार्थ गुरु हैं

अम्हाण रायरोसं, कस्सुवरिं णत्थि अत्थि गुरु विसये।
जिणआणरया गुरुणो, धम्मत्थं सेस वोस्सरिमो।।१०४।।

अर्थः- हमारा किसी के ऊपर राग–द्वेष नहीं है, केवल मात्र गुरु के सम्बन्ध में यह राग–द्वेष है कि जो जिनाज्ञा में तत्पर हैं वे तो हमारे धर्म के अर्थ गुरु हैं, इनके सिवाय शेष अन्य कुगुरुओं का मैं त्याग करता हूँ।।

भावार्थः- यदि कोई कहे कि तुम्हारे राग–द्वेष है इसलिये तुम ऐसा उपदेश देते हो तो उनको कहा गया है कि 'किसी लौकिक प्रयोजन के लिये हमारा उपदेश नहीं है, केवल धर्म के लिये ही सुगुरु और कुगुरु के ग्रहण–त्याग कराने का हमारा प्रयोजन है क्योंकि सुगुरु–कुगुरु सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मूल कारण हैं'।।१०४।।





जिनवचनों से मंडित सब ही गुरु हैं

णो अप्पणा पराया, गुरुणो कइ आवि हुंति सद्धाणं।
जिणवयण-रयण-मंडण, मंडिय सव्वे वि ते सुगुरु।।१०५।।

अर्थः- श्रद्धावान जीवों को 'यह मेरा गुरु' और 'यह पराया गुरु' ऐसा भेद गुरु के विषय में कदापि नहीं होता। जिनवचन रूपी रत्नों के आभूषणों से जो मंडित हैं वे सब ही गुरु हैं।।

भावार्थः- इस कलिकाल में कई जीव ऐसा मानते हैं कि अमुक गच्छ के या अमुक सम्प्रदाय के तो हमारे गुरु हैं, शेष दूसरों के गुरु हैं हमारे नहीं सो ऐसा एकान्त जिनमत में नहीं है। जिनमत में तो पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण रूप यथार्थ आचरण के जो धारी हैं वे सब ही गुरु हैं।।१०५।।

सज्जनों की संगति की बलिहारी है

बलि किज्जामो सज्जण, जणस्स सुविसुद्ध पुण्णजुत्तस्स।
जस्स लहु संगमेण वि, सुधम्म-बुद्धि समुल्लसइ।।१०६।।

अर्थः- जो सुविशुद्ध बुद्धि के धारक पुण्यवान सज्जन पुरुष हैं मैं उनकी बलिहारी जाता हूँ, प्रशंसा करता हूँ क्योंकि उनकी संगति से शीघ्र ही विशुद्ध धर्मबुद्धि समुल्लसित हो जाती है।।

भावार्थः- यदि मिथ्यात्व रहित सम्यक्त्वादि धर्म बुद्धि उल्लसित करने की तुम्हारी इच्छा हो तो साधर्मी विशेष ज्ञानीजनों की संगति करो क्योंकि संसार में संगति से ही गुण–दोषों की प्राप्ति देखने में आती है।।१०६।।





गुणवान गुरुओं का सद्भाव आज भी है

अज्ज वि गुरुणो गुणिणो, सुद्धा दीसंति लडयडा केवि।
पहु जिणवल्लह सरिसो, पुणो वि जिणवल्लहो चेव।।१०७।।

अर्थः- आज भी ऐसे कई गुणवान निर्दोष गुरु दिखाई देते हैं जो जिनराज के समान हैं अर्थात् नग्न मुद्रा के धारी हैं और केवल बाह्य लिंगधारी ही नहीं वरन् जिनराज ही हैं इष्ट जिनको ऐसे हैं अर्थात् जिनभाषित धर्म के धारी हैं, केवल नग्न परमहंसादि के समान नहीं हैं[1]।।

भावार्थः- यहाँ कोई कहता है कि 'इस क्षेत्र में और इस काल में मुनि तो दिखाई नहीं देते फिर 'आज भी जिनवल्लभ मुनि हैं'—ऐसा वचन कैसे कहा ?'

इसका उत्तर है कि 'यह वचन सिर्फ तुम्हारी ही अपेक्षा से तो है नहीं, वचन तो सबकी अपेक्षा है। तुम्हें अपने तुच्छ ज्ञान में यदि मुनि का सद्भाव नहीं दिखता तो इससे कोई सर्वत्र उनका अभाव नहीं कहा जा सकता, किसी न किसी पुरुष को तो वे प्रत्यक्ष होंगे ही क्योंकि दक्षिण देश में आज भी मुनियों का सद्भाव शास्त्र में कहा गया है'।।१०७।।

१. टि०—सागर प्रति में इस गाथा का अर्थ इस प्रकार दिया हैः—
अर्थः- जिन्हें जिनराज ही परम इष्ट हैं, जो स्वयं जिनवल्लभ हैं अर्थात् जो जिनेन्द्र को प्रिय हैं—ऐसे शुद्ध पवित्र गुणों के धारक जिनवल्लभ नग्न दिगम्बर गुरु आज भी कहीं—कहीं दिखाई देते हैं।





सुगुरु के उपदेश से भी किन्हीं के सम्यक्त्व नहीं

वयणे वि सुगुरु जिण, वल्लहस्स केसिं ण उल्लसइ सम्मत्तं।
अह कह दिणमणि तेअं, अलुआणं हरइ अंधत्तं।।१०८।।

अर्थः- जिनराज ही हैं प्रिय जिनको ऐसे निर्ग्रन्थ सद्गुरु का उपदेश होने पर भी किन्हीं जीवों के सम्यक्त्व उल्लसित नहीं होता अथवा सूर्य का प्रकाश क्या उल्लुओं के अंधत्व को हर सकता है अर्थात् नहीं हर सकता।।

भावार्थः- जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश हो जाने पर भी उल्लुओं का अंधत्व नष्ट नहीं होता उसी प्रकार सद्गुरु के वचन रूपी सूर्य का तेज मिलने पर भी जिनका मिथ्यात्व अंधकार नष्ट नहीं होता वे जीव उल्लू जैसे ही हैं। जिनकी होनहार भली नहीं है उनको सुगुरु का सदुपदेश कभी रुचता नहीं है किन्तु विपरीत ही भासित होता है।।१०८।।

आगे मिथ्यादृष्टि जीवों की मूर्खता दिखाते हैं :-

अज्ञानियों के ढीठपने को धिक्कार है

तिहुवण जणं मरंतं, दिट्ठूण णिअंति जे ण अप्पाणं।
विरमंति ण पावाओ, धिद्धी धिट्ठत्तणं ताणं।।१०९।।

अर्थः- तीन लोक के जीवों को निरन्तर मरते हुए देखकर भी जो जीव अपनी आत्मा का अनुभव नहीं करते और पापों से विराम नहीं लेते उनके ढीठपने को धिक्कार है।।





भावार्थः- संसार में पर्यायदृष्टि से देखने पर कोई भी पदार्थ स्थिर नहीं है अतः शरीरादि के लिये वृथा पाप का उपार्जन करके आत्मा का कल्याण नहीं करना–यह बड़ी मूर्खता है।।१०६।।

अत्यन्त शोक से नरक गमन होता है

सोएण कंदिऊणं, कट्टेऊणं[1] सिरं च उर ऊरं।
अप्पं खिवंति णरए, तं पि हु धिद्धी कुणेहत्तं।।११०।।

अर्थः- जो जीव नष्ट हुए पदार्थों का शोक करके ऊँचे स्वर से क्रन्दन करके रोते हुए सिर और छाती कूटता है वह अपनी आत्मा को नरक में पटकता है, उसके ऐसे कुस्नेह को भी धिक्कार है।।११०।।

शोक करना सर्वथा दुःखदायी है

एगं पि य मरण दुहं, अण्णं अप्पा वि खिप्पए णरए।
एगं च माल-पडणं, अण्णं च लठेण सिरघाओ।।१११।।

अर्थः- एक तो प्रियजन के मरण का दुःख और दूसरा उसके शोक में अपने को नरक में पटकना–यह कार्य तो वैसा ही है जैसे कोई पहले तो ऊपर पर्वत से गिरे और फिर लाठी से सिर में घाव हो जाये।।

भावार्थः- बीती हुई पर्याय वापिस नहीं आती–ऐसा वस्तुस्वरूप है अतः शोक करना वृथा है। एक तो वह वर्तमान में दुःख रूप है और दूसरे आगामी काल में नरकादि दुःखों का कारण है। शोक में कुछ सार नहीं है।।१११।।

१. टि०–यहाँ 'कूटना' अर्थ है अतः 'कुट्टेऊणं' पाठ उचित प्रतीत होता है।





आगे जिनके शोकादि नहीं है ऐसे ज्ञानी जीवों की इस काल में दुर्लभता दिखाते हैं :-

आज धर्मार्थी सुगुरु व श्रावक दुर्लभ हैं

संपइ दूसमकाले, धम्मत्थी सुगुरु सावया दुलहा।
णाम गुरु णाम सावय, सरागदोसा बहू अत्थि।।११२।।

अर्थः- इस दुःखमा काल में धर्मार्थी सुगुरु व श्रावक दुर्लभ हैं। राग द्वेष सहित नाम मात्र के गुरु और नाम मात्र के श्रावक तो बहुत हैं।।

भावार्थः- इस निकृष्ट काल में धर्मार्थी होकर धर्म का सेवन करना दुर्लभ है। लौकिक प्रयोजन के लिये धर्म का सेवन करने वाले बहुत हैं सो नाम मात्र सेवन करते हैं। धर्म सेवन से जिस वीतराग भाव की प्राप्ति होती है वह उन नामधारी धर्मात्माओं को कभी नहीं हो सकती सो ऐसे जीव बहुत ही हैं।।११२।।

शुद्ध धर्म से धन्य पुरुषों को ही आनंद

कहियं पि सुद्ध धम्मं, काहि वि धण्णाण जणइ आणंदं।
मिच्छत्त-मोहियाणं, होइ रइ मिच्छधम्मेसु।।११३।।

अर्थः- जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया जो शुद्ध जिनधर्म का स्वरूप है वह अनेक भाग्यवान–धन्य जीवों को आनंदित करता है किन्तु जो मिथ्यात्व से मोहित जीव हैं उनकी प्रीति मिथ्याधर्म में ही होती है।।११३।।





पाप को धर्म कहकर सेवन मत करो

इक्कं पि महादुक्खं, जिणवयण विऊण सुद्ध हिययाणं।
जं मूढा पावायं, धम्मं भणिऊण सेवंति।।११४।।

अर्थः- शुद्ध है चित्त जिनका ऐसे जिनवचन के ज्ञाताओं को एक ही महान दुःख है कि मूर्ख लोग धर्म का नाम लेकर पाप का सेवन करते हैं।।

भावार्थः- कितने ही जीव व्रतादि का नाम करके रात्रिभोजनादि करते हैं अथवा तेरह प्रकार का चारित्र नाममात्र धारण करके अपने को गुरु मनवाकर पश्चात् विषय–कषाय सेवन में लग जाते हैं तथा धर्म के नाम पर हिंसादि पाँचों पापों में लवलीन हो जाते हैं–ऐसे जीवों की मूर्खता देखकर ज्ञानियों को करुणा उत्पन्न होती है।।११४।।

जिनवचन में रमने वाले विरल हैं

थोवा महाणुभावा, जे जिणवयणे रमंति संविग्गा।
तत्तो भव-भय-भीया, सम्मं सत्तीइ पालंति।।११५।।

अर्थः- ऐसे महानुभाव पुरुष बहुत थोड़े हैं जो वैराग्य में तत्पर होकर जिनवचनों के रहस्य में रमते हैं और उन जिनवचनों के ज्ञान से संसार से भयभीत होते हुए सम्यक्त्व का शक्तिपूर्वक पालन करते हैं।।

भावार्थः- अनेक खोटे कारण मिलने पर भी जो अच्छी तरह से सम्यक् विचार रूप शक्ति प्रगट करके सत्यार्थ श्रद्धान से चलायमान नहीं होते ऐसे जीवों की बहुत दुर्लभता है।।११५।।





सम्यक्त्व बिना सारा आचरण फलीभूत नहीं

सव्वंगं पि हु सगडं, जह ण चलइ इक्क वडहिला रहिअं।
तह धम्म-फडाडोवं, ण फलइ सम्मत्त-परिहीणं।।११६।।

अर्थः- जिस प्रकार प्रकटपने सर्व अंगों के विद्यमान होने पर भी एक धुरी बिना गाड़ी नहीं चलती उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म का बड़ा आडंबर भी फलीभूत नहीं होता इसलिये व्रतादि धर्म सम्यक्त्व सहित ही धारण करना योग्य है–यह तात्पर्य है।।११६।।

अज्ञानियों पर ज्ञानियों का रोष नहीं होता

ण मुणंति धम्मतत्तं, सत्थं परमत्थगुणं हियं-अहियं।
बालाण ताण उवरिं, कह रोसो मुणिय धम्माणं।।११७।।

अर्थः- जो अज्ञानी जीव धर्म के स्वरूप को नहीं जानते तथा परमार्थ गुण रूप हित और अहित को नहीं जानते उनके ऊपर जिनधर्म का रहस्य जानने वाले ज्ञानी जीवों का रोष कैसे हो अर्थात् नहीं होता।।

भावार्थः- ज्ञानी जीव जानते हैं कि 'मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का स्वरूप जानते ही नहीं हैं' फिर वे ऐसे अज्ञानी जीवों पर रोष कैसे करें अर्थात् नहीं करते, मध्यस्थ ही रहते हैं।।११७।।

आत्म-वैरी की पर पे करुणा कैसे हो

अप्पा वि जाण वयरी, तेसिं कह होइ परजिये करुणा।
घोराण वंदियाणय, दिट्ठे ते ण य मुणेयव्वं[1]।।११८।।

१. टि०–'वंदियाणय' व 'मुणेयव्वं' की जगह 'वंदियालय' व 'मुंचेयव्वं' शब्द उचित प्रतीत हो रहे हैं।





अर्थः- जिन जीवों के अपना आत्मा ही वैरी है अर्थात् जो मिथ्यात्व और कषायों द्वारा अपना घात स्वयं ही करते हैं उन्हें अन्य जीवों पर करुणा कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती। जो स्वयं घोर बंदीखाने में पड़ा हो वह दूसरों को छुड़ाकर कैसे सुखी कर सकता है अर्थात् नहीं कर सकता।।११८।।

पापयुक्त व्यापारों के त्यागी धन्य हैं

जे रज्ज धणाईणं, कारणभूया हवंति वावारा।
ते वि हु अइ पावजुआ, धण्णा छंडंति भवभीया।।११९।।

अर्थः- जो राज्य और धनादि के कारणभूत व्यापार हैं वे समस्त निश्चय से अत्यंत पापयुक्त हैं सो जो जीव संसार से भयभीत होकर इन व्यापारों का त्याग करते हैं वे धन्य हैं।।

भावार्थः- कितने ही जीव धनादि का अधिक संचय करके अपने को बड़ा मानते हैं सो ऐसा जिनमत में तो नहीं है। जिनमत में तो धनादि के त्याग की ही महिमा है-ऐसा जानना।।११९।।

मोही-लोभी के ही व्यापार में पाप का सेवन

वीयादि सत्तरहिआ, धण-सयणादीहिं मोहिया लुद्धा।
सेवंति पावकम्मं, वावारे उयर भरणट्ठा।।१२०।।

अर्थः- जो जीव बल–वीर्य आदि शक्ति से रहित हैं, धन तथा पुत्रादि स्वजनों में मोहित हैं और लोभी हैं वे ही पेट भरने के लिये व्यापार में पापकर्म का सेवन करते हैं।।





भावार्थः- जो जीव शक्तिहीन हैं एवं मोही हैं वे ही उदर भरने के लिये पाप रूप व्यापारों में रचते–पचते हैं, जो शक्तिवान हैं वे उनमें नहीं रचते।।१२०।।

आगे उदर भरने के लिये पापारंभ करने वाले तो अधम हैं ही परन्तु उनसे भी अतिशय अधम उत्सूत्र बोलने वाले हैं, उनकी निंदा करते हैं :-

उत्सूत्रभाषी के पंडितपने को धिक्कार हो

तइयाहमाण अहमा, कारणरहिआ अणाण गव्वेण।
जे जंपंति उसूत्तं, तेसिं धिद्धित्थु पंडित्ते।।१२१।।

अर्थः- जो उत्सूत्रभाषी जीव बिना कारण ही अज्ञान के गर्व से सूत्रों का उल्लंघन करके जिनवाणी के विरुद्ध बोलते हैं वे पापियों में भी अत्यंत पापी हैं और अधमों में भी महा अधम हैं, उनके पण्डितपने को धिक्कार हो !।।

भावार्थः- जो जीव लौकिक प्रयोजन साधने के लिये पाप करते हैं वे तो पापी ही हैं परन्तु जो बिना प्रयोजन ही अपनी मान कषाय को पोषने के लिये पंडितपने के गर्व से जिनमत के विरुद्ध उपदेश करते हैं वे महापापी हैं क्योंकि कषाय के वशीभूत होकर जिनमत से यदि एक अक्षर भी अन्यथा कहे तो वह अनंत संसारी होता है–ऐसा कहा गया है।।१२१।।





उत्सूत्रभाषी का भयानक संसार वन में भ्रमण

जं वीरजिणस्स जिओ, मरीइ उस्सूत्त लेस-देसणओ।
सायर कोडाकोडिं, हिंडिउ अइ भीम भवरण्णे।।१२२।।
ता जइ इमं पि वयणं, वारं वारं सुणंति समयम्मि।
दोसेण अवगणित्ता, उस्सुत्तवयाइं सेवंति ।।१२३।।
ताणं कह जिणधम्मं, कह णाणं कह महाण वेरग्गं!
कूडाभिमाण पंडिय, णडिआ वूडंति णरयम्मि।।१२४।।

अर्थः- महावीर स्वामी का जीव मारीचि के भव में जिनसूत्र के वचनों का उल्लंघन कर थोड़ा सा उपदेश देने के कारण अति भयानक भव-वन में कोड़ाकोड़ी सागर तक भटकता रहा सो शास्त्र के ऐसे वचनों को बारंबार सुनने पर भी दोषों को नहीं गिनकर जो मिथ्यासूत्र के वचनों का सेवन करता है वह जिनधर्मी कैसे हो सकता है और उसे सम्यग्ज्ञान भी कैसे हो सकता है तथा उत्तम वैराग्य भी कैसे हो सकता है! ऐसे उत्सूत्रभाषी जीव मिथ्या अभिमानवश अपने को पंडित मानते हुए नरक में डूब जाते हैं।।

भावार्थः- जो जीव जिनाज्ञा को भंग करके अपनी विद्वत्ता द्वारा अन्यथा उपदेश करते हैं वे जिनधर्मी नहीं हैं। वे तो मिथ्यात्वादि के द्वारा नरक–निगोदादि नीच गति ही के पात्र हैं।।१२२–१२४।।

तीव्र मिथ्यात्वी को हितोपदेश भी महा दोष रूप है

मा मा जंपह बहुअं, जे बद्धा चिक्कणेहिं कम्मेहिं।
सव्वेसिं तेसिं जइ, हिय उवएसो महादोसो।।१२५।।





अर्थः- बहुत मत कहो ! मत कहो !! क्योंकि जो जीव चिकने कर्मों से बँधे हुए हैं उन सबके लिए हितोपदेश है सो महा दोष रूप है।।

भावार्थः- जिन जीवों के मिथ्यात्व का तीव्र उदय है उन्हें बारंबार उपदेश देने से भी किसी साध्य की सिद्धि नहीं है क्योंकि वे तो उल्टे विपरीत ही परिणमते हैं। ऐसा वस्तु का स्वरूप जानकर विद्वानों को मध्यस्थ ही रहना योग्य है।।१२५।।

अशुद्ध हृदयी को उपदेश देना वृथा है

हिययम्मि जे कुसुद्धा, ते किं बुज्झंति धम्म-वयणेहिं।
ता ताण कए गुणिणो, णिरत्थयं दमहि अप्पाणं।।१२६।।

अर्थः- जो जीव हृदय से अशुद्ध हैं-मिथ्या भावों से मलिन हैं वे धर्म वचनों से क्या समझेंगे अर्थात् कुछ नहीं समझेंगे इसलिये उनको समझाने के लिये जो गुणवान प्रयत्न करता है वह वृथा ही अपनी आत्मा का दमन करता है अर्थात् उसे कष्ट देता है।।

भावार्थः- विपरीत जीवों को उपदेश देने में कुछ भी सार नहीं है अतः उनके प्रति मध्यस्थ रहना ही उचित है-ऐसा जानना।।१२६।।

जिनधर्म के श्रद्धान से तीव्र दुःखों का नाश

दूरे करणं दूरं, पि साहणं तह पभावणा दूरे।
जिणधम्म सद्दहाणं, तिव्वा दुक्खई णिट्ठवई।।१२७।।





अर्थः- जिनधर्म का आचरण करना, उसका साधन करना और उसकी प्रभावना करना–ये सब तो दूर ही रहो, एक जिनधर्म का श्रद्धान करना ही तीव्र दुःखों का नाश करता है।।

भावार्थः- व्रतादि का अनुष्ठानादि तो दूर ही रहो, एक जिनधर्म के दृढ़ श्रद्धान रूप सम्यक्त्व के ही होने से नरकादि दुःखों का अभाव हो जाता है इस कारण जिनधर्म धन्य है।।१२७।।

आगे जिनसे धर्म की प्राप्ति होती है ऐसे श्रीगुरु के संगम की भावना भाते हैं :-

सुगुरु से धर्म श्रवण की भावना

कइया होही दिवसो, जइया सुगुरूण पायमूलम्मि।
उस्सूत्त लेस विसलव, रहिऊण सुणेसु जिणधम्मं।।१२८।।

अर्थः- अहो ! वह मंगल दिवस कब आयेगा कि जब मैं सुगुरु के पादमूल में उनके चरणों के समीप बैठकर जिनधर्म को सुनूँगा ! कैसा होकर सुनूँगा ? उत्सूत्र के लेश अर्थात् अंश रूपी विषकण से रहित होकर सुनूँगा।।१२८।।

तत्त्वज्ञ को अदृष्ट भी ज्ञानी गुरु प्रिय हैं

दिट्ठा वि केवि गुरुणो, हियए ण रमंति मुणिय तत्ताणं।
केवि पुण अदिट्ठा, चिय रमंति जिणवल्लहो जेम।।१२९।।

अर्थः- कितने ही गुरु तो ऐसे हैं जो देखे जाते हुए भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय में नहीं रमते अर्थात् वे लोक में तो गुरु कहलाते हैं परन्तु





उनमें गुरुपने के गुण नहीं होते, ऐसे गुरु ज्ञानी पुरुषों के हृदय में नहीं रुचते और कई गुरु अदृष्ट हैं–देखने में नहीं आते हैं तो भी तत्त्वज्ञानियों के हृदय में रमते हैं, ज्ञानी उनका परोक्ष स्मरण करते हैं जैसे जिन हैं वल्लभ अर्थात् इष्ट जिनके ऐसे गणधरादि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानियों के हृदय में रमते हैं[1]।।१२६।।

आगे कोई कहता है कि 'हम तो कुगुरुओं को ही सुगुरु के समान पूजेंगे, गुणों की परीक्षा से हमें क्या प्रयोजन है!' उसका निषेध करते हैं :-

कुगुरु की सुगुरु से तुलना मत करो

अइया अइ पाविट्ठा, सुद्धगुरु जिणवरिंद तुल्लंति।
जो इह एवं मण्णइ, सो विमुहो सुद्ध धम्मस्स।।१३०।।

अर्थः- इस काल में भी जो जीव अति पापिष्ठ और परिग्रह के धारी कुगुरुओं की शुद्ध गुरु या जिनराज से तुलना करता है और ऐसा मानता है कि पापी कुगुरु एवं शुद्ध सुगुरु समान हैं वह जीव शुद्धधर्म से विमुख है॥

भावार्थः- जिसके सुगुरु और कुगुरु में विशेषता नहीं है वह मिथ्यादृष्टि है।।१३०।।

१. टि०–सागर प्रति में अर्थ की इन अन्तिम दो पंक्तियों के स्थान पर ये पंक्तियाँ हैं:- 'और कोई गुरु ऐसे हैं जो अदृष्ट हैं–देखने में नहीं आते हैं तो भी तत्त्वज्ञानी पुरुषों के हृदय में जिनवल्लभ के समान रमते हैं। उन्हें जैसे जिनेन्द्र भगवान प्रिय हैं उसी प्रकार सुगुरु भी प्रिय हैं। ज्ञानीजन उनका परोक्ष स्मरण करते हैं। जिस प्रकार गणधर आदि आज प्रत्यक्ष नहीं हैं तो भी ज्ञानीजनों के हृदय में वे रमते हैं उसी प्रकार जिनवल्लभ सुगुरु रमते हैं।'





श्रद्धा बिना जिनदेव का वंदन–पूजन निष्फल

जं तं वंदसि पुज्जसि, वयणं हीलेसि तस्स राएण।
ता कह वंदसि पुज्जसि, जिणवायट्ठियं पि णो मुणसि।।१३१।।

अर्थः- जिन जिनेन्द्र देव को तुम प्रीतिपूर्वक वंदते हो, पूजते हो उन्हीं के वचनों की अवहेलना करते हो अर्थात् उन जिनेन्द्रदेव के वचनों में कहे हुए को तुम मानते नहीं हो फिर उन्हें तुम क्या वंदते–पूजते हो!।।

भावार्थः- कई अज्ञानी बाहर में तो जिनेन्द्र भगवान की वंदना–पूजा बहुत करते हैं परन्तु उनके वचनों को मानते ही नहीं हैं तो उनका वंदना–पूजा आदि करना कार्यकारी नहीं है।।१३१।।

पहिले जिनवचनों को मानो

लोए वि इमं सुणियं, जं आराहिज्जं तं ण कोविज्जो।
मण्णिज्ज तस्स वयणं, जइ इच्छसि इच्छियं काओ।।१३२।।

अर्थः- लोक में भी ऐसा सुनने में आता है कि जो जिसकी आराधना करता है, सेवा करता है वह उसे कुपित नहीं करता सो यदि तुम भी वांछित कार्य की सिद्धि चाहते हो तो उन जिनेन्द्रदेव के वचनों को पहिले मानो।।

भावार्थः- यह बात तो जगत में भी प्रसिद्ध है कि जो राजादि की सेवा करके उनसे किसी फल को चाहता है तो उसे उनकी आज्ञानुसार ही चलना उचित है और यदि उनकी सेवा तो करे और आज्ञा नहीं





माने तो उसे किसी फल की प्राप्ति नहीं होती, उल्टे दण्ड ही मिलता है इसी प्रकार हे भाई ! यदि तुम जिनेन्द्र भगवान की भक्ति–पूजा करते हो तो उनकी आज्ञा को प्रमाण करो। भगवान की वाणी में स्थान–स्थान पर कहा गया है कि 'जो राग–द्वेष सहित क्षेत्रपाल आदि हैं वे कुदेव हैं और परिग्रहधारी विषयाभिलाषी आदि हैं वे कुगुरु हैं उन्हें सुदेव व सुगुरु नहीं मानो।' यदि तुम भगवान की आज्ञा को सत्य मानकर उसको प्रमाण नहीं करोगे तो उनकी आराधना का फल जो मोक्षमार्ग की प्राप्ति होना है वह तुम्हें कदापि नहीं मिलेगा।।१३२।।

आज भी जो सम्यक्त्व में अडिग हैं वे धन्य हैं

दूसम दण्डे लोए, दुक्खं सिट्ठम्मि दुट्ठ उदयम्मि।
धण्णाण जाण ण चलइ, सम्मत्तं ताण पणमामि।।१३३।।

अर्थः- जिसमें श्रेष्ठ पुरुष जैनीजन तो दुःखी हैं और दुष्ट पुरुष अभ्युदय वाले हैं ऐसे इस पंचम काल के दण्ड सहित लोक में वे भाग्यवान जीव धन्य हैं जिनका सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।।

भावार्थः- इस निकृष्ट काल में सम्यक्त्व बिगड़ने के अनेक कारण बन रहे हैं तो भी जो सम्यक्त्व से चलायमान नहीं होते वे पुरुष धन्य हैं।।१३३।।





अब आगे सुगुरु की परीक्षा करने का उपाय बताते हैं:-

गुरु को परीक्षा करके जान

णियमइ अणुसारेण, ववहारणयेण समय सुद्धीए।
कालक्खेत्तणुमाणे, परिक्खओ जाणिओ सुगुरु।।१३४।।

अर्थः- अपनी बुद्धि के अनुसार, व्यवहार नय के द्वारा, सिद्धान्त की शुद्धिपूर्वक, काल तथा क्षेत्र के अनुमान से परीक्षा करके सुगुरु को जानना चाहिये।।

भावार्थः- रत्नत्रय का साधकपना साधु का लक्षण है सो निश्चय दृष्टि से अंतरंग तो दिखाई नहीं देता परन्तु व्यवहार नय से सिद्धान्त में जो महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण रूप आचरण बताया है उससे परीक्षा करके जानना चाहिये कि वह इनमें है या नहीं ? यदि वे अट्ठाईस मूलगुण उनमें हों तो वे गुरु हैं और यदि उनमें न हों तो कुगुरु हैं तथा इस बात का भी विचार करना चाहिये कि ऐसे क्षेत्र–काल में गुरुओं का आचरण हो सकता है और ऐसे क्षेत्र–काल में नहीं। ऐसा विचारकर फिर गुरुओं के योग्य क्षेत्र–काल में पांच महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुण जिनमें दिखाई दें वे गुरु हैं और जो गुरु के योग्य क्षेत्र–काल न हो वहाँ स्थित हों तथा पाँच महाव्रतादि जिनमें पाये न जाएं और फिर भी अपने को गुरु माने तो वे कुगुरु हैं–ऐसा जानना।।१३४।।





शुद्ध गुरु की प्राप्ति सहज नहीं

तह वि हु णिय जडयाए, कम्म गुरु तस्स णेव वीससिमो।
धण्णाण कयत्थाणं, सुद्धगुरु मिलइ पुण्णेण।।१३५।।

अर्थः- उपरोक्त प्रकार से परीक्षा करते हैं तो भी कर्म के तीव्र उदय से अपनी जड़ता–अज्ञानता के कारण हम गुरु का विश्वास और निश्चय नहीं करते सो पुण्य के उदय से किसी धन्य अर्थात् भाग्यवान और कृतार्थ जीव को ही शुद्ध गुरु मिलते हैं।।

भावार्थः- सच्चे गुरु की प्राप्ति सहज नहीं है। जिसकी भली होनहार हो उसे ही सच्चे गुरु की प्राप्ति होती है, हम अज्ञानी भाग्यहीनों को गुरु की प्राप्ति व निश्चय कैसे हो–इस प्रकार अपनी निंदापूर्वक गुरु के उत्कृष्टपने की भावना यहाँ भाई है।।१३५।।

सच्चा गुरु ही मेरा शरण है

अहवं पुण्णो अणुत्तो, ताजइ पत्तो चरण पत्तोय।
तह वि हु सो मह सरणं, संपइ जो जुगपहाण गुरु।।१३६।।

अर्थः- जो गुरु पुण्यवान हो, वचन से जिसकी महिमा कही न जा सके, जो त्यागीपने को प्राप्त हुआ हो एवं चारित्र सहित हो–ऐसे गुरु की मुझे शरण संपादन करने योग्य है अर्थात् वह गुरु ही मेरा शरण है जो युगप्रधान हो।।१३६।।





परमार्थ शक्य नहीं तो व्यवहार को ही जान

जिणधम्मं दुण्णेयं, अइसय णाणीहिं णज्जइ सम्मं।
तह वि हु समयट्ठिइए, ववहारणयेण णायव्वं।।१३७।।

अर्थः- यथार्थ जिनधर्म तो ऐसा दुर्गम्य है कि उसे बड़े–बड़े ज्ञानी भी कष्ट से ही जान सकते हैं तो भी मत की स्थिरता के लिये वह व्यवहार नय से जानने योग्य है।।

भावार्थः- निश्चयनय से मोह रहित आत्मा की परिणति रूप शुद्ध जिनधर्म तो बड़े–बड़े ज्ञानी पुरुषों द्वारा जानना भी कठिन है, उसका लाभ होना तो दुर्लभ ही है परन्तु सत्यार्थ देव–शास्त्र–गुरु का श्रद्धान रूप जो व्यवहार धर्म है उसे तो अवश्य ही जानना चाहिये। यदि व्यवहार से जिनमत की स्थिरता बनी रहेगी तो परम्परा से कभी न कभी निश्चय धर्म की प्राप्ति भी हो जायेगी और यदि व्यवहार धर्म भी नहीं रहेगा तो पाप प्रवृत्ति होने से जीव निगोदादि नीच गति में चला जायेगा जहाँ धर्म की वार्ता भी दुर्लभ है इसलिये यदि परमार्थ जानने की शक्ति न हो तो व्यवहार जानना ही भला है–ऐसा जानना।।१३७।।

व्यवहार परमार्थ को साधने वाला है

जह्मा जिणेहिं भणियं, सुय ववहार विसोहयं तस्स।
जायइ विसुद्ध बोही, जिण आणाराह गत्ताओ।।१३८।।

अर्थः- क्योंकि जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहा गया जो शास्त्र का





व्यवहार है वह परमार्थ धर्म को साधने वाला है अर्थात् वह परमार्थ के स्वरूप को पृथक् दिखलाता है अतः उससे जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का आराधकपना होने से दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता रूप निर्मल बोधि उत्पन्न होती है।।

भावार्थः- जो जिनोक्त व्यवहार है वह निश्चय का साधक है अतः शास्त्राभ्यास रूप व्यवहार से परमार्थ रूप वीतराग धर्म की प्राप्ति होती है–ऐसा जानना।।१३८।।

गुरु को परीक्षा करके ही पूजना

जे जे दीसंति गुरु, समय परिक्खाइ तेण पुज्जंति।
पुण एगं सद्दहणं, दुप्पसहो जाव जं चरणं।।१३६।।

अर्थः- वर्तमान समय में संसार में जो–जो गुरु दिखाई देते हैं या गुरु कहलाते हैं उन सबको शास्त्र के द्वारा परीक्षा करके पूजना योग्य है। जिनमें शास्त्रोक्त गुण नहीं पाये जाएँ उनको तो मूर्खों के सिवाय कोई भी नहीं पूजता। आजकल तो एक सच्ची श्रद्धा करनी ही कठिन है तो जीवन पर्यन्त चारित्र धारण करना कठिन कैसे नहीं होगा अर्थात् होगा ही इसलिये जो सम्यक् चारित्र के धारक हैं वे ही गुरु पूज्य हैं–ऐसा गाथा का भाव जानना।।१३६।।

शास्त्रानुसार परीक्षा करके ही गुरु को मानना

ता एगो जुगपवरो, मज्झत्थ मणेहिं समयदिट्ठीए।
सम्मं परिक्खियव्वो, मुत्तूण पवाह-हलबोलं।।१४०।।





अर्थः- इस कारण एक युगप्रधान जो आचार्य है उसका मध्यस्थ मन से पक्षपात रहित होकर व शास्त्र दृष्टि से लोक प्रवाह तजकर भली प्रकार परीक्षा करके निश्चय करना चाहिए[1]।।

भावार्थः- 'हमारे तो परम्परा से ये ही गुरु हैं इनके गुण–दोष के विचार करने का हमें क्या काम है'–इस प्रकार का पक्षपात व हठ छोड़कर जिस प्रकार शास्त्रों में गुरु के गुण–दोष कहे गये हैं उस प्रकार विचार करने चाहिएं और लोकमूढ़ता को छोड़कर गुरु को मानना चाहिये।।१४०।।

अज्ञानी गुरु के संग से ज्ञानी भी चलायमान

संपइ दूसम समये, णामायरिएहिं जणिय जण मोहा।
सुद्ध धम्माउ णिउणा, चलंति बहुजण-पवाहाओ।।१४१।।

अर्थः- आज इस दुःखमा पंचम काल में जो नामाचार्य हैं अर्थात् आचार्य के गुणों से रहित होकर भी आचार्य कहलाते हैं उन्होंने लोक में ऐसा गहल भाव फैला दिया है जिससे निपुण पुरुष ही शुद्ध धर्म से चलायमान हो जाते हैं तो फिर भोले जीव क्यों नहीं चलायमान होंगे अर्थात् होंगे ही होंगे। कैसा है वह गहल भाव? मूर्ख जीवों द्वारा चलाया हुआ बहुत जनों के प्रवाह रूप है जिसे अनेक ज्ञानी जीव भी मानने लगते हैं।।

१. टि०–सागर प्रति में इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है:–
अर्थः- इसलिये माध्यस्थ्य भाव से स्वसमय में स्थिति के लिये भेड़चाल को छोड़कर एवं पक्षपात रहित होकर शास्त्रानुसार अच्छी तरह से परीक्षा द्वारा निश्चय करके किसी युगप्रधान आचार्य को गुरु मानना चाहिये।





भावार्थः- परिग्रहधारी कुगुरु के निमित्त से बुद्धिमानों की भी बुद्धि चलायमान हो जाती है अतः कुगुरुओं का निमित्त मिलाना योग्य नहीं है।।१४१।।

मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टि में अन्तर

जाणिज्ज मिच्छदिट्ठी, जे पडणालंबणाइं गिण्हंति।
जे पुण सम्मादिट्ठी, तेसिं मणो चडण पयडीए।।१४२।।

अर्थः- जो जीव 'पतनालम्बन' अर्थात् नीचे गिरने रूप आलंबन को ग्रहण करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं—ऐसा तू जान और जिनका मन ऊपर चढ़ने रूप सीढ़ी में रहता है वे सम्यग्दृष्टि हैं।।

भावार्थः- जिन जीवों को अणुव्रत—महाव्रतादि रूप ऊपर की दशा का त्याग करके निचली दशा रुचिकर होती है वे मिथ्यादृष्टि ही हैं तथा सम्यक्त्वादि ऊपर का धर्म धारण करने का जिनका भाव है वे सम्यग्दृष्टि हैं—ऐसा जानना [१]।।१४२।।

टि०—१. सागर प्रति में इस गाथा का भावार्थ इस प्रकार है:—
भावार्थः- जो जीव महाव्रत धारण करके धन—धान्यादि परिग्रह रखना आदि निचली अवस्था का आचरण करते हैं और अपने को गुरु—महन्त मनवाकर भोले जीवों से पुजवाते हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव पत्थर की नाव के समान हैं और जो जीव सत्यार्थ देव—गुरु—धर्म की श्रद्धा करके अणुव्रत आदि को धारण करने के भाव रखते हैं वे सम्यग्दृष्टि हैं।





सुमार्गरत पुरुषों का मिलाप दुर्लभ है

सव्वं पि जए सुलहं, सुवण्ण-रयणाइं वत्थु-वित्थारं।
णिच्चं चिअ मेलावं, सुमग्ग-णिरयाण अइ-दुलहं।।१४३।।

अर्थः- जगत में स्वर्ण–रत्न आदि वस्तुओं का विस्तार तो सब ही सुलभ है परन्तु जो सुमार्ग में रत हैं अर्थात् जिनमार्ग में यथार्थतया प्रवर्तते हैं उनका मिलाप निश्चय से नित्य ही अत्यन्त दुर्लभ है।।१४३।।

देव–गुरु की पूजा से मानपोषण दुश्चरित्र है

अहिमाण-विस-समत्थं, यं च थुव्वंति देव गुरुणोयं।
तेहिं पि जइ माणो, हा ! हा ! तं पुव्व-दुच्चरियं।।१४४।।

अर्थः- अभिमान रूपी विष को उपशमाने के लिये अरिहन्त देव अथवा निर्ग्रन्थ गुरुओं का स्तवन किया जाता है अर्थात् उनके गुण गाये जाते हैं परन्तु हाय ! हाय !! उससे भी कोई मान पोषण करे तो यह उसके पूर्व पाप का ही उदय है, दुश्चरित्र है।।

भावार्थः- अरिहन्तादि वीतराग हैं उनकी पूजा, भक्ति एवं स्तुति आदि से मानादि कषायों की हीनता होती है परन्तु जो कोई जीव उनसे भी उल्टे अपनी मानादि कषायों को पुष्ट करे कि 'हम बड़े भक्त हैं, बड़े ज्ञानी हैं और हमारा बड़ा चैत्यालय है आदि' तो वे बड़े अभागे हैं।।१४४।।





लोकाचार में प्रवर्तने वाला जैन नहीं है

जो जिण आयरणाए, लोओ ण मिलेइ तस्स आयारे।
हा ! हा ! मूढ करिंतो, अप्पं कह भणसि जिणप्पणहं।।१४५।।

अर्थः- कोई जीव जिनराज के आचार में प्रवर्तते हैं उस पर भी लोग उनके आचार में सम्मिलित नहीं होते हैं तो हाय ! हाय !! लोकाचार[1] में प्रवर्तते हुए मूढ़जन अपने को जैनी किस प्रकार कहते हैं !।।

भावार्थः- जैनियों की रीति तो अलौकिक है–लोक से न्यारी है, उसे ही दिखाते हैं। जैनी वीतराग को देव मानते हैं, लोग रागी–द्वेषी को देव मानते हैं; जैनी अपरिग्रही निर्ग्रन्थ साधु को गुरु मानते हैं, लोग परिग्रही सग्रन्थ को गुरु मानते हैं व जैनी अहिंसा–दया में धर्म मानते हैं, लोग यज्ञादि–हिंसा में धर्म मानते हैं इत्यादि और भी लोक से उल्टी रीति जैनियों की है सो लौकिक जो कुदेव हैं उनके पूजनादि की कोई प्रवृत्ति करवाए एवं उनका प्रचार करे तो वह जैनी कैसा ! तात्पर्य यह जानना कि वह जैन नहीं है।।१४५।।

जिननाथ की बात को मानने वाले विरल हैं

जं चिय लोओ मण्णइ, तं चिय मण्णंति सयल लोया वि।
जं मण्णइ जिणणाहो, तं चिय मण्णंति किवि विरला।।१४६।।

१. अर्थ–लोकमूढ़ता।





अर्थः- जो बात निश्चय से अज्ञानी लोग मानते हैं उसको तो सारा लोक मानता ही है परन्तु जो बात जिनेन्द्र देव मानते हैं उसे तो कोई विरले जीव ही मानते हैं।।

भावार्थः- अज्ञानी जीवों को जो धन–धान्यादि उत्कृष्ट भासित होते हैं, वे तो सभी मोही जीवों को स्वयमेव उत्कृष्ट भासित होते ही हैं परन्तु वीतराग भाव को उत्कृष्ट व हित मानने वाले बहुत थोड़े हैं क्योंकि जिनकी भली होनहार है अर्थात् निकट संसार है और मोह मंद हो गया है उनको ही वीतरागता रुचती है।।१४६।।

साधर्मी के प्रति अहितबुद्धि वाला मिथ्यात्वी है

साहम्मि आउ अहिओ, बंधु सुआइसु जाण अणुराओ।
तेसिं ण हु सम्मत्तं, विण्णेयं समयणीईए।।१४७।।

अर्थः- जिन्हें साधर्मियों के प्रति तो अहितबुद्धि है और बंधु–पुत्र आदि के प्रति अनुराग है उन्हें प्रकटपने सम्यक्त्व नहीं है–ऐसा सिद्धान्त के न्याय से जानना चाहिये।।

भावार्थः- सम्यक्त्व के अंग तो वात्सल्यादि भाव हैं सो जिसे साधर्मी के प्रति प्रेम नहीं है उसे सम्यक्त्व नहीं है। पुत्रादि से प्रीति तो मोह के उदय से सब ही जीवों को होती है, उसमें कुछ भी सार नहीं है–ऐसा जानना।।१४७।।





जिनदेव का ज्ञाता लोकाचार को कैसे माने

जइ जाणसि जिणणाहो, लोयायारव्व पक्ख पउहूओ।
ता तं तं मण्णंतो, कह मण्णसि लोय-आयारं।।१४८।।

अर्थः- यदि तुम लोकाचार से बहिर्भूत जिनेन्द्र भगवान को जानते हो तो उनको मानते हुए तुम लोकाचार को कैसे मानते हो!।।

भावार्थः- जिनमत तो अलौकिक है यदि उसे मानते हो तो उससे विरुद्ध मिथ्यादृष्टियों की रीति को मत मानो–ऐसा गाथा का भाव जानना।।१४८।।

मिथ्यात्व से ग्रस्त जीवों का कौन वैद्य है

जो मण्णे वि जिणिंदं, पुणो वि पणमंति इयर देवाणं।
मिच्छत्त-सण्णिवाइय, धत्थाणं ताण को विज्जो।।१४६।।

अर्थः- जो जीव जिनेन्द्र भगवान को मानकर भी अन्य कुदेवों को प्रणाम करते हैं उन मिथ्यात्व रूपी सन्निपात से ग्रस्त जीवों का कौन वैद्य है!।।

भावार्थः- अन्य जीव तो मिथ्यादृष्टि ही हैं परन्तु जो जीव जैन होकर भी रागादि दोषों सहित अन्य देवों को पूजते हैं एवं प्रणाम करते हैं वे महा मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्यात्व के नाश का उपाय जिनमत है और जिनमत को पा करके भी जिनका मिथ्यात्व रूपी रोग न जाये तो फिर उसका कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।।१४६।।





धर्मायतनों में भेद डालना जिनमत की रीति नहीं

एगो सुगुरु एगो वि, सावगो चेइयाइं विविहाणि।
तत्थय जं जिणदव्वं, परप्परं तं ण विच्चंति।।१५०।।
ते ण गुरु णो सावय, ण पूय होइ तेहि जिणणाहो।
मूढाणं मोहठिइ, जाणं जइ समय-णिउणेहिं।।१५१।।

अर्थः- सद्गुरु जो निर्ग्रंथ गुरु वे सब एक हैं और श्रावक भी एक हैं और नाना प्रकार के चैत्य अर्थात् जिनबिंब भी एक हैं–ऐसा होने पर भी जो जिनद्रव्य अर्थात् चैत्यालय के द्रव्य को परस्पर एक–दूसरे के काम में खर्च नहीं करते हैं वे गुरु नहीं हैं और श्रावक भी नहीं हैं और उन्होंने भगवान को पूजा भी नहीं। उन मूर्ख जीवों की ऐसी मिथ्या परिणति शास्त्र–ज्ञानियों द्वारा ही जानी जाती है।।

भावार्थः- कितने ही जीव चैत्यालय आदि में भेद मानते हैं कि ये चैत्यालयादि तो हमारे हैं और ये दूसरों के हैं–ऐसा मानकर परस्पर भक्ति नहीं करते तथा धन भी खर्च नहीं करते वे मिथ्यादृष्टि हैं क्योंकि इस प्रकार का भेद डालना जिनमत की रीति नहीं है।।१५०–१५१।।

धर्मायतनों में भेद करने वाला गुरु नहीं

सो ण गुरु जुगपवरो, जस्सय वयणम्मि वट्टए भेओ।
चियभवण सावगाणं, साहारण दव्वमाईणं।।१५२।।

अर्थः- जिसके वचन में जिनमंदिर और श्रावक और पंचायती द्रव्य इत्यादि में भेद वर्तता है वह युगप्रधान गुरु नहीं है।।





भावार्थः- कोई मंदिर जी में रहने वाले रक्तांबर अथवा भट्टारक आदि कहते हैं कि यह हमारा मंदिर है, ये हमारे श्रावक हैं, यह हमारा द्रव्य है तथा वे चैत्यालय आदि हमारे नहीं हैं–इस प्रकार जो भेद मानते हैं वे गुरु नहीं हैं। गुरु तो बाह्य–अभ्यन्तर परिग्रह रहित जो वीतराग हों वे ही हैं–ऐसा तात्पर्य जानना।।१५२।।

मिथ्यात्व की गाँठ का माहात्म्य

संपइ पहुवयणेण वि, जाव ण उल्लसइ विहि-विवेयत्तं।
ता निविड मोह मिच्छत, गंठिया दुट्ठ माहप्पं।।१५३।।

अर्थः- आज इस काल में जीव को जिनराज प्रभु के वचनों से भी जब तक हित–अहित का विचार और स्व–पर का विवेक उल्लसित नहीं होता तब तक उसे मोह मिथ्यात्व की मजबूत गाँठ का खोटा माहात्म्य है अर्थात् मिथ्यात्व की प्रचुरता है।।

भावार्थः- जिनवचनों को पा करके भी यदि हित–अहित का ज्ञान नहीं हुआ तो ऐसा समझना कि उसके मिथ्यात्व का तीव्र उदय है।।१५३।।

प्रभु वचनों की आसादना महादुःख का कारण है

बंधण मरण भयाइं, दुहाइं तिक्खाइं णेय दुक्खाइं।
दुक्खाण-दुह-णिहाणं, पहुवयण असायणा करणं।।१५४।।





अर्थः- इस लोक में बंधन और मरण के भय आदि का दुःख तीव्र दुःख नहीं है, दुखों में दुःख का निधान तो जिनप्रभु के वचनों की आसादना अर्थात् विराधना करना है।।

भावार्थः- बंधनादि तो वर्तमान ही में दुःखदायी हैं पर भगवान की वाणी का लोपना अनंत भव में दुःखदायी है इसलिये जिनाज्ञा भंग करना महा दुःखदायी जानना।।१५४।।

आत्मज्ञान बिना सुश्रावकपना नहीं

पहुवयण-विहि-रहस्सं, णाऊण वि जाव ण दीसइ अप्पा।
ता कह सुसावगत्तं, जं चिण्णं धीरपुरुसेहिं।।१५५।।

अर्थः- जिनवचनों के विधान का रहस्य जानकर भी जब तक आत्मा को नहीं देखा जाता तब तक सुश्रावकपना कैसे होगा? श्रावकपना तो आत्मज्ञानपूर्वक धीर पुरुषों द्वारा आचरण किया जाता है।।

भावार्थः- प्रथम जिनवाणी के अनुसार आत्मज्ञानी होकर पश्चात् श्रावक के वा मुनि के व्रत धारण करे–ऐसी रीति है इसलिए जिसे आत्मा का ज्ञान नहीं उसके सच्चा श्रावकपना भी नहीं होता–ऐसा जानना।।१५५।।

जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने का मनोरथ

जह वि हु उत्तम सावय, पयडीए चडण करण असमत्थो।
तह वि पहुवयण करणे, मणोरहो मज्झ हिययम्मि।।१५६।।





अर्थः- यद्यपि मैं उत्तम श्रावक की पैड़ी पर चढ़ने में असमर्थ हूँ तथापि प्रभु के वचनों के अनुसार करने का मनोरथ मेरे हृदय में सदा बना रहता है।।

भावार्थः- मैं शक्ति की हीनता के कारण श्रावक के उत्कृष्ट व्रतों को धारण करने में असमर्थ हूँ तो भी मुझे जिनाज्ञा प्रमाण धर्म धारण करने की लालसा है–इस प्रकार ग्रंथकार ने भावना भाई है।।१५६।।

प्रभु के चरणों में प्रार्थना

ता पहु पणमिय चरणे, इक्कं पत्थेमि परम भावेण।
तुह वयण-रयण-गहणे, अइलोहो हुज्ज मुज्झ सया।।१५७।।

अर्थः- हे प्रभु ! परम भाव से आपके चरणों में प्रणाम करके एक प्रार्थना करता हूँ कि 'आपके वचन रूपी रत्नों को ग्रहण करने का मुझे सदा अत्यन्त लोभ हो'–ऐसी ग्रन्थकार ने इष्ट प्रार्थना की है।।१५७।।

गुरु के बिना सुख कैसे हो

इह मिच्छवास णिक्किट्ठ, भावउ गलिय गुरु-विवेयाणं।
अह्माण कह सुहाइं, संभाविज्जंति सुविणे वि।।१५८।।

अर्थः- इस पंचम काल में मिथ्यात्व के निवास रूप निकृष्ट भाव से जिनका गुरु–विवेक नष्ट हो गया है ऐसे हम लोगों को स्वप्न में भी सुख की संभावना कैसे हो !।।

भावार्थः- सुख का मूल विवेक है और वह विवेक श्री गुरु की कृपा





से होता है सो इस काल में सत्यार्थ गुरु का निमित्त मिलना ही कठिन है तो सुख कैसे हो!।।१५८।।

पंचम काल में श्रावक कहलाना भी आश्चर्य है

जं जीविय मत्तं वि हु, धरेमि णामं पि सावयाणं च।
तं पि पहु! महाचुज्जं, इह विसमे दूसमे काले।।१५९।।

अर्थः- इस विषम दुःखमा पंचम काल में मैं जो यह जीवन मात्र धारण किये हुए हूँ और श्रावक का नाम भी धारण किये हुए हूँ वह भी हे प्रभो! महान आश्चर्य है।।

भावार्थः- इस काल में मिथ्यात्व की प्रवृत्ति बहुत है इस कारण हम जीवित हैं और श्रावक कहलाते हैं यह भी आश्चर्य है। इस प्रकार श्रावकपने की इस काल में दुर्लभता दिखाई है।।१५९।।

सम्यक्त्व प्राप्ति की भावना

परिभाविऊण एवं, तह सुगुरु करिज्ज अम्ह सामित्तं।
पहु सामग्गि सुजोगे, जह सुलहं होइ सम्मत्तं।।१६०।।

अर्थः- इस प्रकार विचार कर कहते हैं कि 'हे प्रभो! मुझ पर ऐसा स्वामिपना करो जिससे मुझे गुरु की सामग्री का सुयोग प्राप्त होकर सम्यक्त्व सुलभ हो जाये' अथवा 'जह सुलहं होइ सम्मत्तं' के स्थान





पर 'जह सहलं होइ मणुयत्तं' पाठ भी मिलता है जिसका अर्थ है कि 'ऐसा करो जिससे मेरा मनुष्यपना सफल हो जाये'।।१६०।।

अंतिम निवेदन–ग्रन्थाभ्यास की प्रेरणा

एवं भण्डारिय णेमि, चन्द रइया वि कइट्ठि गाहाओ।
विहि मग्गरया भव्वा, पठंतु जाणंतु जंतु सिवं।।१६१।।

अर्थः- इस प्रकार भण्डारी नेमिचन्द द्वारा रचित ये कुछ गाथाएँ हैं उनको हे भव्य जीवों! तुम पढ़ो, जानो और कल्याण रूप मोक्ष पद प्राप्त करो। कैसे हैं भव्य जीव? विधि के मार्ग में रत हैं अर्थात् यथार्थ आचरण में तत्पर हैं।।१६१।।



ग्रन्थ की गाथा-सूत्रों की वचनिका समाप्त हुई।

इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका तो थी नहीं परन्तु कुछ टिप्पण था, उससे विधि मिलाकर जैसा मेरी बुद्धि में प्रतिभासित हुआ वैसा अर्थ लिखा है। कहीं भूल अवश्य हुई होगी सो बुद्धिमान शोध लेना। आम्नाय विरुद्ध अर्थ तो मैंने लिखा नहीं परन्तु यदि गाथा के कर्ता का अभिप्राय कहीं कुछ और हो तो समझ लेना।

सवैया

रागादिक दोष जामैं पाइये कुदेव सोय,
ताको त्यागि वीतराग देव उर लाइये।
वस्त्रादिक ग्रन्थ धारि कुगुरु विचारि तिन्हैं,
गुरु निर्ग्रन्थ को यथार्थ रूप ध्याइये।
हिंसामय कर्म सो कुधर्म जानि दूरि त्यागि,
दयामय धर्म ताहि निसदिन भाइये।
सम्यक् दरस मूल कारण सरस ये ही,
इनिके विचार मैं न कहुं अलसाइये।।

अर्थ–रागादि दोष जिनमें पाये जाते हैं वे कुदेव हैं उनका त्याग करके वीतराग देव को हृदय में धारण करना, वस्त्रादि परिग्रहधारियों का कुगुरु रूप से विचार करके निर्ग्रंथ गुरु के यथार्थ स्वरूप का ध्यान करना तथा हिंसामय कर्म को कुधर्म जानकर उसका दूर से ही त्याग करके दयामय धर्म की निशिदिन भावना करनी–ये ही सरस सम्यग्दर्शन के मूल कारण हैं, इनके विचार में कभी भी आलस्य–प्रमाद नहीं करना।

छप्पय

मंगल श्री अर्हन्त संत जन चिंतित दायक,
मंगल सिद्ध समूह सकल ज्ञेयाकृति ज्ञायक।
मंगल सूरि महंत भूरि गुणवंत विमल मति,
उपाध्याय सिद्धान्त पाठ कारक प्रवीन अति।
निज सिद्ध रूप साधन करत, साधु परम मंगल करण।
मन-वचन-काय लव लाय नित, 'भागचंद' वंदत चरण।।

अर्थ–संतजनों को चिन्तित पदार्थ को देने वाले श्री अर्हंत देव मंगल हैं, सकल ज्ञेयाकृतियों के ज्ञायक श्री सिद्धों का समूह मंगल है, प्रचुर गुणवान और निर्मल बुद्धि के धारक महान आचार्य तथा सिद्धान्त के पाठ करने में अत्यंत प्रवीण उपाध्याय मंगल हैं एवं निज सिद्ध रूप का साधन करने वाले साधुजन परम मंगल को करने वाले हैं इनकी मन–वचन–काय से लौ लगाकर भागचंद जी नित्य वंदना करते हैं।

छप्पय

गोपाचल के निकट सिंधिया नृपति कटक वर,
जैनी जन बहु बसह जहां जिन भाव भक्ति भर।
तिनिमैं तेरह पंथ गोष्ठ राजत विशिष्ट अति,
पार्श्वनाथ जिनधाम रच्यौ जिन शुभ उतुंग अति।
तहं देस वचनिका रूप यह, 'भागचन्द' रचना करिय।
जयवंत होउ सतसंग नित, जा प्रसाद बुधि विस्तरिय।।

अर्थ–गोपाचल पर्वत के निकट सिंधिया राजा का श्रेष्ठ नगर था जिसमें जिनभक्ति के भाव से भरे हुए बहुत जैनीजनों का निवास था। उसमें पार्श्वनाथ भगवान का अत्यंत शुभ और ऊँचा जिनमंदिर था जिसमें अत्यंत विशिष्ट तेरहपंथ की गोष्ठी सुशोभित थी। वहाँ पर पं० श्री भागचंद जी ने यह देशवचनिका रूप रचना की। सत्संग नित्य जयवंत रहे जिसके प्रसाद से बुद्धि का विस्तार हुआ।

दोहा

संवत्सर गुनईस सै, द्वादस ऊपरि धार।
दोज कृष्ण आसाढ़ की, पूर्ण वचनिका सार।।

अर्थ–संवत्सर उन्नीस सौ बारह के आसाढ़ मास के कृष्ण पक्ष की दूज तिथि को यह सारभूत वचनिका पूर्ण हुई।

सम्पूर्णोऽयंग्रंथः

इस शास्त्र



को पढ़कर

जो ज्ञान की भावना में तत्पर होकर
सुरत अर्थात् भली प्रकार लीन होता है
वह मोक्ष पाता है।


गाथा
चित्रावली

गाथा १



पंच नमस्कार मंत्र



अरहंत देव



निर्ग्रन्थ गुरु

१. चार घातिया कर्मों का नाश करके अनंत ज्ञानादि को प्राप्त कर लिया है जिन्होंने ऐसे अरहन्त देव, २. अंतरंग मिथ्यात्वादि तथा बहिरंग वस्त्रादि परिग्रह से रहित ऐसे प्रशंसनीय गुरु, ३. हिंसादि दोष रहित जिनभाषित निर्मल धर्म और ४. पंच परमेष्ठी वाचक पंच णमोकार मंत्र- ये चार पदार्थ



जिनभाषित धर्म

अपना कार्य जिन्होंने कर लिया है
ऐसे उत्तम कृतार्थ पुरुषों के हृदय में
निरन्तर बसते हैं।



अरहंत के ध्यानयुक्त मुनि



निर्ग्रंथ गुरु मेरे प्राण हैं।



मेरे हृदय में बसा है जिनधर्म



णमोकार मंत्र जप

गाथा २

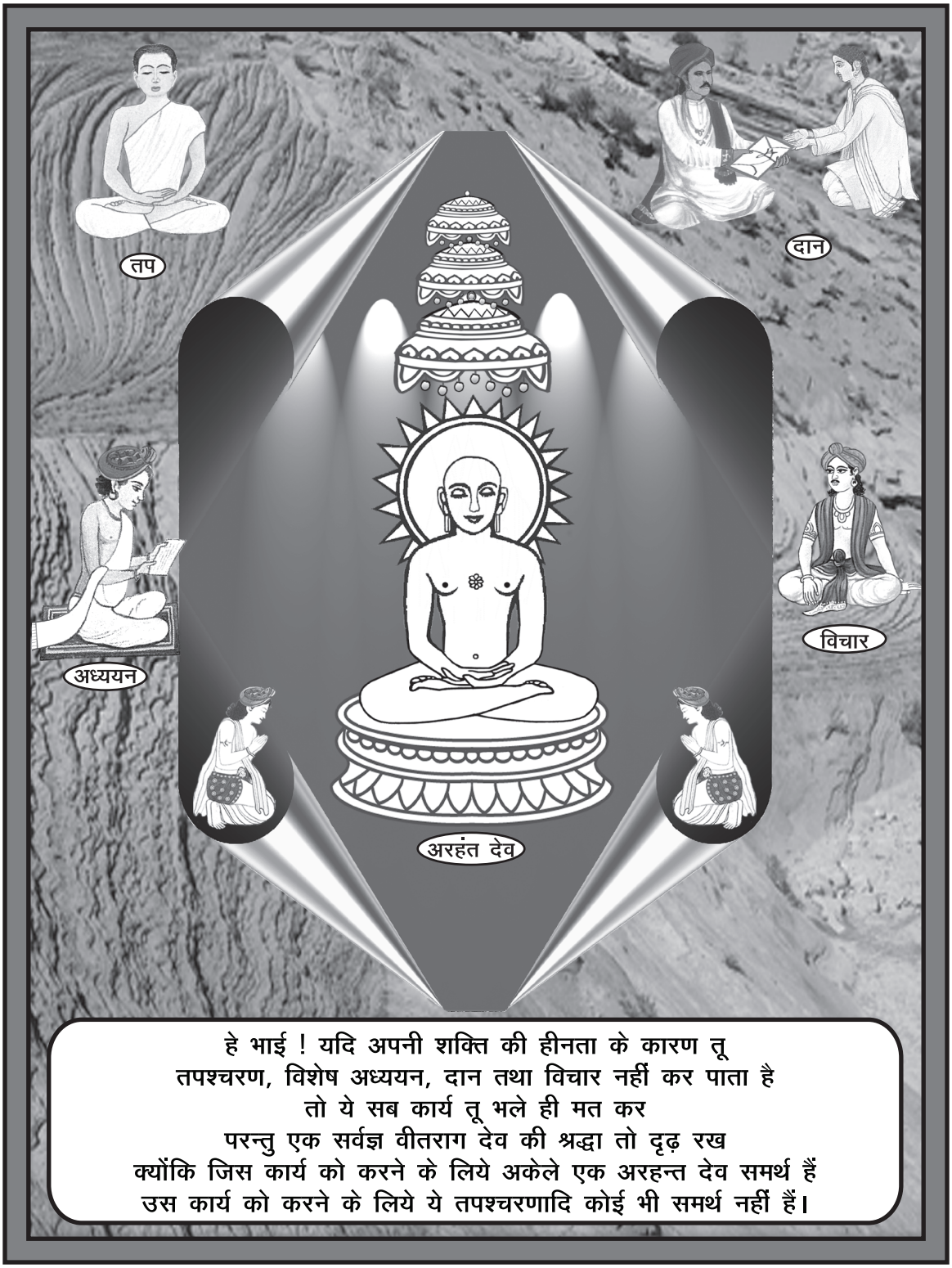

हे भाई ! यदि अपनी शक्ति की हीनता के कारण तू
तपश्चरण, विशेष अध्ययन, दान तथा विचार नहीं कर पाता है
तो ये सब कार्य तू भले ही मत कर
परन्तु एक सर्वज्ञ वीतराग देव की श्रद्धा तो दृढ़ रख
क्योंकि जिस कार्य को करने के लिये अकेले एक अरहन्त देव समर्थ हैं
उस कार्य को करने के लिये ये तपश्चरणादि कोई भी समर्थ नहीं हैं।

गाथा ३



रे जीव ! जिनेन्द्रभाषित धर्म अकेला ही
संसार के समस्त दुःखों को हरने वाला है
अतः हे मूढ़मति ! सुख के लिये अन्य हरिहरादि कुदेवों को
नमस्कार करता हुआ तू संसार में ही घूमा है।

गाथा ५

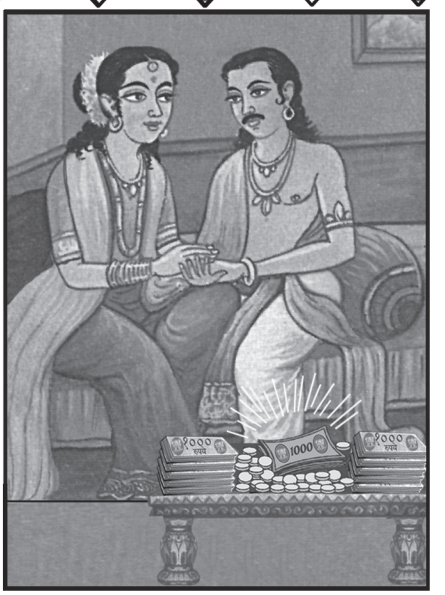

जैसे
कोई वेश्यासक्त पुरुष
अपना धन ठगाता हुआ भी
हर्ष मानता है

वैसे ही
मिथ्या वेषधारियों द्वारा ठगाते हुए जीव अपनी धर्म रूपी निधि के नष्ट होते हुए भी इस बात को मानते नहीं हैं, जानते नहीं हैं।

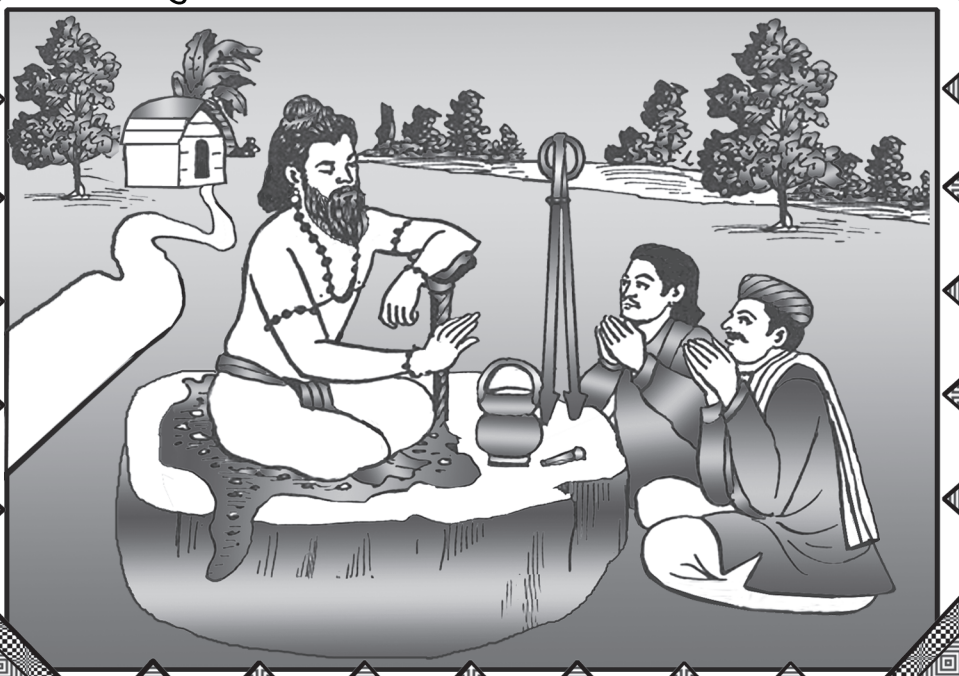

गाथा ८



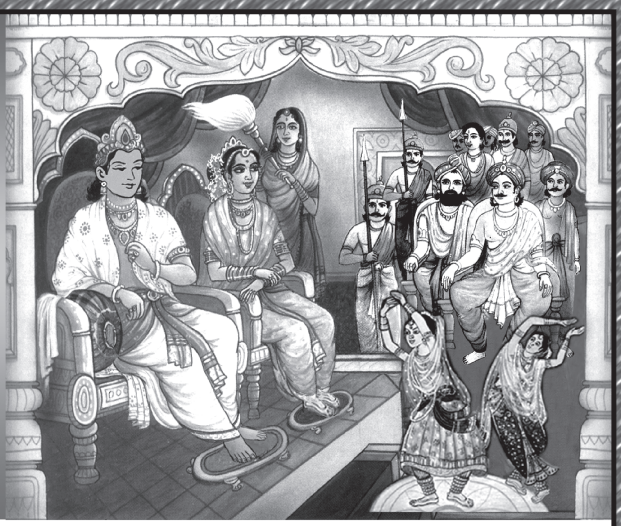

जब जिनवचनों को जानकर भी जीवों को संसार से उदासीनता नहीं होती तब फिर

जिनवचनों से रहित मिथ्यात्व से मारे हुए जो कुगुरु हैं उनके निकट संसार से उदासीनता कैसे होगी अर्थात् नहीं होगी।

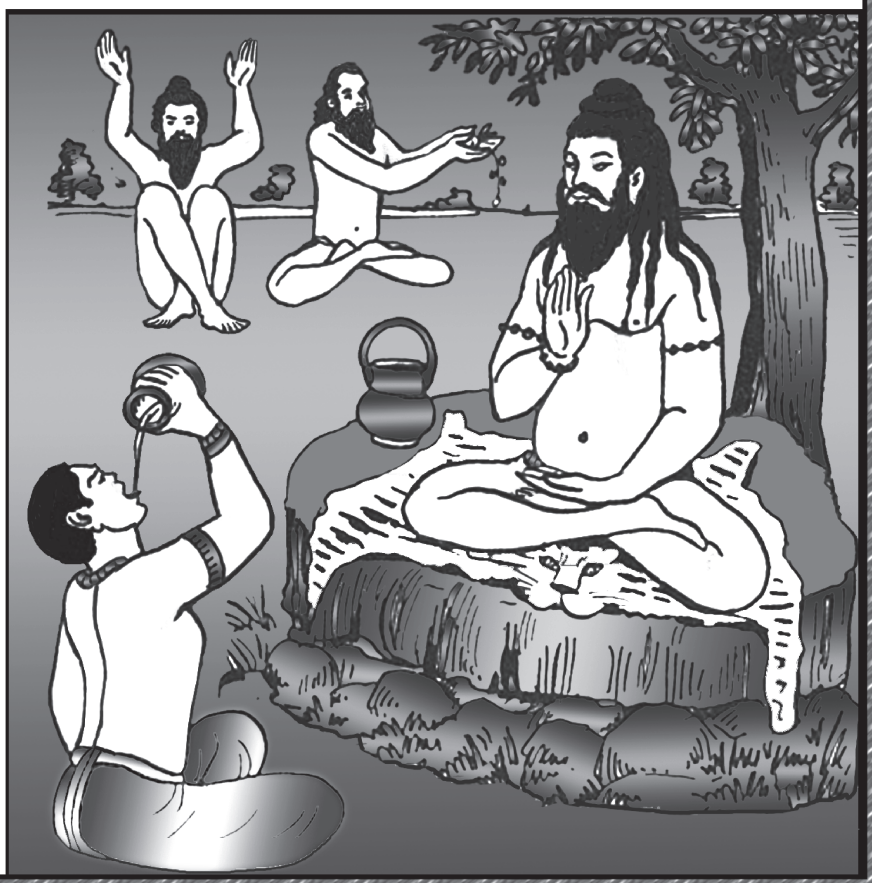

गाथा ६

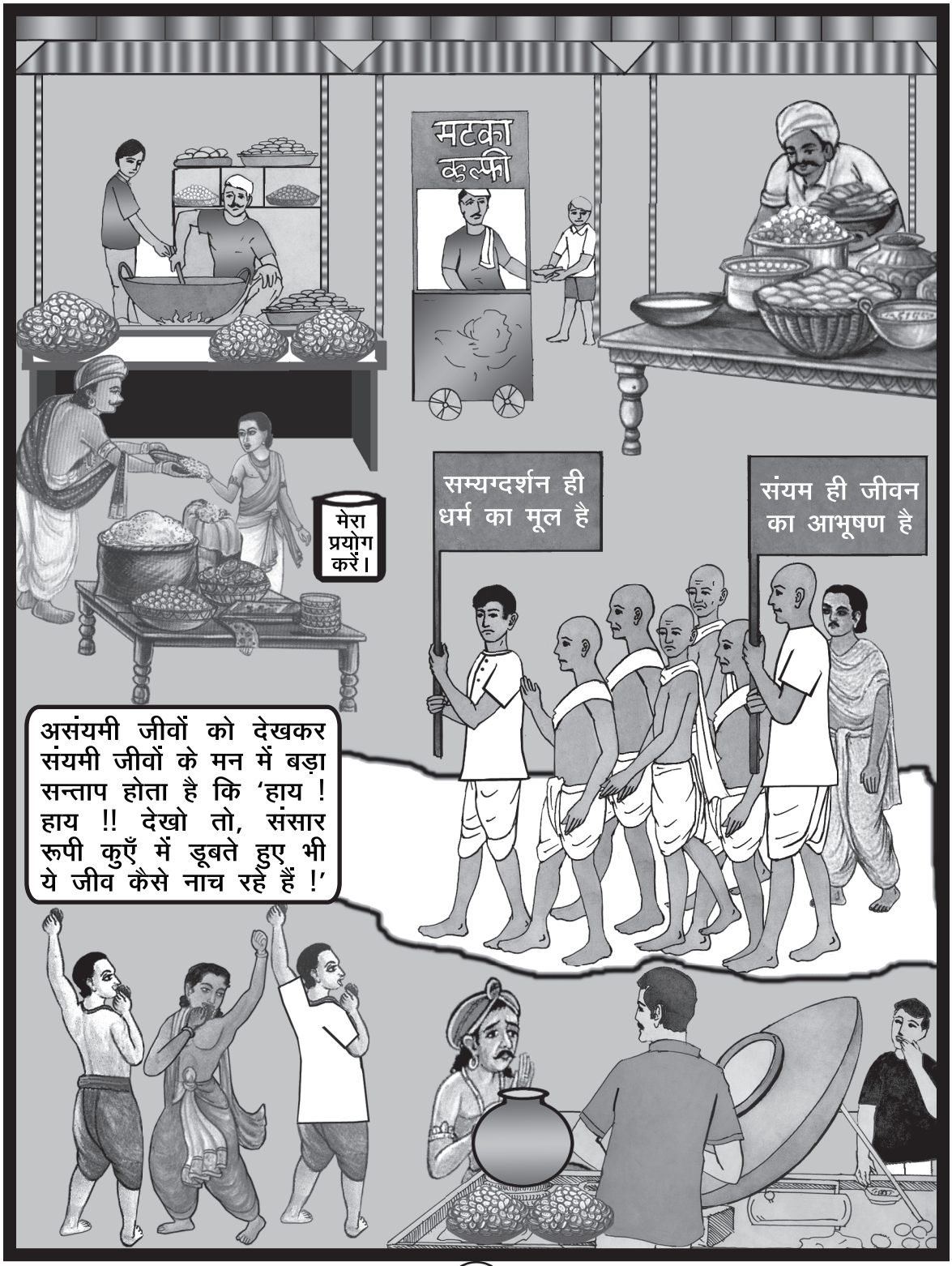
मटका कुल्फी
मेरा प्रयोग करें।
सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है
संयम ही जीवन का आभूषण है
असंयमी जीवों को देखकर संयमी जीवों के मन में बड़ा सन्ताप होता है कि 'हाय ! हाय !! देखो तो, संसार रूपी कुएँ में डूबते हुए भी ये जीव कैसे नाच रहे हैं !'

गाथा १०





नरक

नरक

व्यापारादि आरंभ से उत्पन्न हुआ जो पाप है उसके प्रभाव से जीव
नरकादि के तीक्ष्ण दुःखों को प्राप्त करता है

परन्तु
यदि



मिथ्यात्व का
एक अंश भी
विद्यमान हो
तो जीव
सम्यक्
दर्शन-ज्ञान-चारित्र
एवं तपमयी
बोधि को
प्राप्त नहीं
कर पाता है।

गाथा ११

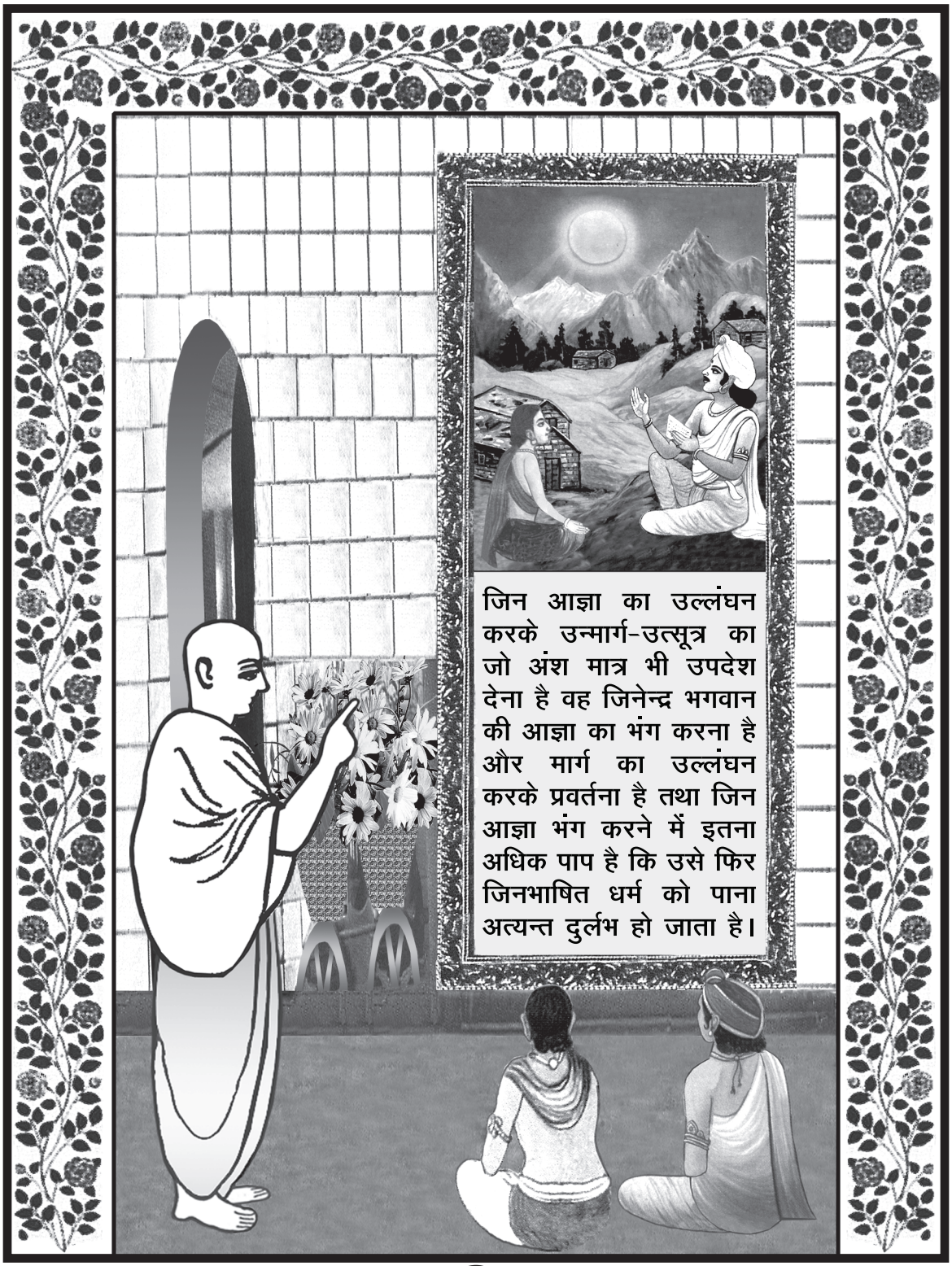

जिन आज्ञा का उल्लंघन करके उन्मार्ग-उत्सूत्र का जो अंश मात्र भी उपदेश देना है वह जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा का भंग करना है और मार्ग का उल्लंघन करके प्रवर्तना है तथा जिन आज्ञा भंग करने में इतना अधिक पाप है कि उसे फिर जिनभाषित धर्म को पाना अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है।

गाथा १४

अभी मिथ्यात्व, अन्याय और अभक्ष्य का सेवन कर ले फिर तू नरक जाएगा- यह शत-प्रतिशत सत्य है।



जिनसूत्र के अनुसार उपदेश देने वाला उत्तम वक्ता यदि रोष भी करे तो वह क्षमा का भंडार है

और

आज इस काल में ध्यान तो सधता नहीं बस शुभ भाव और क्रिया कर लो तो उससे ही मोक्ष हो जाएगा।

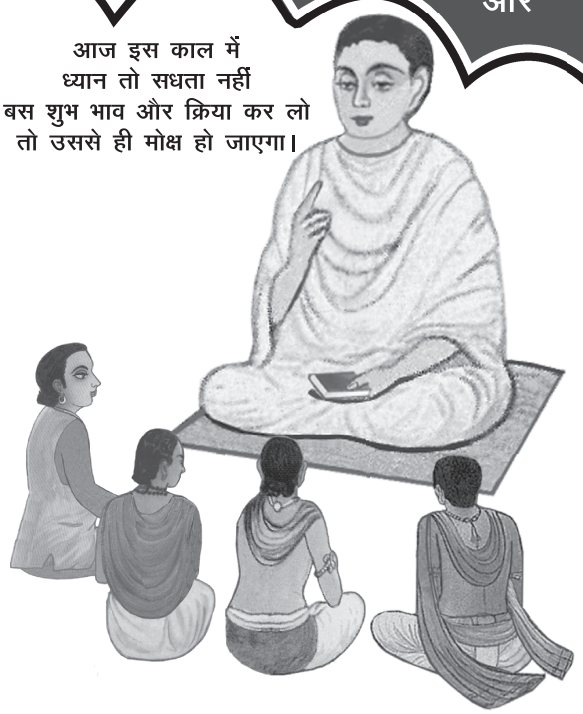

जो पुरुष जिनसूत्र के विरुद्ध उपदेश देता है उसकी क्षमा भी रागादि दोषों तथा मिथ्यात्व का ठिकाना है।

गाथा १५

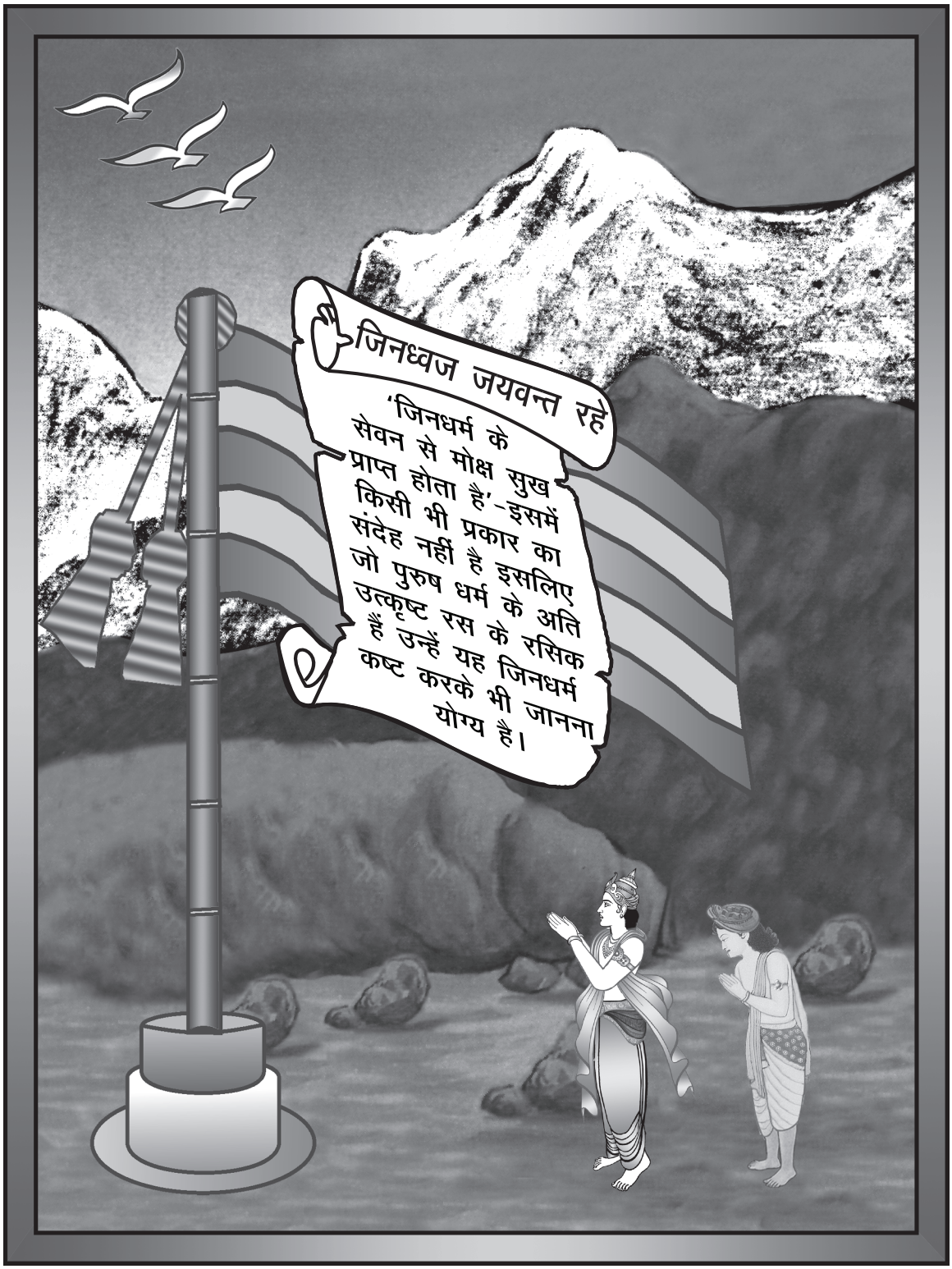
जिनध्वज जयवन्त रहे
'जिनधर्म के सेवन से मोक्ष सुख प्राप्त होता है'-इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं है इसलिए जो पुरुष धर्म के अति उत्कृष्ट रस के रसिक हैं उन्हें यह जिनधर्म कष्ट करके भी जानना योग्य है।

गाथा १६

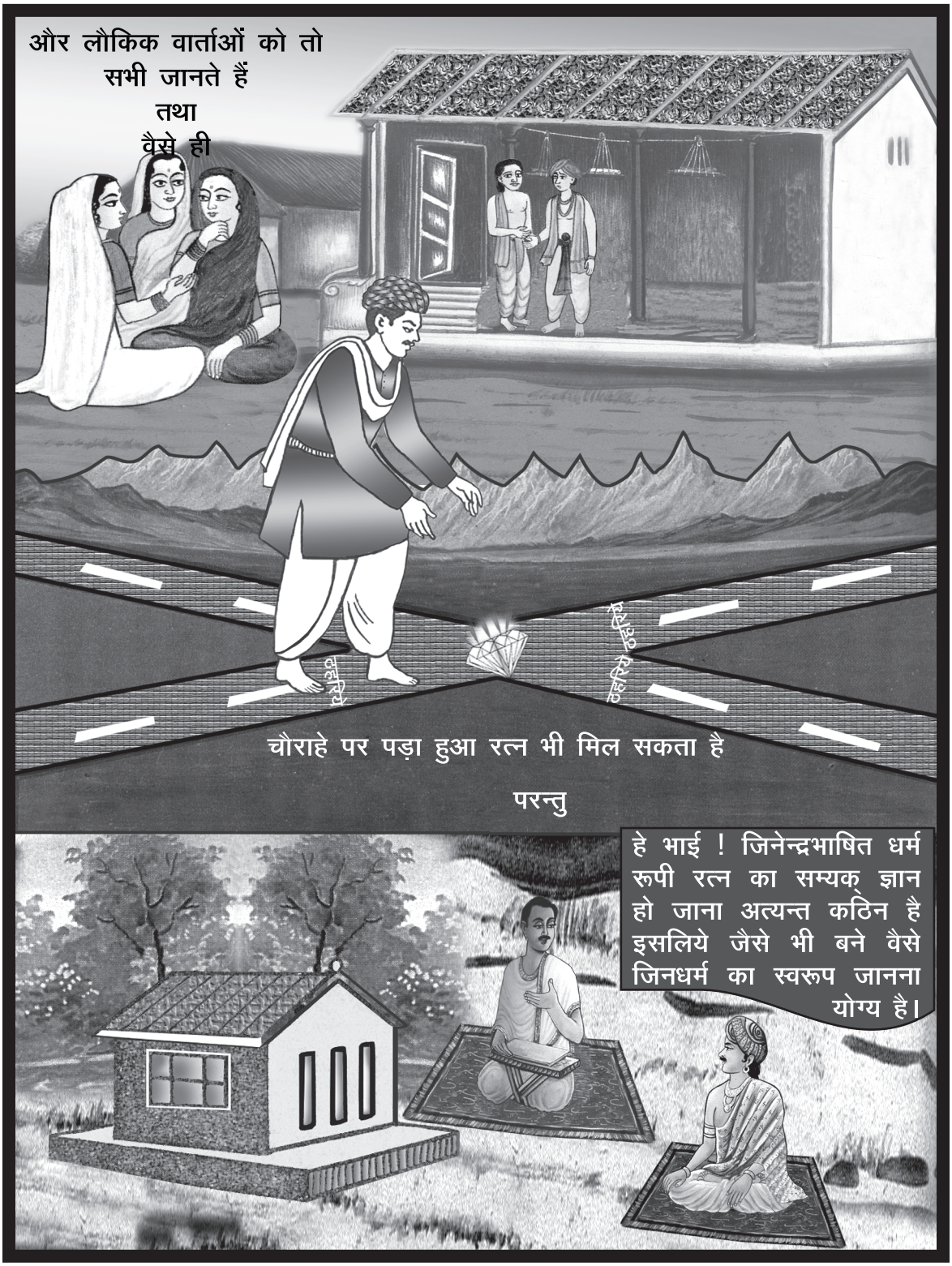
और लौकिक वार्ताओं को तो
सभी जानते हैं
तथा
वैसे ही
चौराहे पर पड़ा हुआ रत्न भी मिल सकता है
परन्तु
हे भाई ! जिनेन्द्रभाषित धर्म रूपी रत्न का सम्यक् ज्ञान हो जाना अत्यन्त कठिन है इसलिये जैसे भी बने वैसे जिनधर्म का स्वरूप जानना योग्य है।

गाथा १८

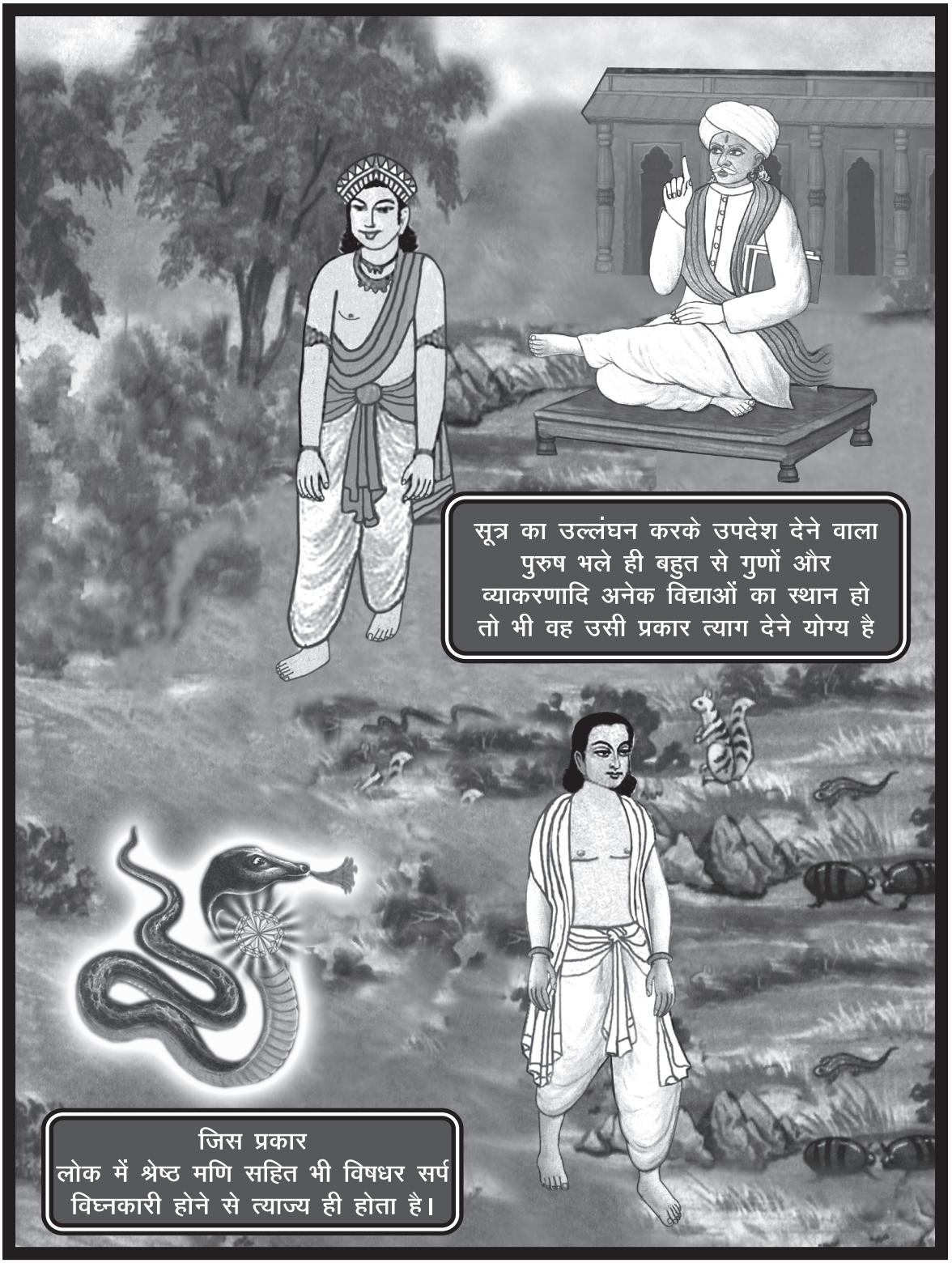
सूत्र का उल्लंघन करके उपदेश देने वाला
पुरुष भले ही बहुत से गुणों और
व्याकरणादि अनेक विद्याओं का स्थान हो
तो भी वह उसी प्रकार त्याग देने योग्य है
जिस प्रकार
लोक में श्रेष्ठ मणि सहित भी विषधर सर्प
विघ्नकारी होने से त्याज्य ही होता है।

गाथा २०



गृह-व्यापार के परिश्रम से
अज्ञानी जीवों का तो विश्राम

खेदखिन्न कितने ही
स्थान एक स्त्री ही है

१-५-पंच परमेष्ठी,
६-जिनचैत्य,

७-जिन चैत्यालय,
८-जिनश्रुत,
९-जिनधर्म।



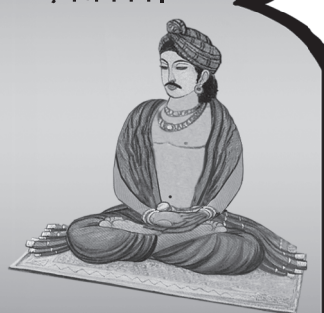



नवदेवता





परन्तु
ज्ञानी जीवों का तो जिनेन्द्रभाषित
श्रेष्ठ धर्म ही विश्राम का स्थान है।

गाथा २१

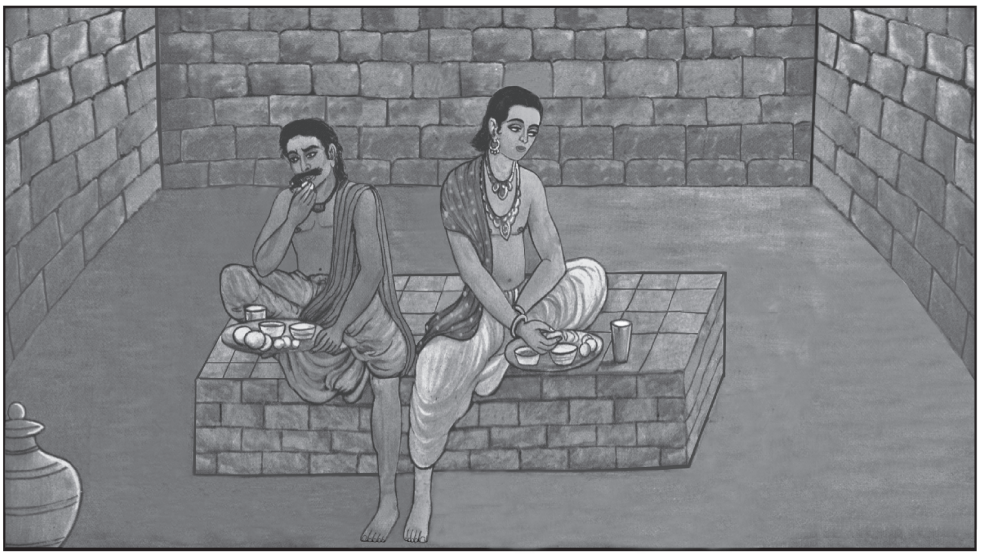

उदर भरने में समानता होने पर भी
ज्ञानी और अज्ञानी की क्रिया के फल में अन्तर तो देखो

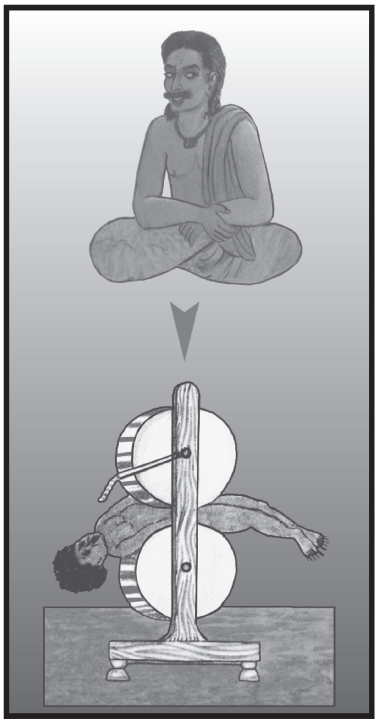

एक अज्ञानी को तो नरक का दुःख प्राप्त होता है।

दूसरे ज्ञानी को शाश्वत सुख प्राप्त होता है।

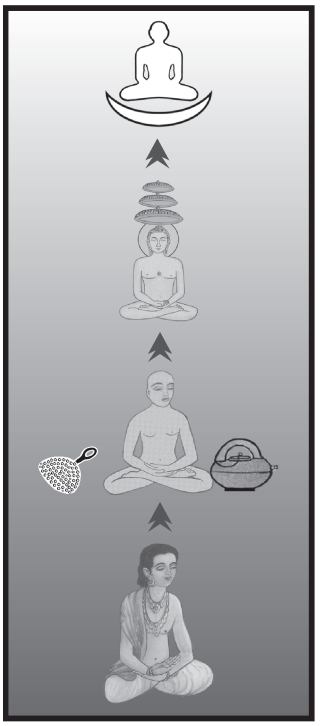

गाथा २२

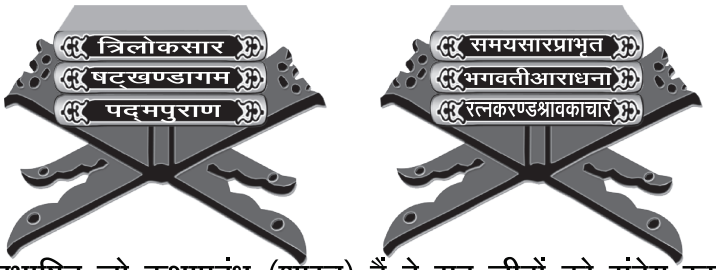

जिनभाषित जो कथाप्रबंध (शास्त्र) हैं वे सब जीवों को संवेग रूप हैं
अर्थात् धर्म में रुचि कराने वाले हैं

परन्तु



संवेग सम्यक्त्व के होने पर होता है
और
सम्यक्त्व शुद्ध देशना अर्थात् सुगुरु के उपदेश से होता है।

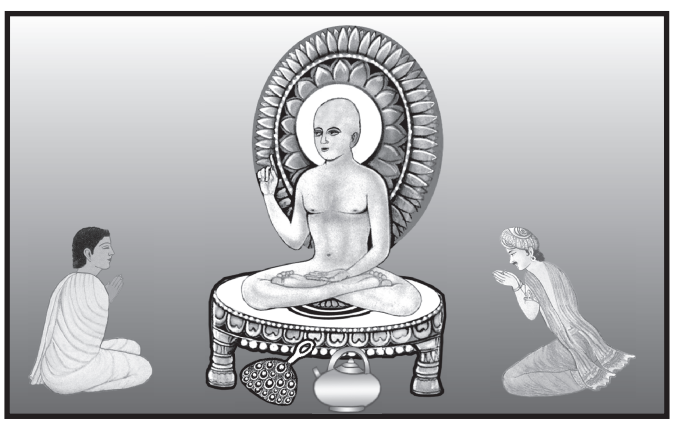

गाथा २३

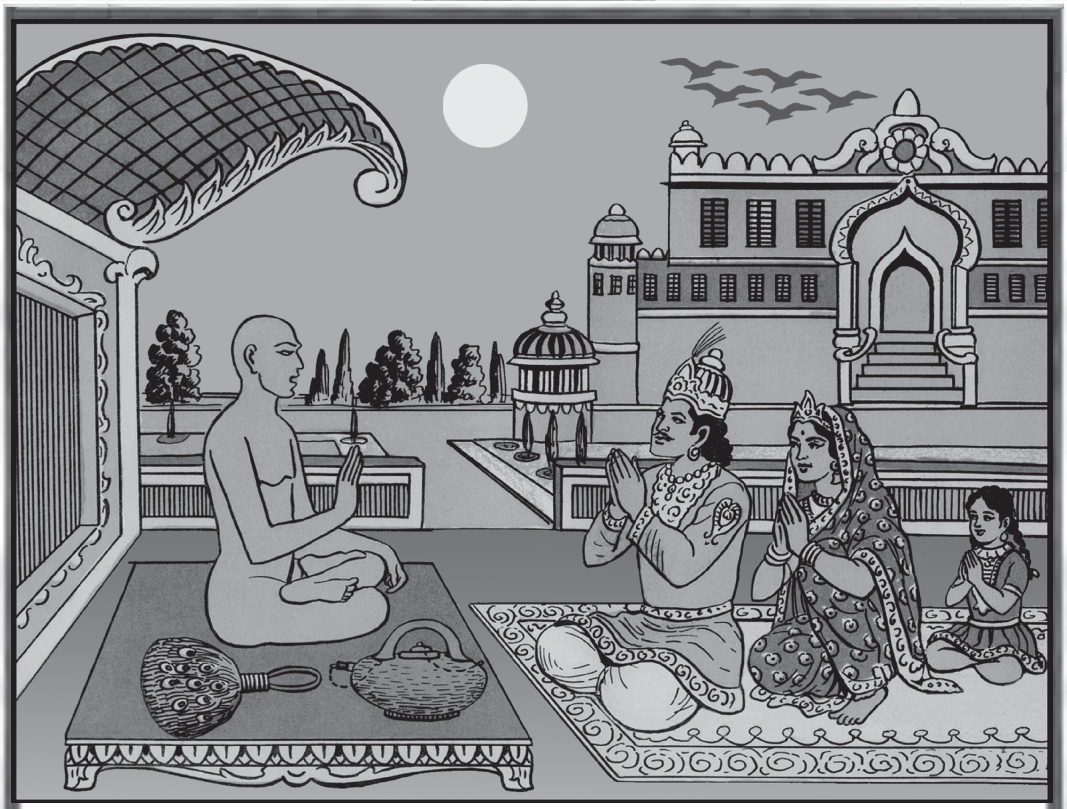

जिन आज्ञा में परायण जीवों को
बाह्य-अभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रन्थ गुरु के निकट ही शास्त्र श्रवण करना चाहिये
और
यदि ऐसे गुरु का संयोग न बने तो निर्ग्रन्थ गुरुओं के ही उपदेश को कहने वाले

श्रद्धानी
श्रावक से

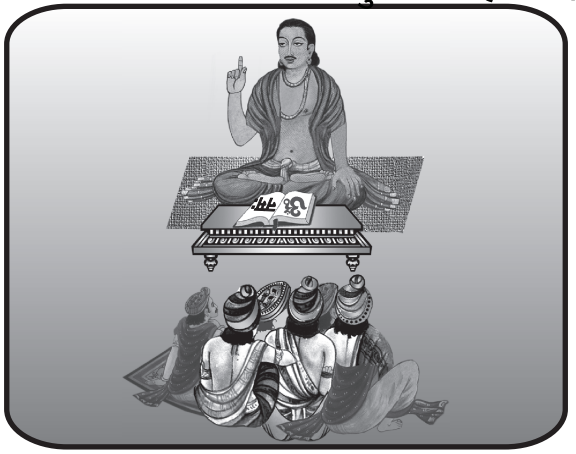

धर्म
सुनना चाहिये।

गाथा ३३

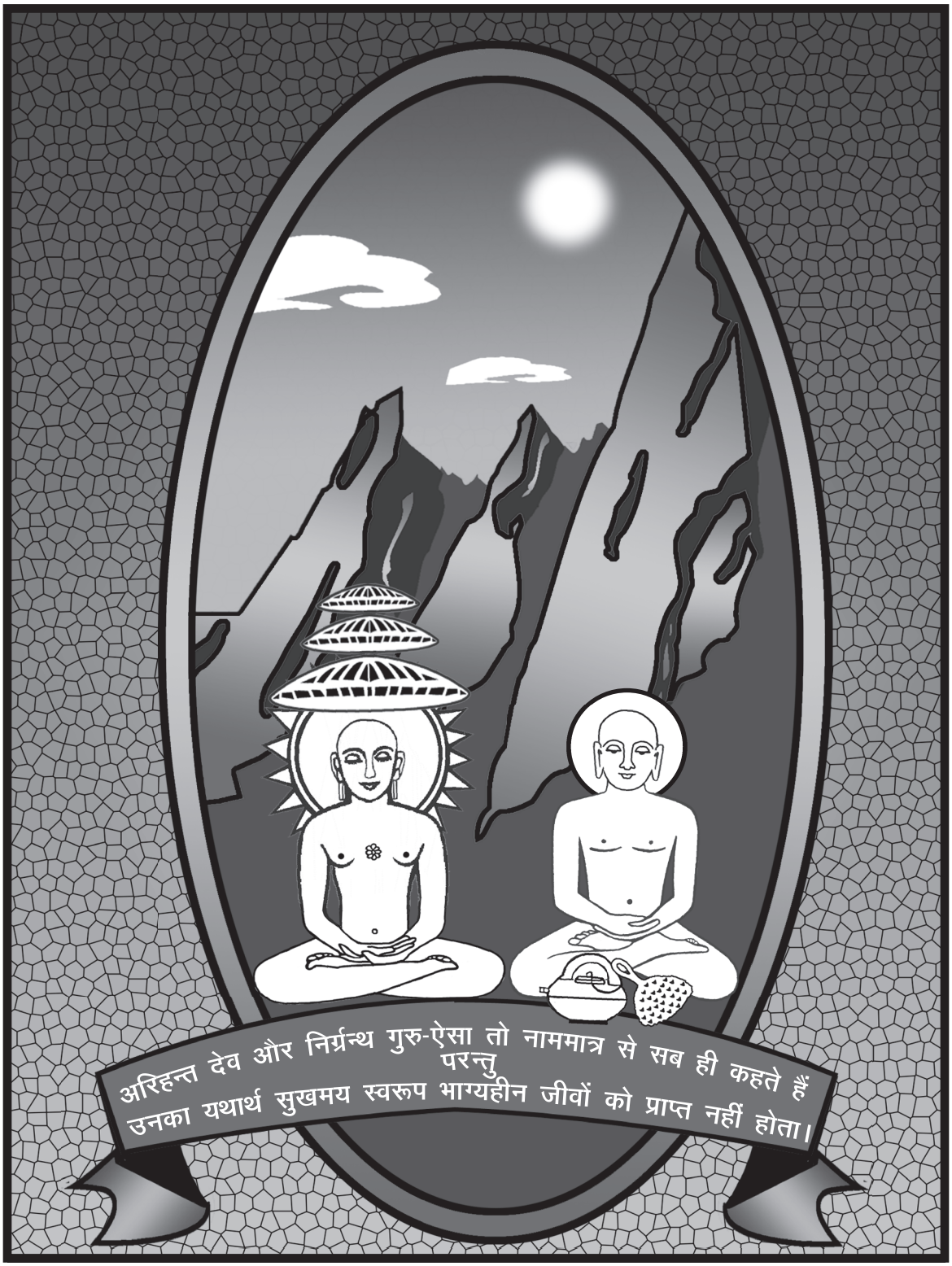
अरिहन्त देव और निर्ग्रन्थ गुरु-ऐसा तो नाममात्र से सब ही कहते हैं
परन्तु
उनका यथार्थ सुखमय स्वरूप भाग्यहीन जीवों को प्राप्त नहीं होता।

गाथा ३५

राजा के सामने पुकार

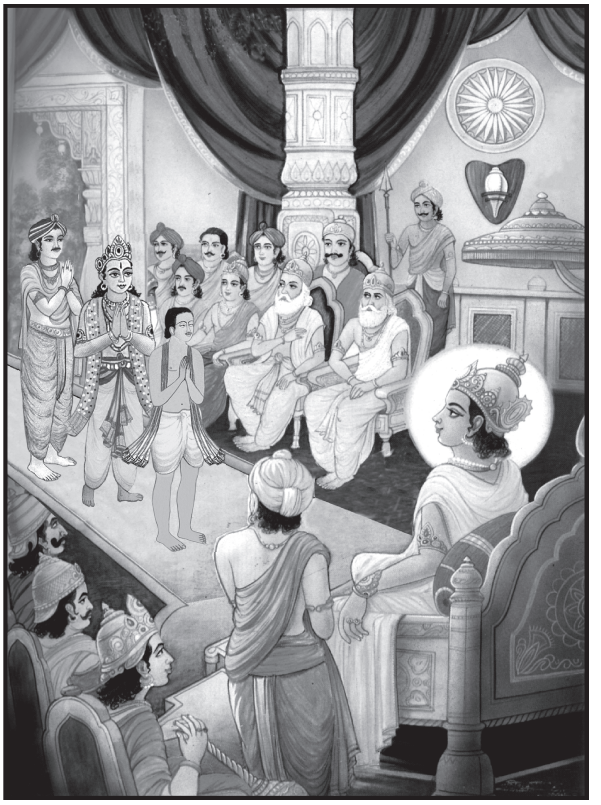



हाय ! हाय !!



पुकार

हाय ! हाय !! बड़ा अकार्य है कि प्रकट में कोई भी स्वामी नहीं है जिसके पास जाकर हम पुकार करें कि 'जिनवचन तो किस प्रकार के हैं और सुगुरु कैसे होते हैं और श्रावक किस प्रकार के हैं!'



पुकार



हाय ! हाय !!

गाथा ३६



अरे रे ! सर्प को देखकर लोग दूर भागते हैं तो उनको तो कोई भी कुछ कहता नहीं

परन्तु

जो कुगुरु रूपी सर्प का त्याग करते हैं उन्हें हाय ! हाय !! मूर्ख लोग दुष्ट कहते हैं-यह बड़े खेद की बात है।

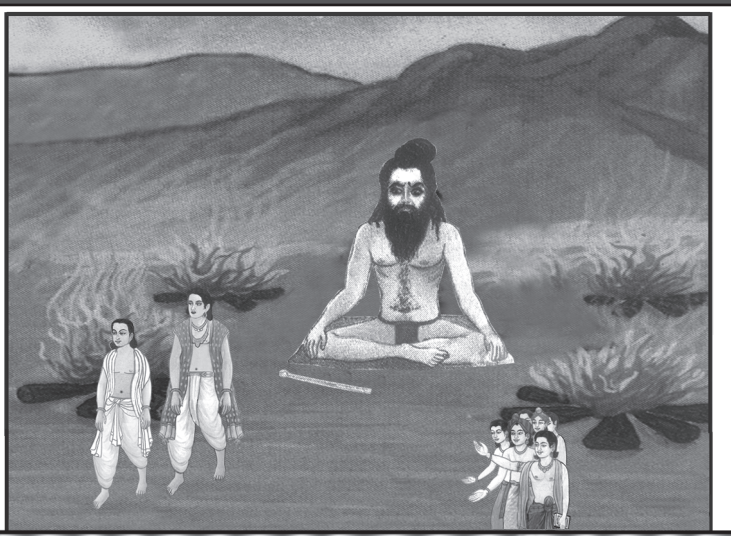

गाथा ३७



सर्प तो एक ही मरण देता है
अर्थात्
यदि कदाचित् सर्प डसे तो
एक बार ही मरण होता है
परन्तु



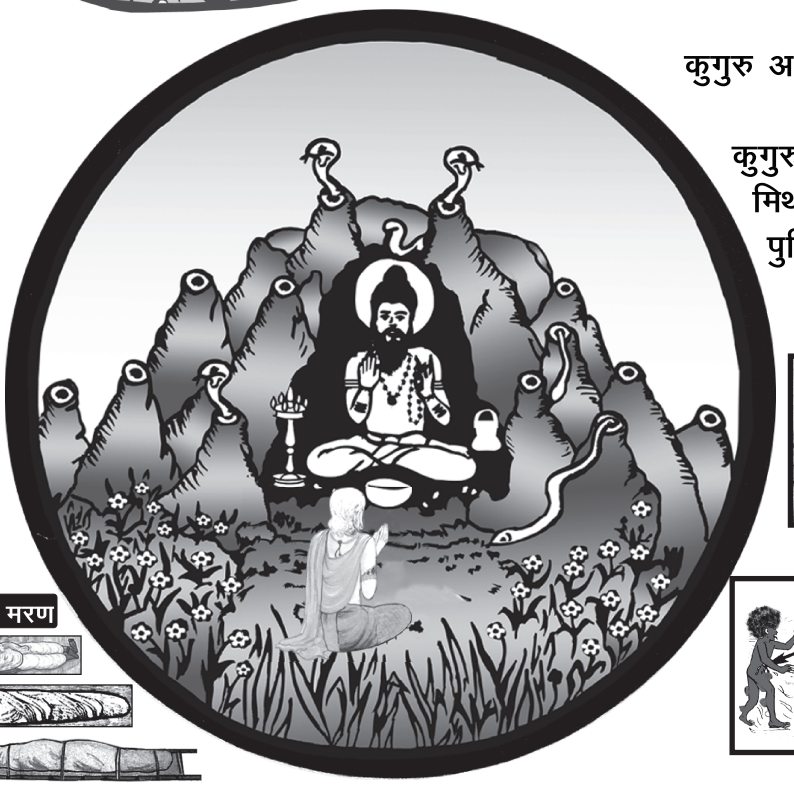

कुगुरु अनंत मरण देता है
अर्थात्
कुगुरु के प्रसंग से
मिथ्यात्वादि की
पुष्टि होने से

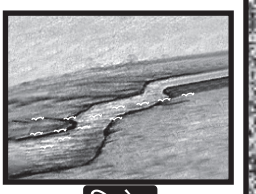

निगोद



नरक

अनंत मरण

नरक-निगोदादि संसार में जीव अनंत बार मरण को प्राप्त होता है इसलिये हे भद्र !

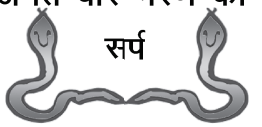

सर्प

का ग्रहण करना तो भला है परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है, तू वह मत कर।

गाथा ३८

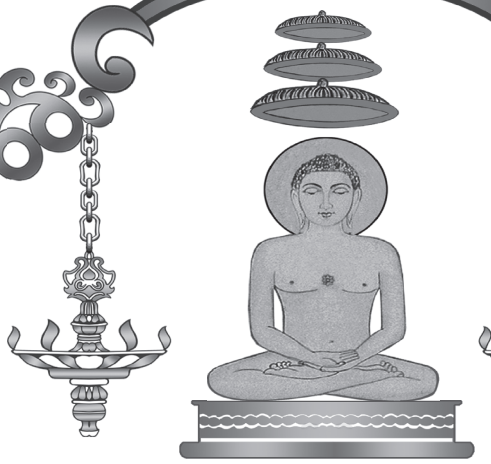

जिनराज की आज्ञा तो यह है कि 'कुगुरु का सेवन मत करो, उनको छोड़ दो' परन्तु

उस आज्ञा का भी त्याग करके



कुगुरु को गुरु कहकर नमस्कार करते हैं

सो क्या करें ! लोक गाडरी-प्रवाह अर्थात् भेड़चाल से ठगाया गया है।

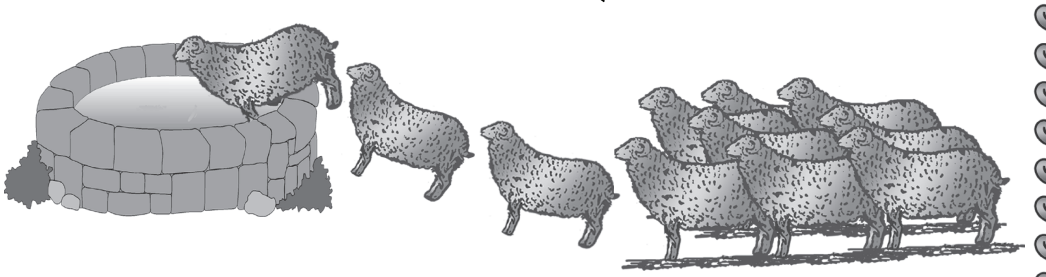

भेड़चाल :–जैसे एक भेड़ यदि कुएँ में गिरे तो उसके पीछे-पीछे चली आने वाली सभी भेड़ें उसमें गिरती जाती हैं, कोई भी हित-अहित का विचार नहीं करतीं।

गाथा ४१

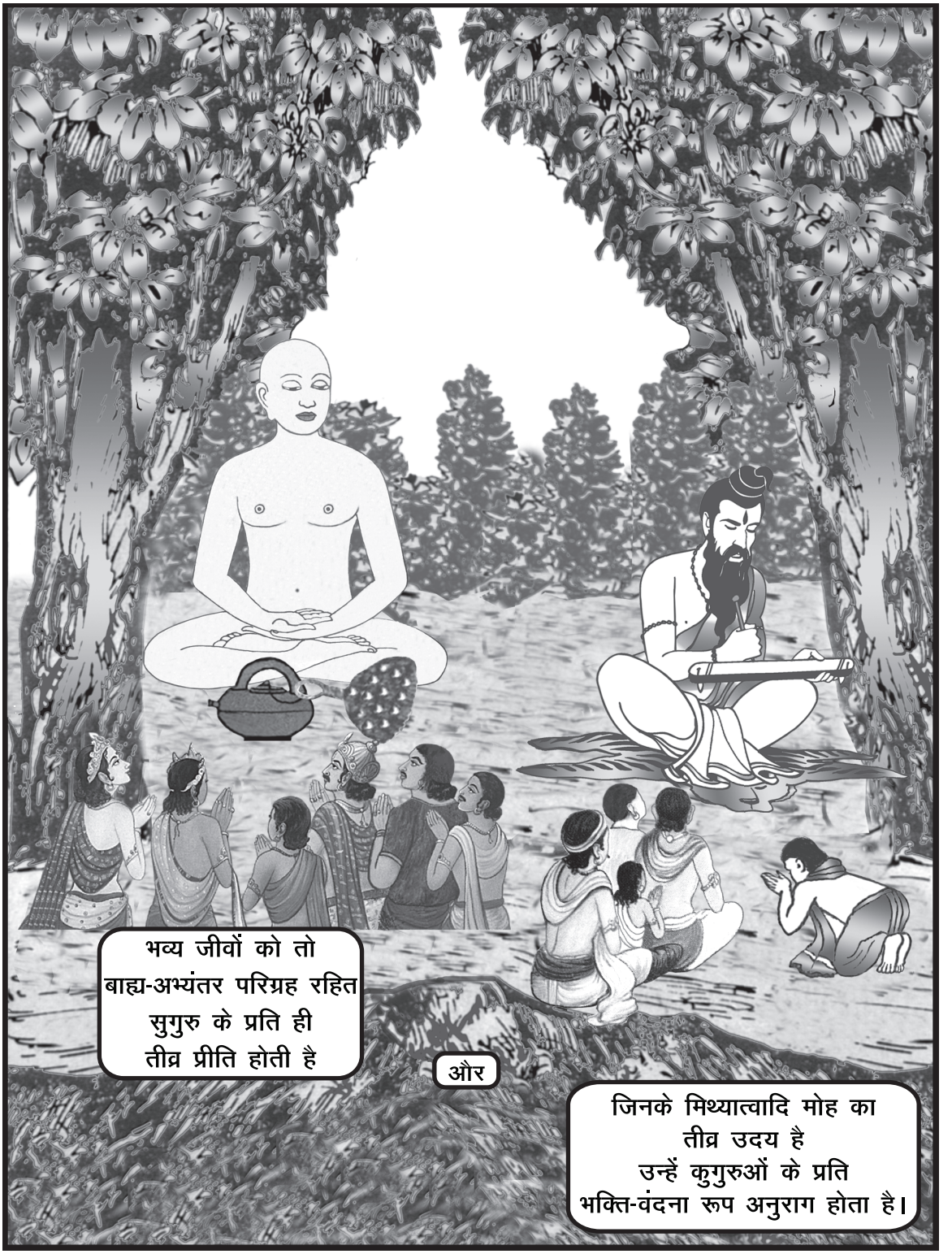
भव्य जीवों को तो
बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह रहित
सुगुरु के प्रति ही
तीव्र प्रीति होती है
और
जिनके मिथ्यात्वादि मोह का
तीव्र उदय है
उन्हें कुगुरुओं के प्रति
भक्ति-वंदना रूप अनुराग होता है।

गाथा ४४

जिस जीव के ये लक्षण हैं
वह मिथ्यादृष्टि है :–

१. धर्म में तो माया-छल है
अर्थात् जो कुछ धर्म के अंग का सेवन करता है
उसमें अपनी ख्याति, लाभ-पूजादि का आशय रखता है;

२. गाथा-सूत्रों का अर्थ मिथ्या मानता है अर्थात्
उनका यथार्थ अभिप्राय तो जानता नहीं
उल्टे मिथ्या अर्थ ग्रहण करता है;

३. उत्सूत्र अर्थात् सूत्र के अतिरिक्त बोलने में
जिसे शंका नहीं होती,
यद्वा-तद्वा कहता है;

४.कुगुरु को पक्षपातवश सुगुरु बतलाता है
तथा
५. पाप रूप दिवस को पुण्य
रूप मानता है।

गाथा ५३



शास्त्राभ्यास आदि भला आचरण करने वाले जीवों को

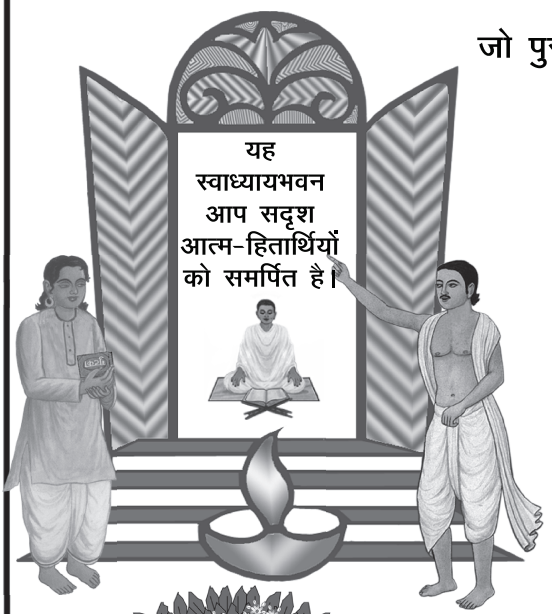

जो पुरुष सदाकाल धर्म का आधार देता है
और



उनका निर्विघ्न शास्त्राभ्यास आदि
होता रहे ऐसी सामग्री का
मेल मिलाता है





चिन्तामणि रत्न

उस पुरुष का मूल्यांकन कल्पवृक्ष अथवा चिंतामणि रत्न
से भी नहीं हो सकता है अर्थात्
वह पुरुष उनसे भी महान है।

गाथा ५४

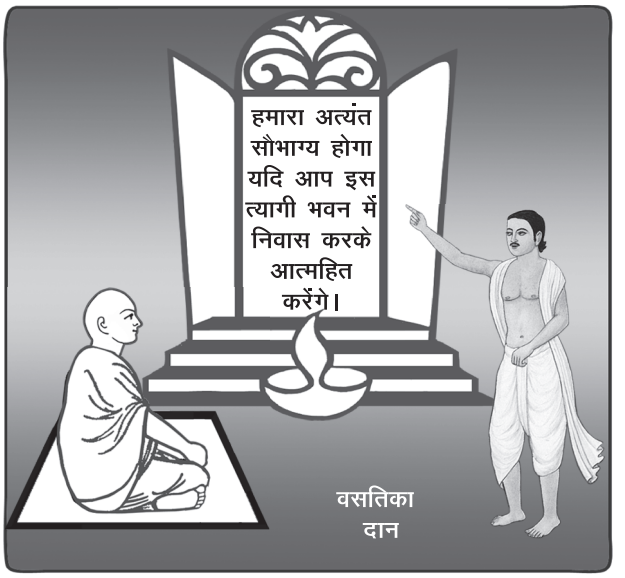

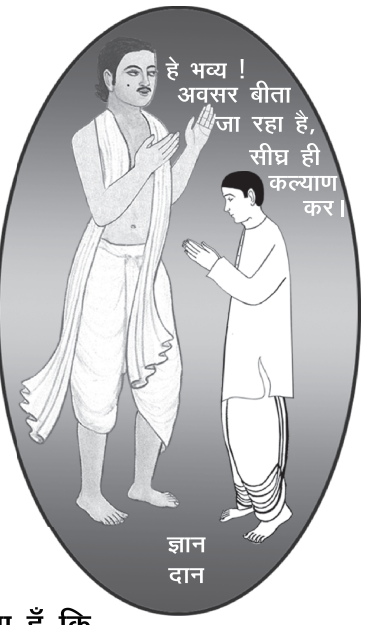

मैं ऐसा जानता हूँ कि

जिनधर्मियों की सहायता करने वाले ऐसे पुरुषों का नाम लेने मात्र से



मोह कर्म लज्जायमान होकर मंद पड़ जाता है



और उनका गुणगान करने से हमारे कर्म गल जाते हैं।



गाथा ६३

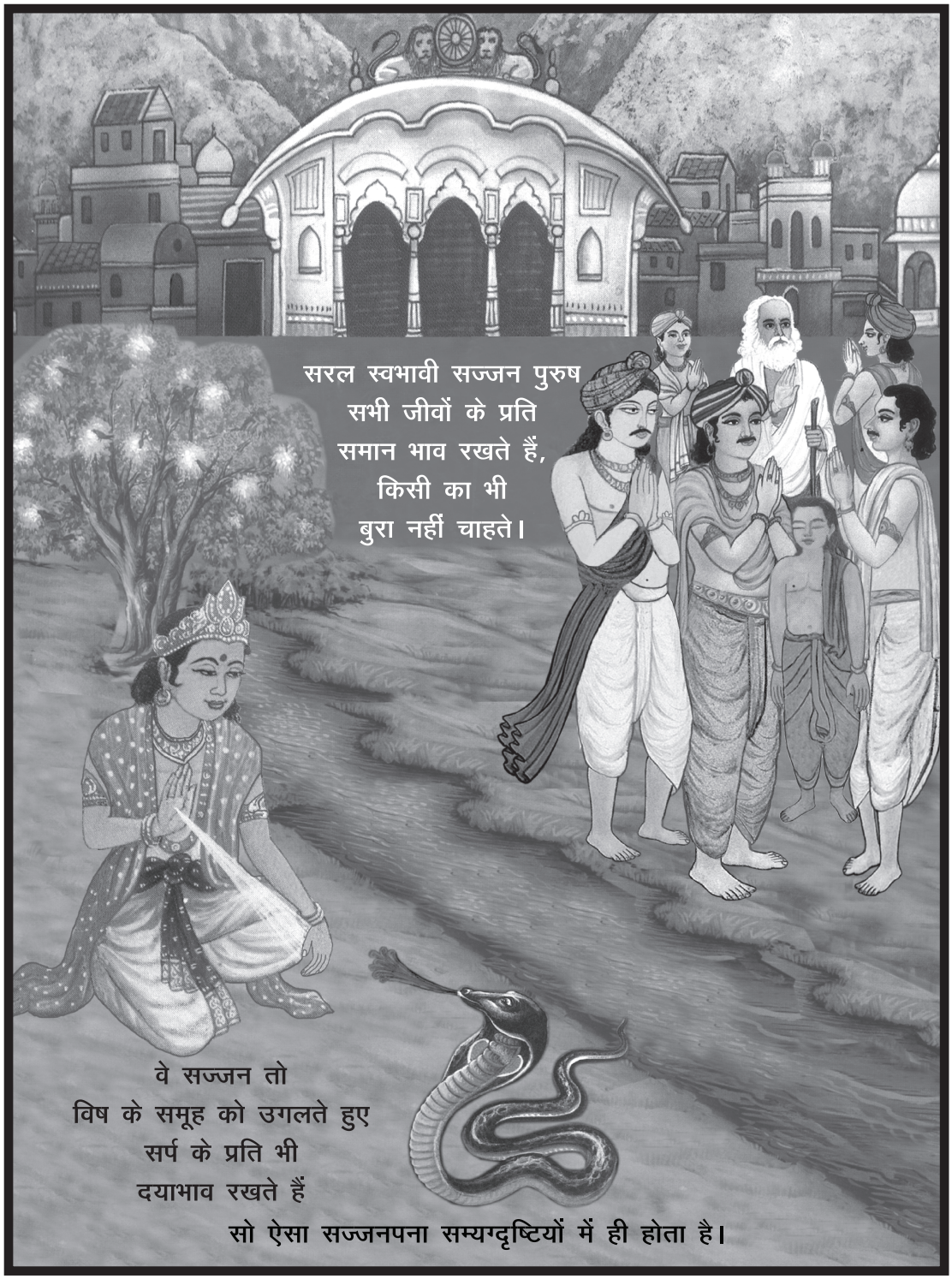
सरल स्वभावी सज्जन पुरुष
सभी जीवों के प्रति
समान भाव रखते हैं,
किसी का भी
बुरा नहीं चाहते।
वे सज्जन तो
विष के समूह को उगलते हुए
सर्प के प्रति भी
दयाभाव रखते हैं
सो ऐसा सज्जनपना सम्यग्दृष्टियों में ही होता है।

गाथा ६७

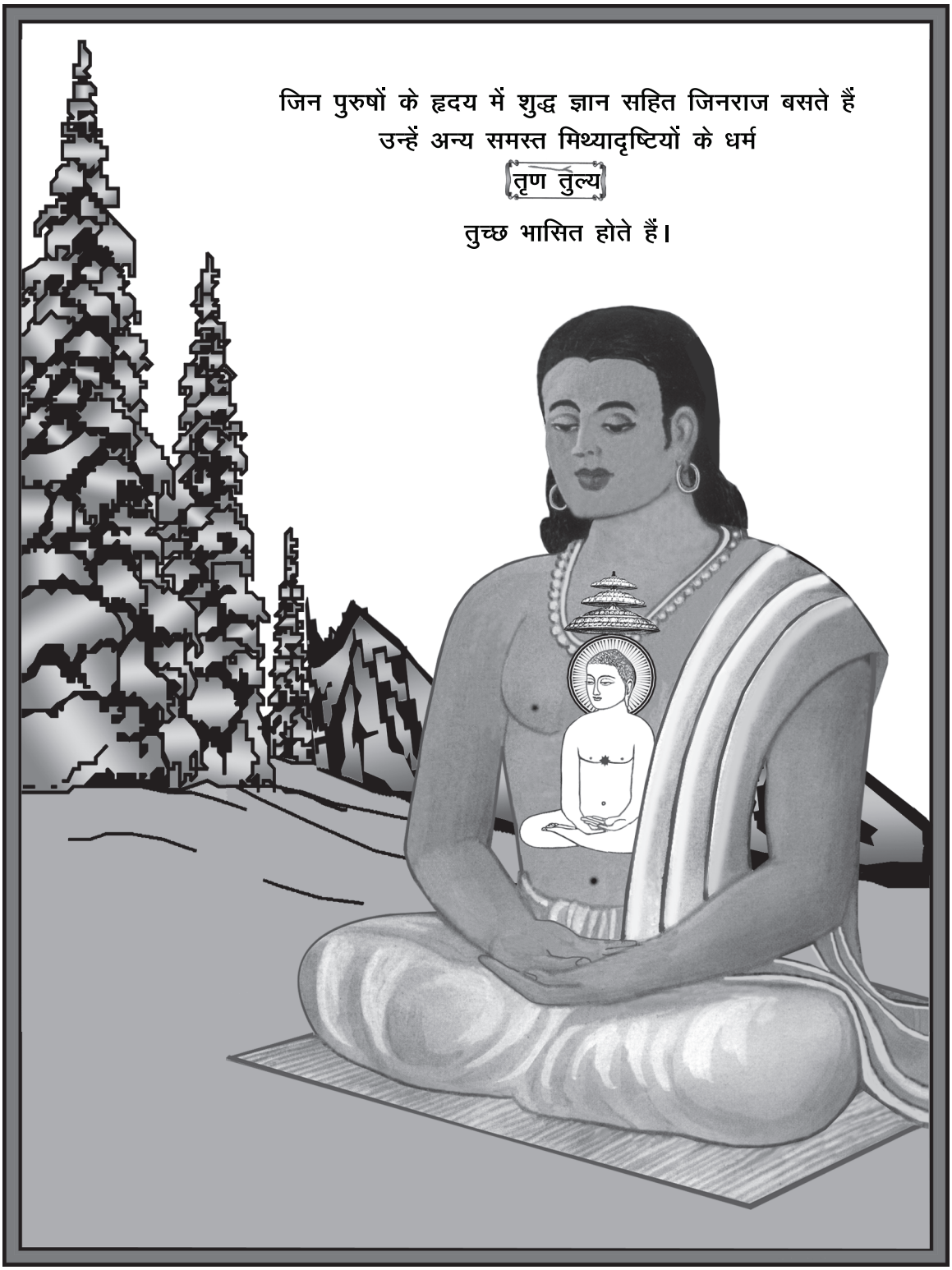

जिन पुरुषों के हृदय में शुद्ध ज्ञान सहित जिनराज बसते हैं
उन्हें अन्य समस्त मिथ्यादृष्टियों के धर्म
तृण तुल्य
तुच्छ भासित होते हैं।

गाथा ७६


जैसे अत्यंत कीचड़ में फँसी हुई गाड़ी को कोई बड़े बलवान वृषभ ही बाहर खींच पाते हैं
वैसे ही इस लोक में मिथ्यात्व रूपी कीचड़ में फँसे हुए अपने कुटुंब को कोई उत्तम विरले पुरुष ही उसमें से बाहर निकाल पाते हैं।

गाथा ८०

जैसे पृथ्वीतल पर
प्रकट दैदीप्यमान सूर्य भी
बादलों से ढका होने पर
लोगों को दिखाई नहीं देता

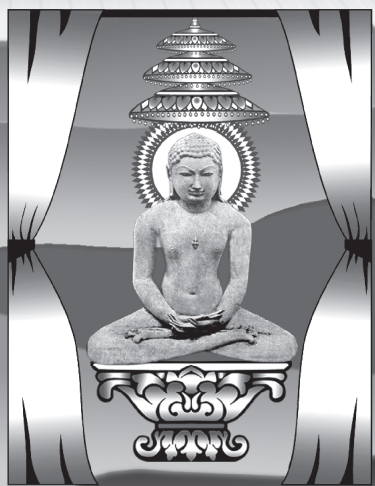

वैसे ही

मिथ्यात्व के उदय में जीवों को
प्रकट जिनदेव भी प्राप्त नहीं होते।

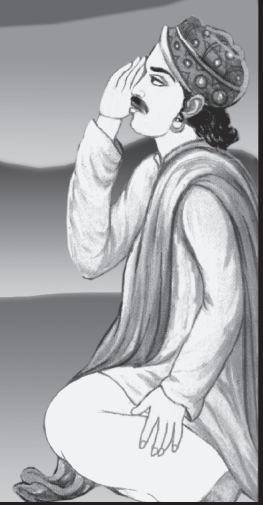

गाथा ८८

जो पुरुष सम्यक्त्व रूपी रत्नराशि से सहित हैं

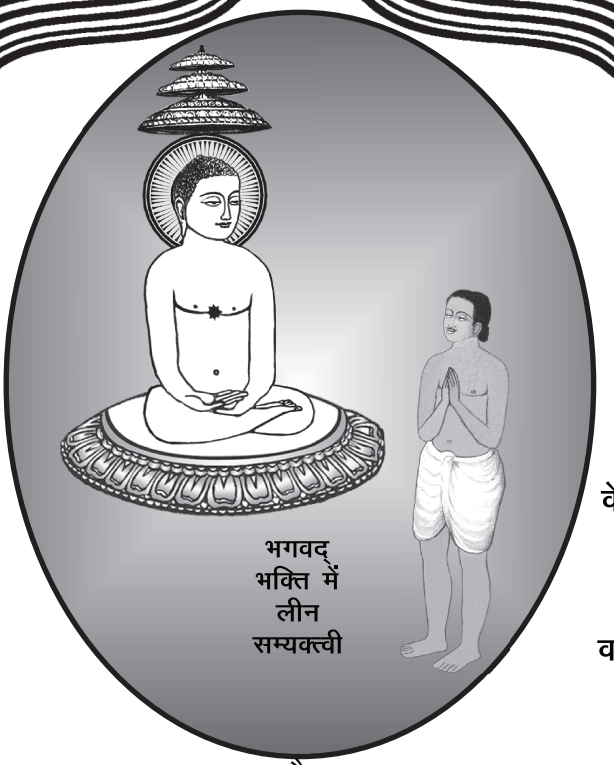

वे धन-धान्यादि वैभव से रहित होने पर भी वास्तव में वैभव सहित ही हैं

और

जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं



वे धनादि सहित हों तो भी दरिद्री ही हैं।

गाथा ८६

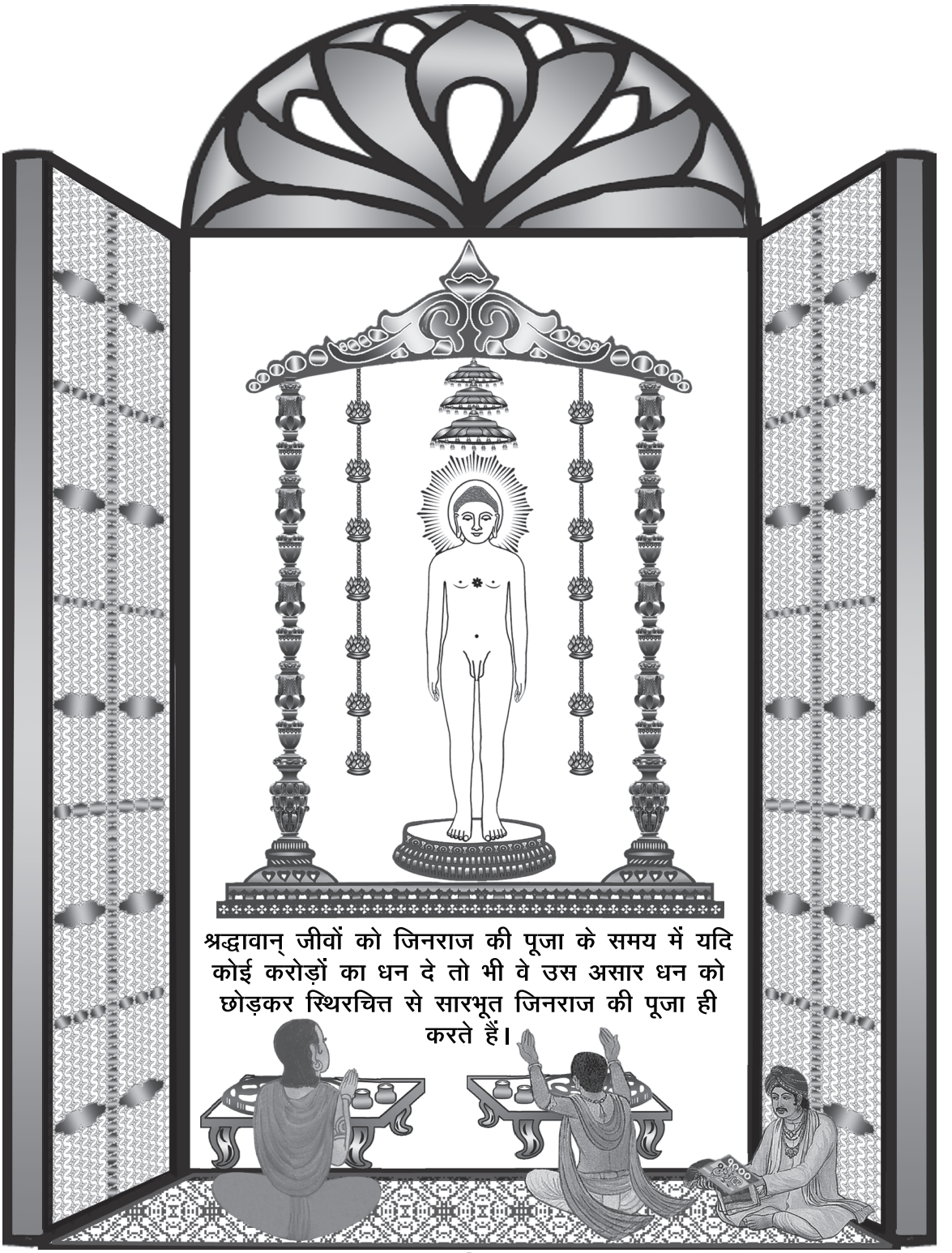

श्रद्धावान् जीवों को जिनराज की पूजा के समय में यदि कोई करोड़ों का धन दे तो भी वे उस असार धन को छोड़कर स्थिरचित्त से सारभूत जिनराज की पूजा ही करते हैं।

गाथा ६०

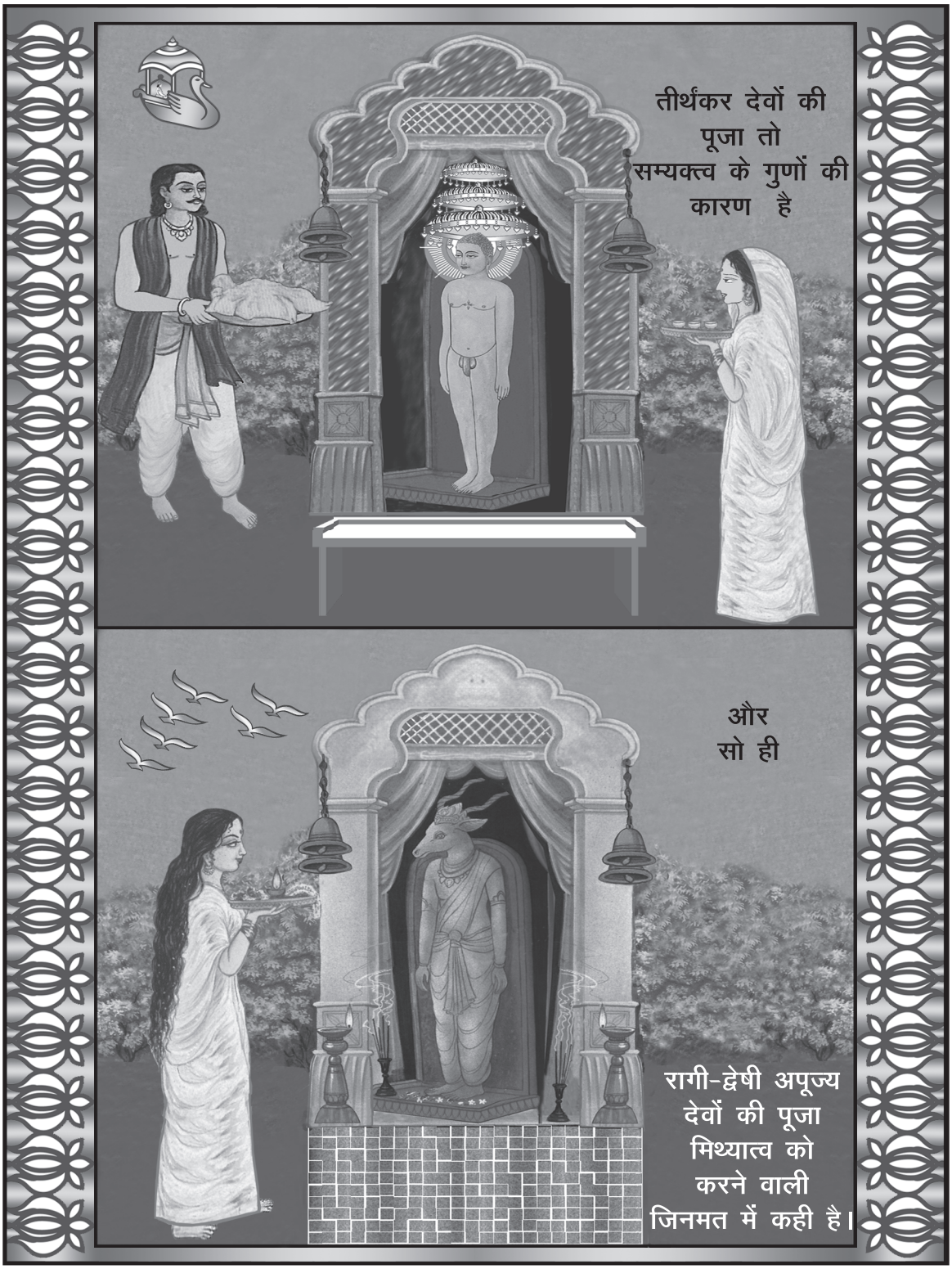
तीर्थंकर देवों की
पूजा तो
सम्यक्त्व के गुणों की
कारण है
और
सो ही
रागी-द्वेषी अपूज्य
देवों की पूजा
मिथ्यात्व को
करने वाली
जिनमत में कही है।

गाथा ६१

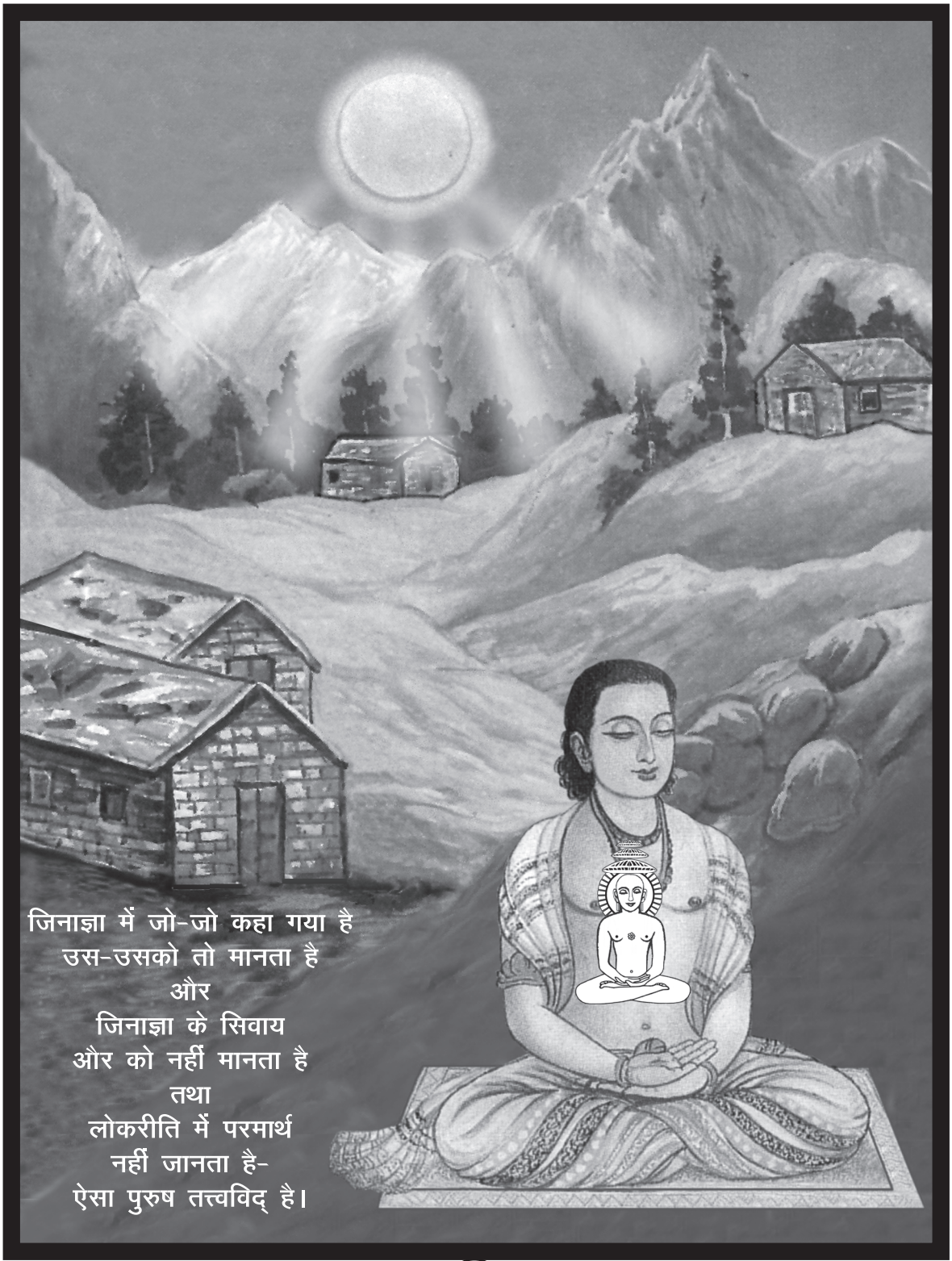
जिनाज्ञा में जो-जो कहा गया है
उस-उसको तो मानता है
और
जिनाज्ञा के सिवाय
और को नहीं मानता है
तथा
लोकरीति में परमार्थ
नहीं जानता है-
ऐसा पुरुष तत्त्वविद् है।

गाथा ६३



धर्म का सत्यार्थ मार्ग दिखलाने वाले सुगुरु का स्वाधीन सुयोग मिलने
पर भी जो निर्मल धर्म का स्वरूप नहीं सुनते
वे पुरुष ढीठ हैं और दुष्ट चित्त वाले हैं
अथवा
संसार परिभ्रमण के भय से रहित सुभट हैं।

गाथा ६४

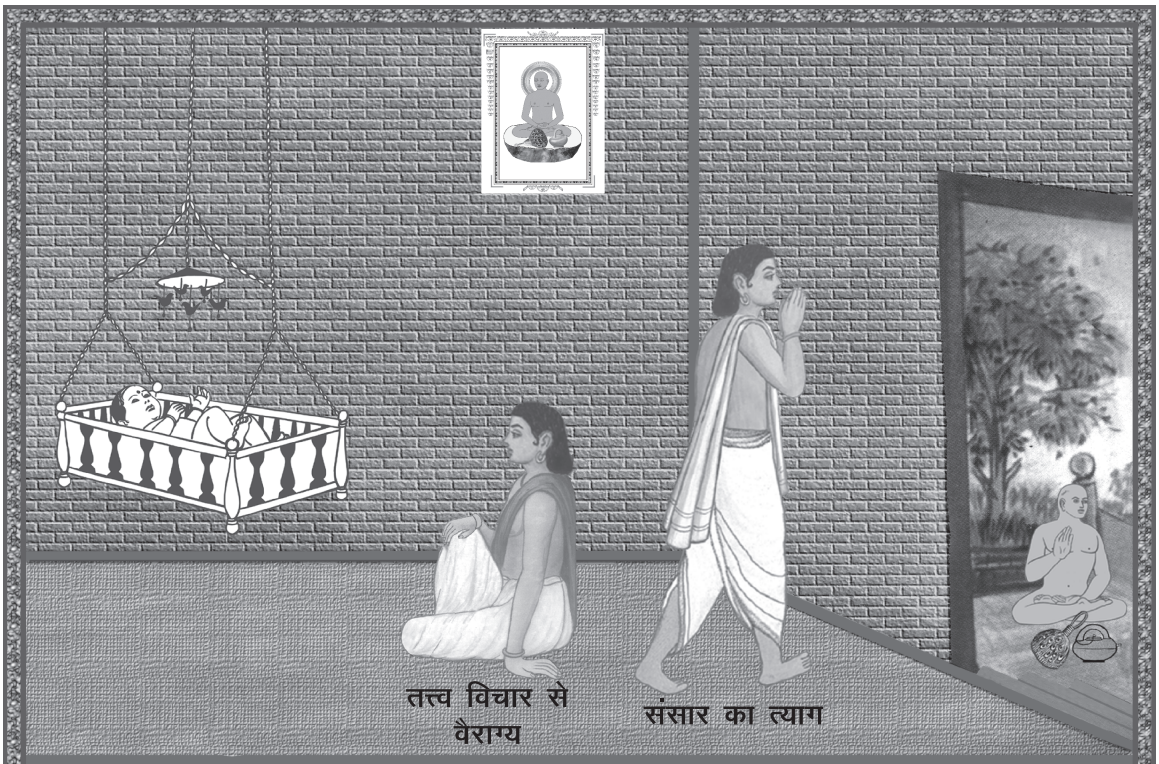

शुद्ध कुल व धर्म में उत्पन्न हुए गुणवान पुरुष निश्चय से संसार में नहीं रमते हैं

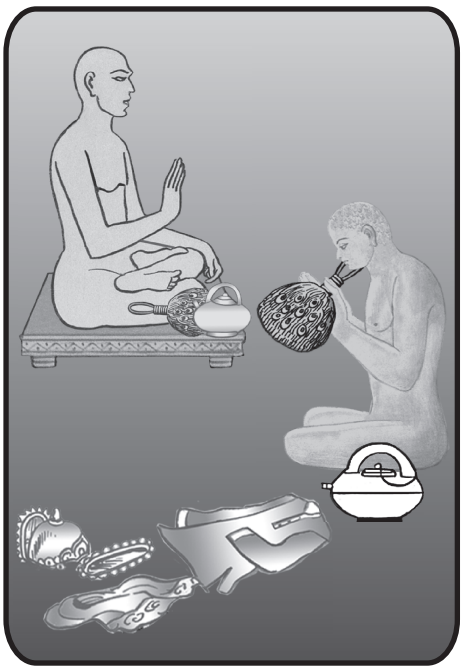

किन्तु
जिनदीक्षा
ग्रहण
करते हैं

और फिर उसके बाद

परम तत्त्व रूप
निज शुद्ध
आत्मा का
ध्यान करके
आत्मा का
परम हित रूप
मोक्ष प्राप्त
करते हैं।



गाथा ६५

मैं उस भव्य जीव की प्रशंसा करता हूँ,
उसे धन्य मानता हूँ
जिसे नरकादि के दुःख स्मरण करते हुए
मन में हरिहरादि की ऋद्धि और समृद्धि के प्रति भी
उदासभाव ही उत्पन्न होता है।

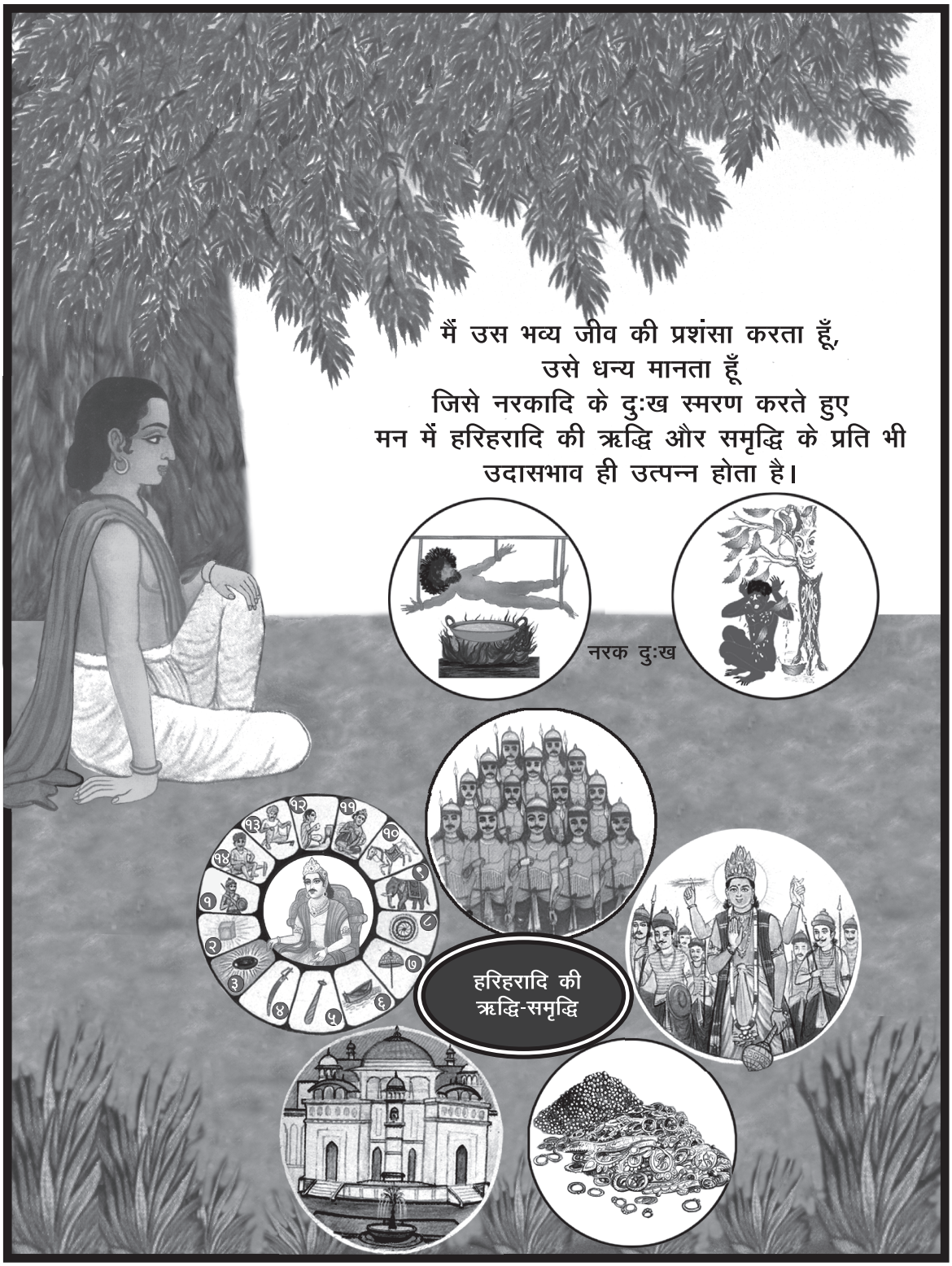

गाथा ६६



श्री धर्मदास आचार्य द्वारा उपदेश की है माला जिसमें ऐसा यह शास्त्र रचा गया है जिसे सभी मुनि और श्रावक श्रद्धापूर्वक



मानते हैं, पढ़ते हैं और पढ़ाते हैं।

गाथा ६७



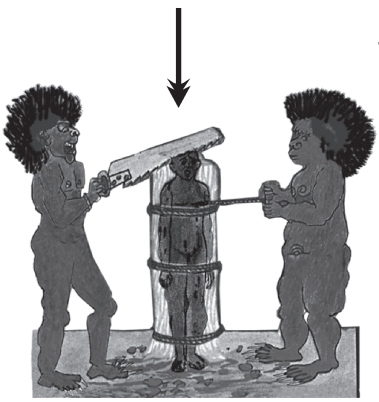

ऐसे शास्त्रों की भी कई अधम मिथ्यादृष्टि आचरण में निन्दा करते हैं सो हाय ! हाय !! निंदा करने से जो नरकादि के दुःख होते हैं उन्हें वे जीव गिनते ही नहीं हैं।
कैसे हैं वे जीव ?
अत्यंत मान और मोह रूपी राजा के द्वारा ठगाये गये हैं।

गाथा १०६

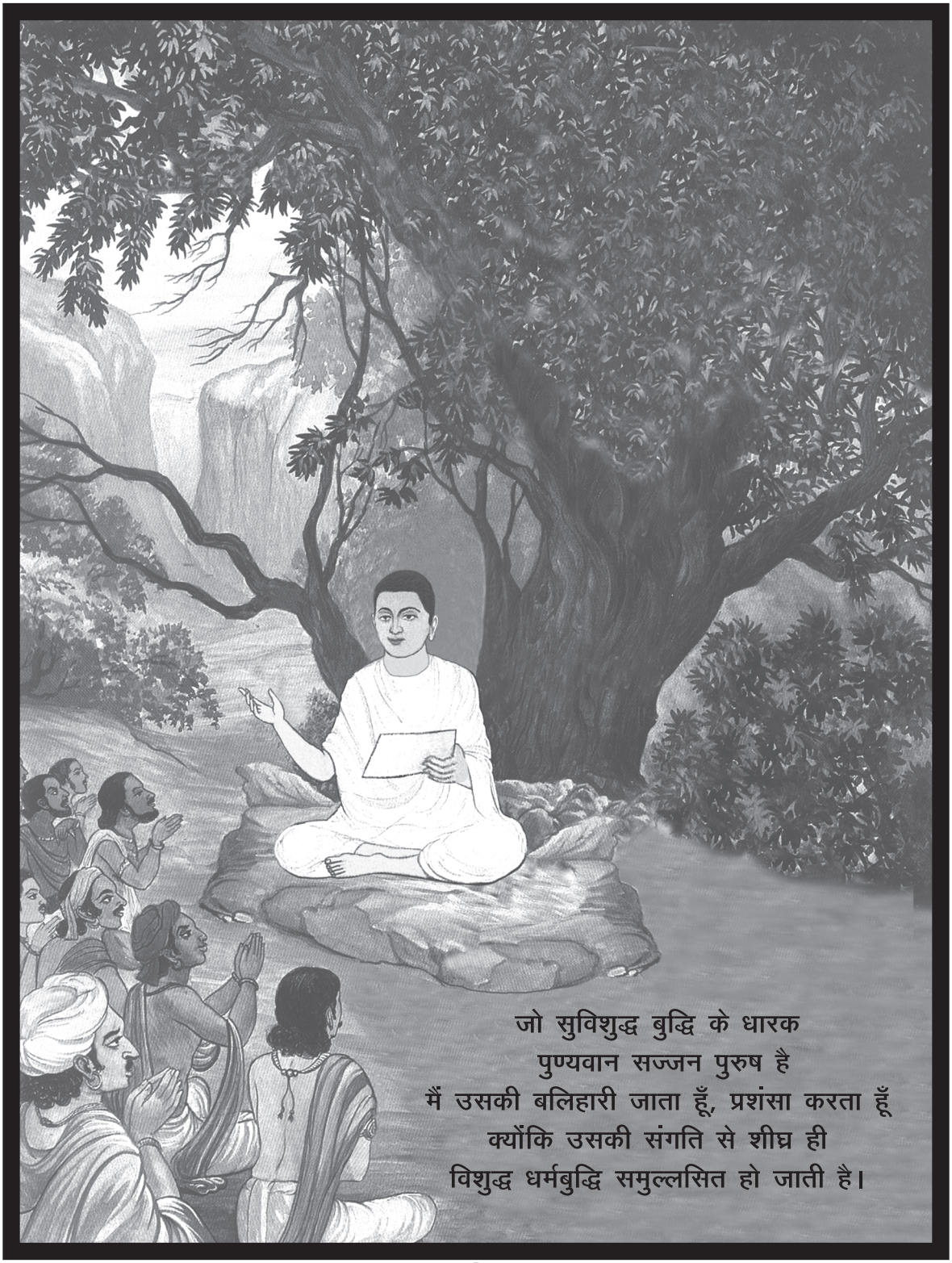

जो सुविशुद्ध बुद्धि के धारक
पुण्यवान सज्जन पुरुष है
मैं उसकी बलिहारी जाता हूँ, प्रशंसा करता हूँ
क्योंकि उसकी संगति से शीघ्र ही
विशुद्ध धर्मबुद्धि समुल्लसित हो जाती है।

गाथा १०८

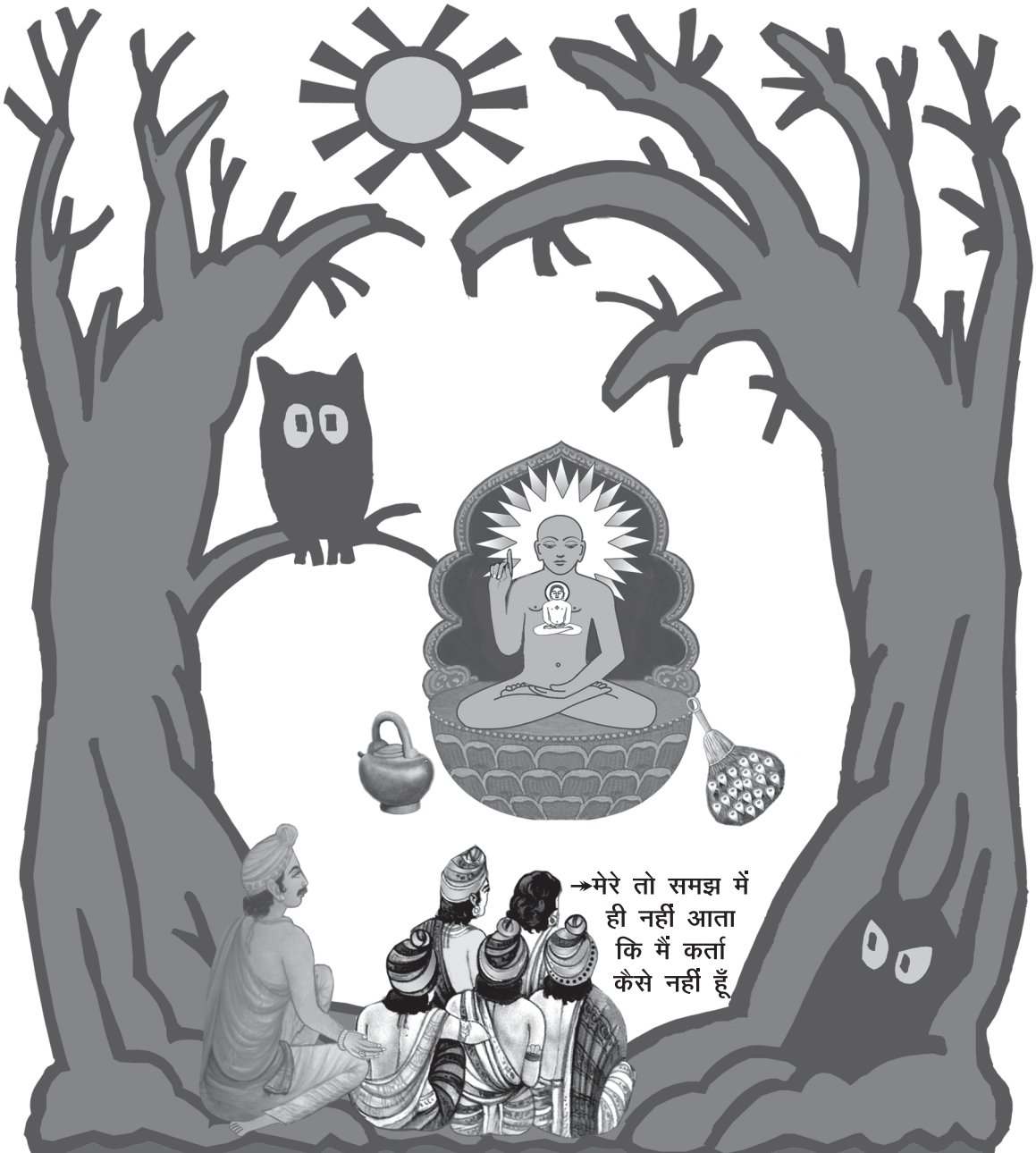

जिनराज ही हैं प्रिय जिनको ऐसे निर्ग्रन्थ सद्गुरु का उपदेश होने पर भी
किन्हीं जीवों के सम्यक्त्व उल्लसित नहीं होता
अथवा
सूर्य का प्रकाश क्या उल्लुओं के अंधत्व को हर सकता है अर्थात् नहीं हर सकता।

गाथा १०६



तीन लोक के जीवों को
निरन्तर मरते हुए देखकर भी

जो
जीव



अपनी आत्मा का
अनुभव नहीं करते

और
पापों से विराम नहीं लेतेउनके ढीठपने को धिक्कार है।

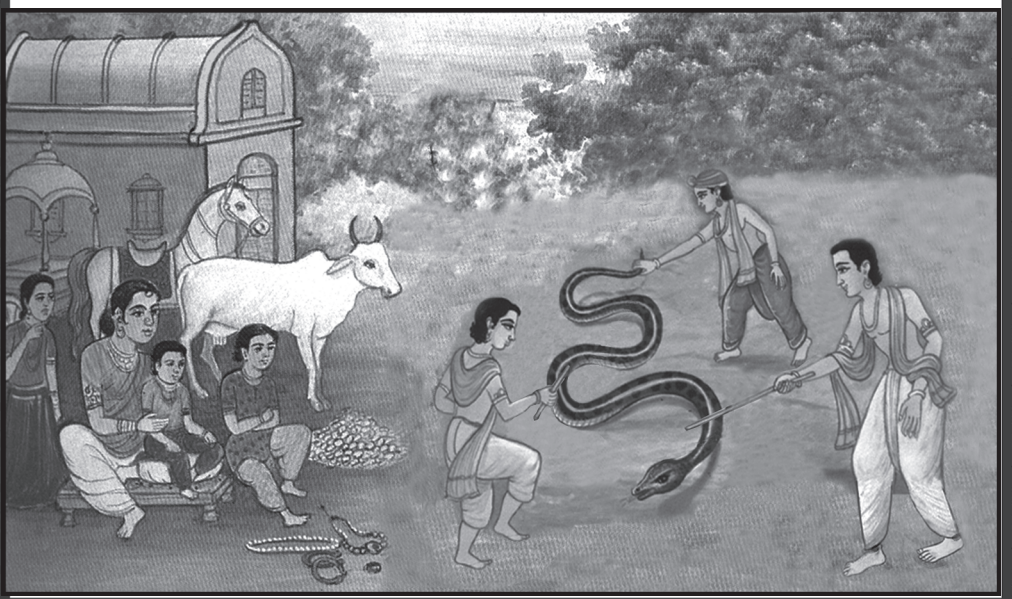

गाथा ११५

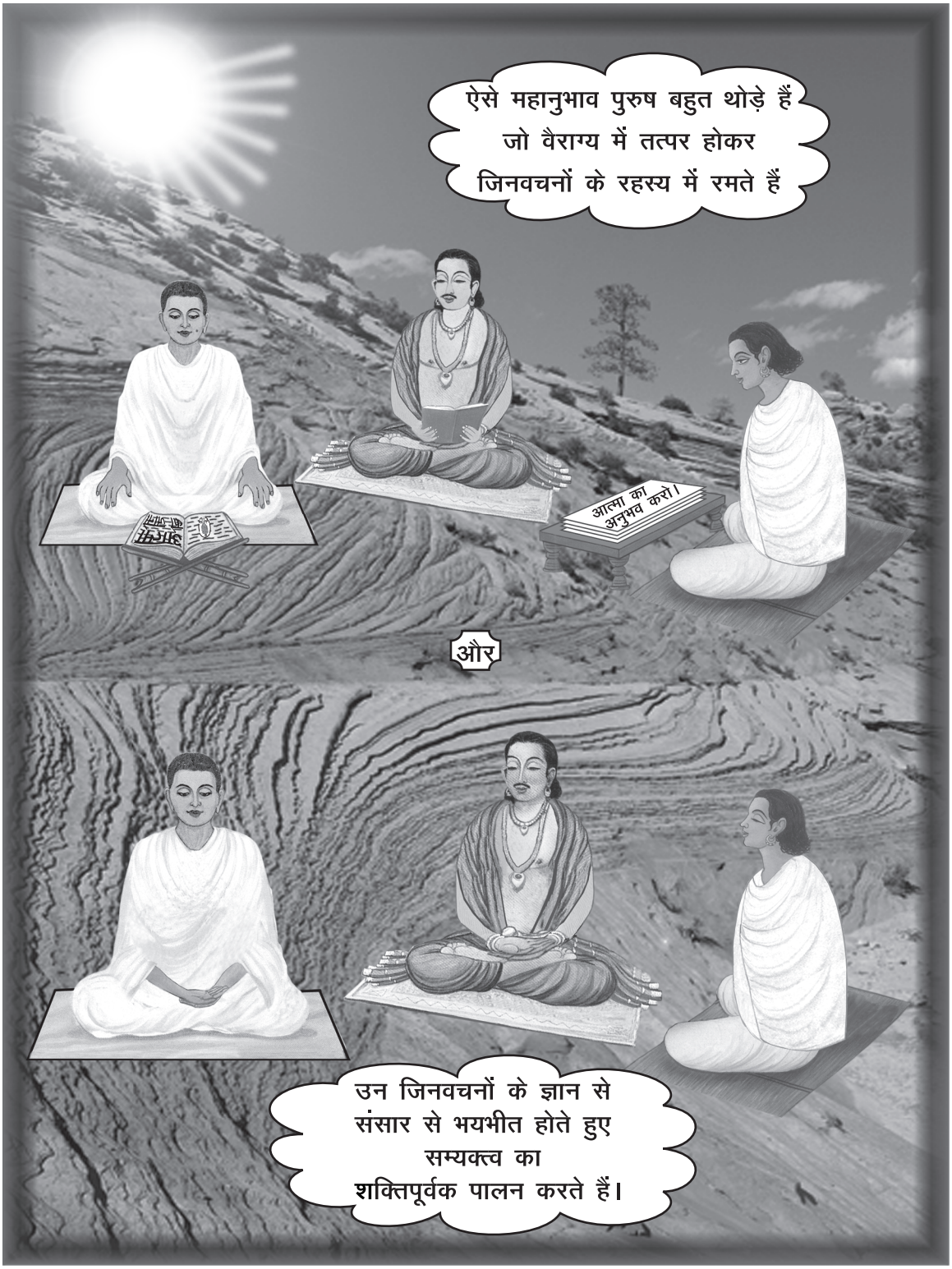
ऐसे महानुभाव पुरुष बहुत थोड़े हैं
जो वैराग्य में तत्पर होकर
जिनवचनों के रहस्य में रमते हैं
आत्मा का अनुभव करो।
और
उन जिनवचनों के ज्ञान से
संसार से भयभीत होते हुए
सम्यक्त्व का
शक्तिपूर्वक पालन करते हैं।

गाथ ११६



जिस प्रकार
प्रकटपने सर्व अंगों के विद्यमान होने पर भी एक धुरी बिना गाड़ी नहीं चलती



उसी प्रकार सम्यक्त्व के बिना धर्म का बड़ा आडंबर भी फलीभूत नहीं होता इसलिये व्रतादि धर्म सम्यक्त्व सहित ही धारण करना योग्य है-यह तात्पर्य है।

गाथ ११८

जिन जीवों के अपना आत्मा ही वैरी है अर्थात् जो मिथ्यात्व

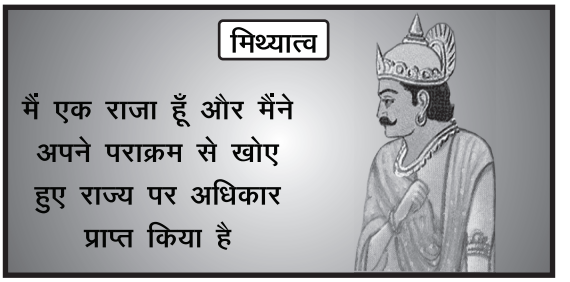

और

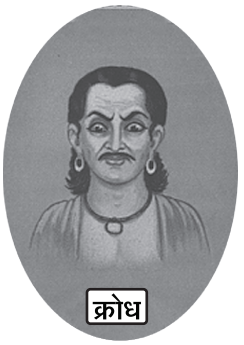







कषायों द्वारा अपना घात स्वयं ही करते हैं



उन्हें अन्य जीवों पर
करुणा कैसे हो सकती है
अर्थात् नहीं हो सकती।

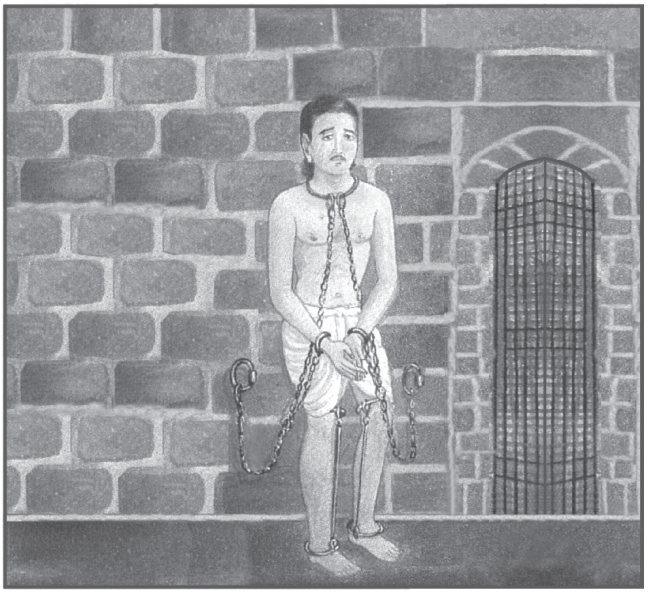

जो स्वयं घोर बंदीखाने में पड़ा हो
वह दूसरों को छुड़ा कर कैसे सुखी कर सकता है
अर्थात् नहीं कर सकता।

गाथा १२८



अहो ! वह मंगल दिवस कब आयेगा
जब मैं सुगुरु के पादमूल में
उनके चरणों के समीप बैठकर
उत्सूत्र के लेश अर्थात् अंश रूपी विषकण से
रहित होकर
जिनधर्म को सुनूँगा !

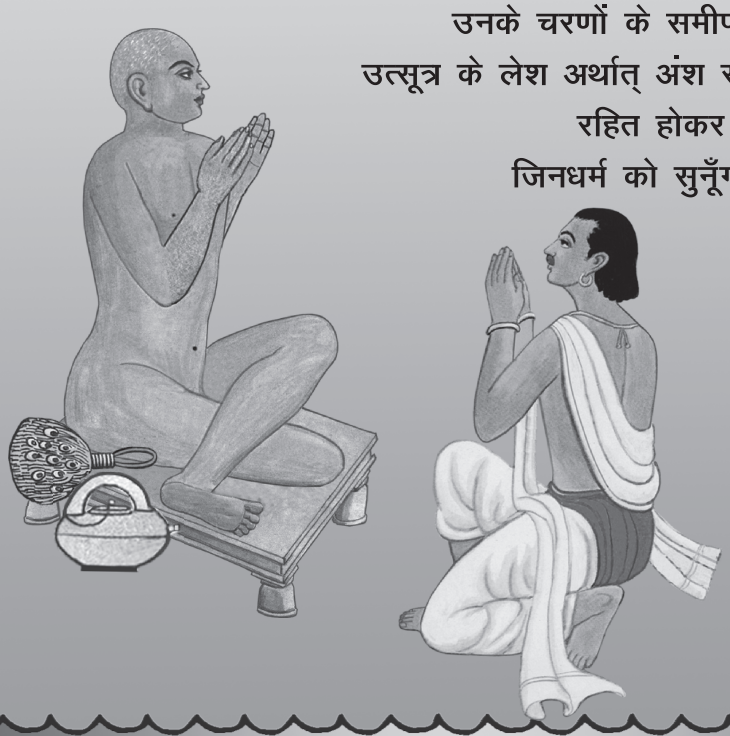

गाथा १३५

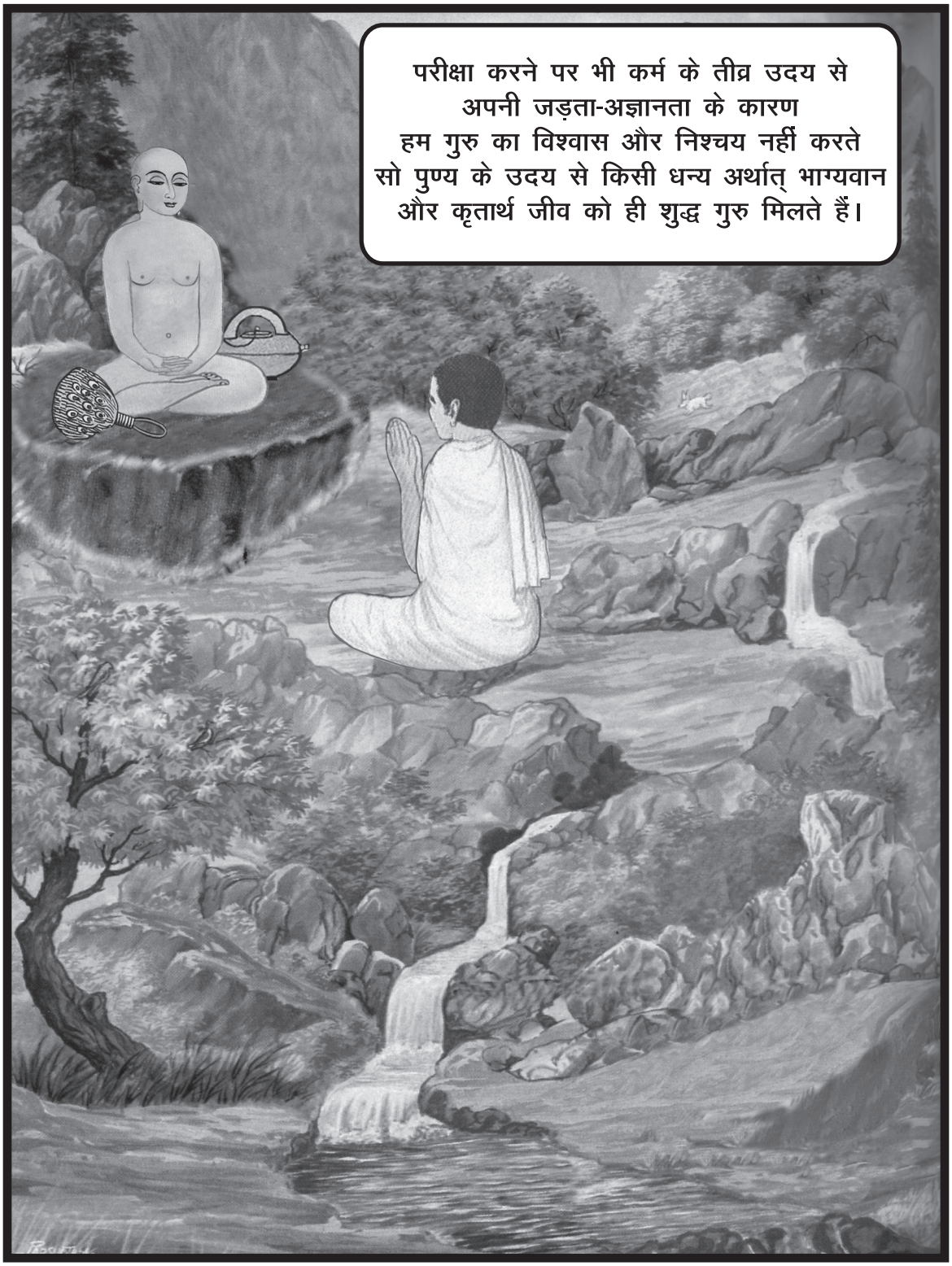
परीक्षा करने पर भी कर्म के तीव्र उदय से
अपनी जड़ता-अज्ञानता के कारण
हम गुरु का विश्वास और निश्चय नहीं करते
सो पुण्य के उदय से किसी धन्य अर्थात् भाग्यवान
और कृतार्थ जीव को ही शुद्ध गुरु मिलते हैं।

गाथा १३६

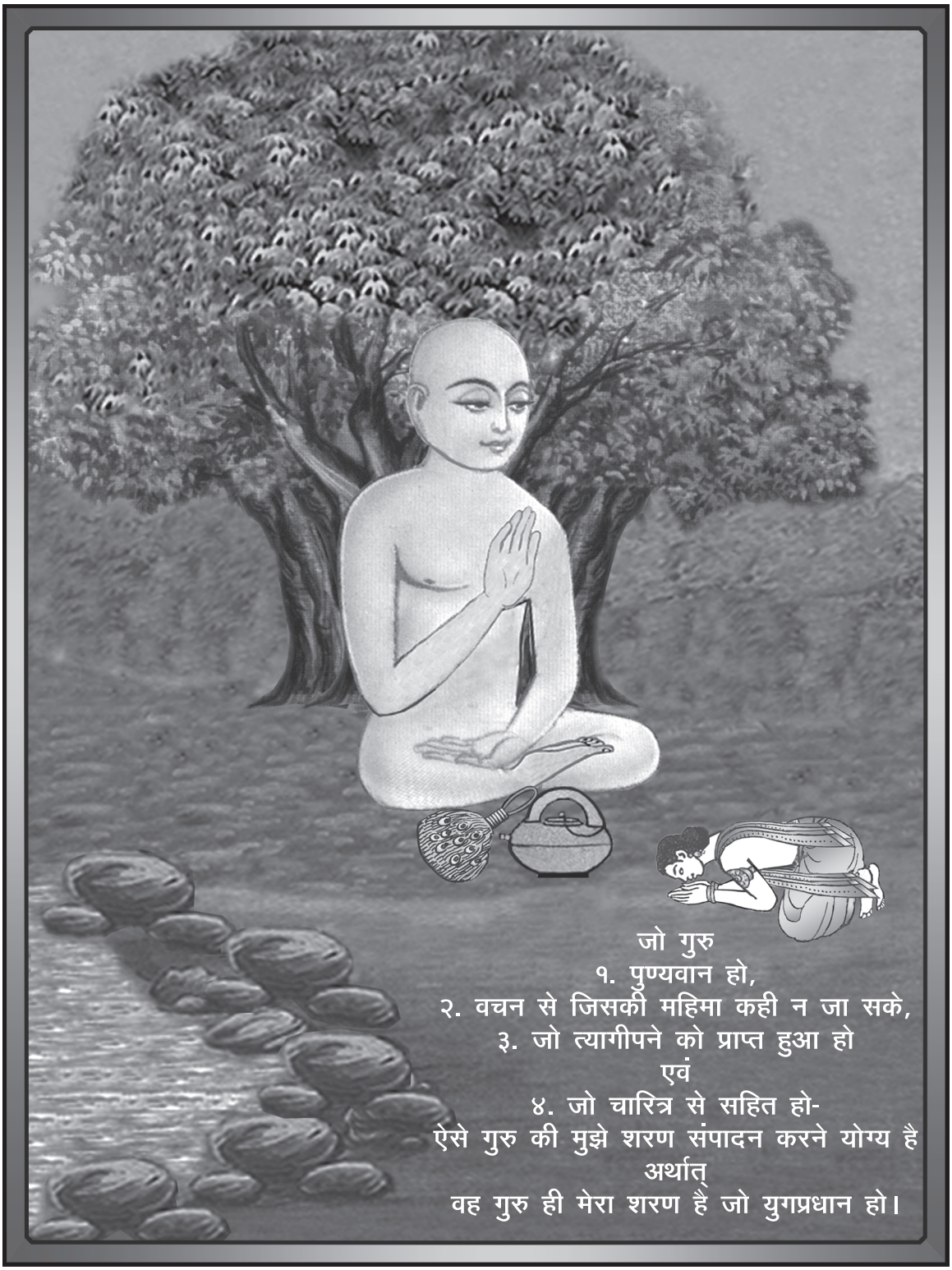

जो गुरु
१. पुण्यवान हो,
२. वचन से जिसकी महिमा कही न जा सके,
३. जो त्यागीपने को प्राप्त हुआ हो
एवं
४. जो चारित्र से सहित हो-
ऐसे गुरु की मुझे शरण संपादन करने योग्य है
अर्थात्
वह गुरु ही मेरा शरण है जो युगप्रधान हो।

गाथा १४३

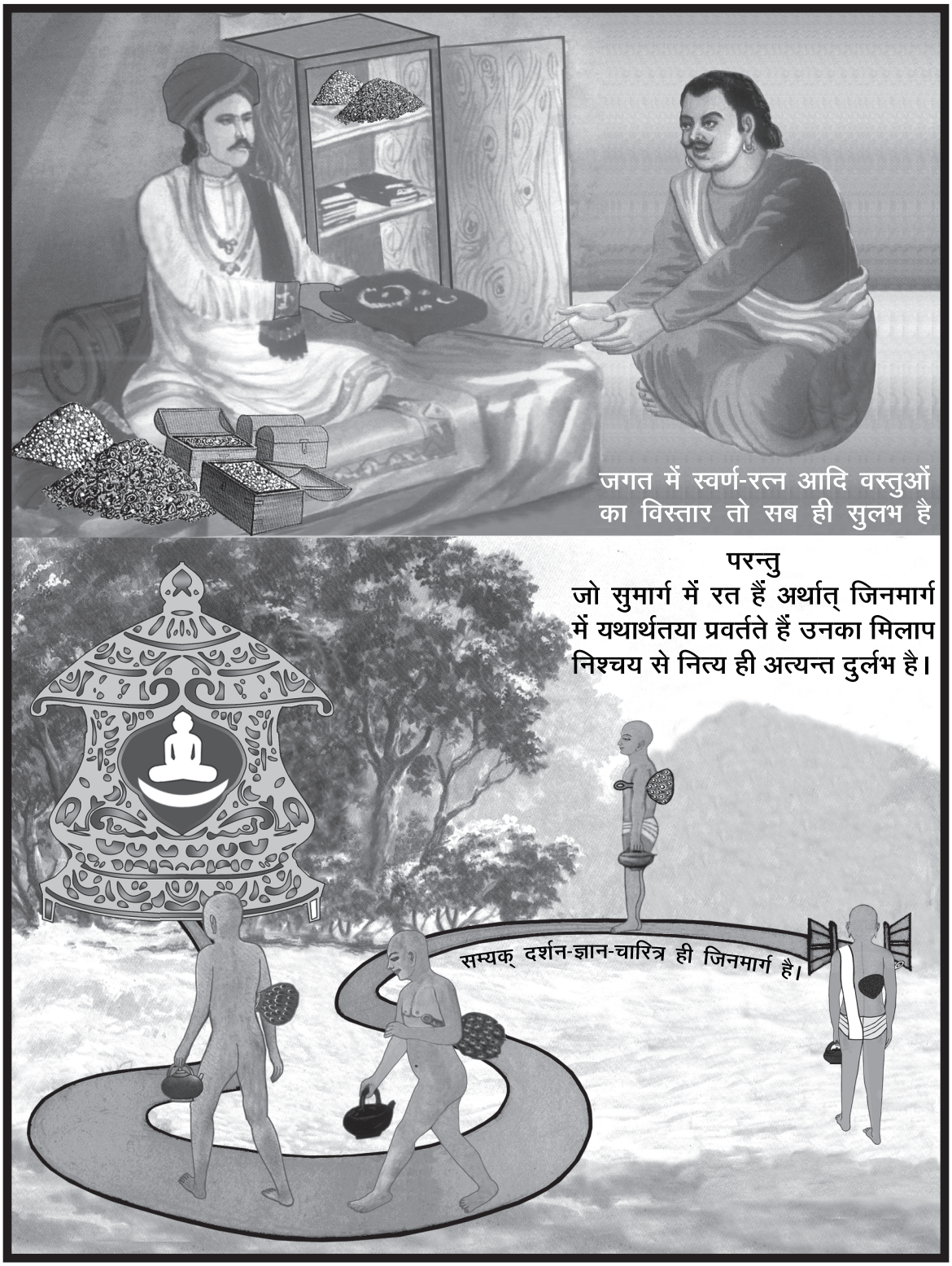
जगत में स्वर्ण-रत्न आदि वस्तुओं
का विस्तार तो सब ही सुलभ है
परन्तु
जो सुमार्ग में रत हैं अर्थात् जिनमार्ग
में यथार्थतया प्रवर्तते हैं उनका मिलाप
निश्चय से नित्य ही अत्यन्त दुर्लभ है।
सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही जिनमार्ग है।

गाथा १४७



जिन्हें साधर्मियों के प्रति तो ऐसा गोवत्सवत् वात्सल्य नहीं है
और

बंधु-पुत्र आदि
कुटुम्ब के प्रति
अनुराग है



उन्हें प्रकटपने
सम्यक्त्व नहीं है-
ऐसा सिद्धान्त के
न्याय से जानना
चाहिये।

गाथा १५४

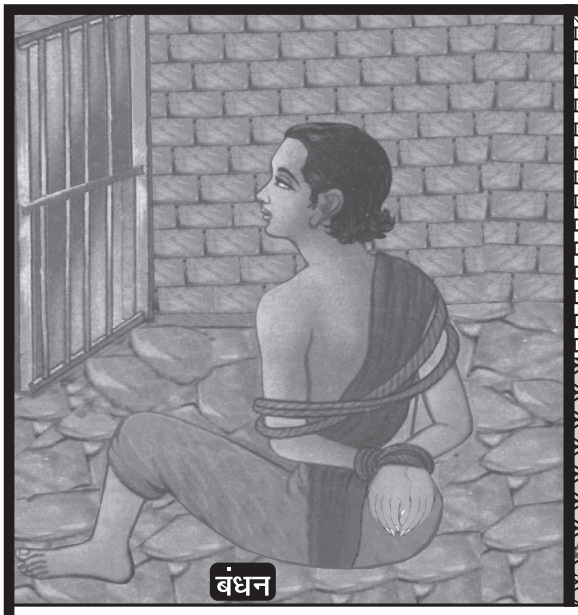



इस लोक में बंधन और मरण के भय आदि का दुःख तीव्र दुःख नहीं है।

दुखों में
दुःख का निधान तो



जिनप्रभु के वचनों की
आसादना अर्थात् विराधना
करना है।



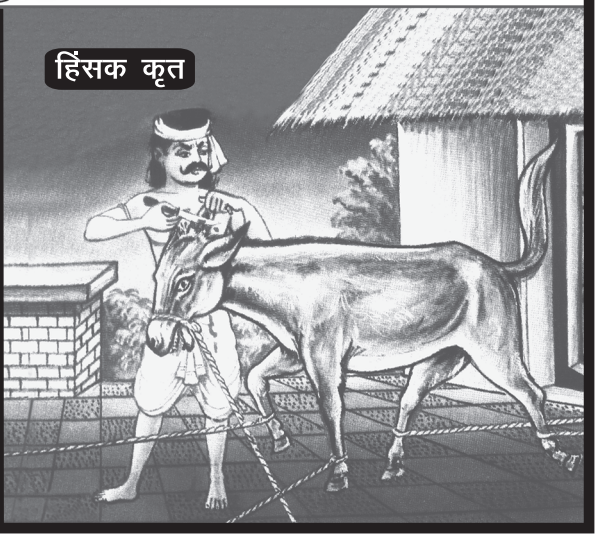

गाथा १५५

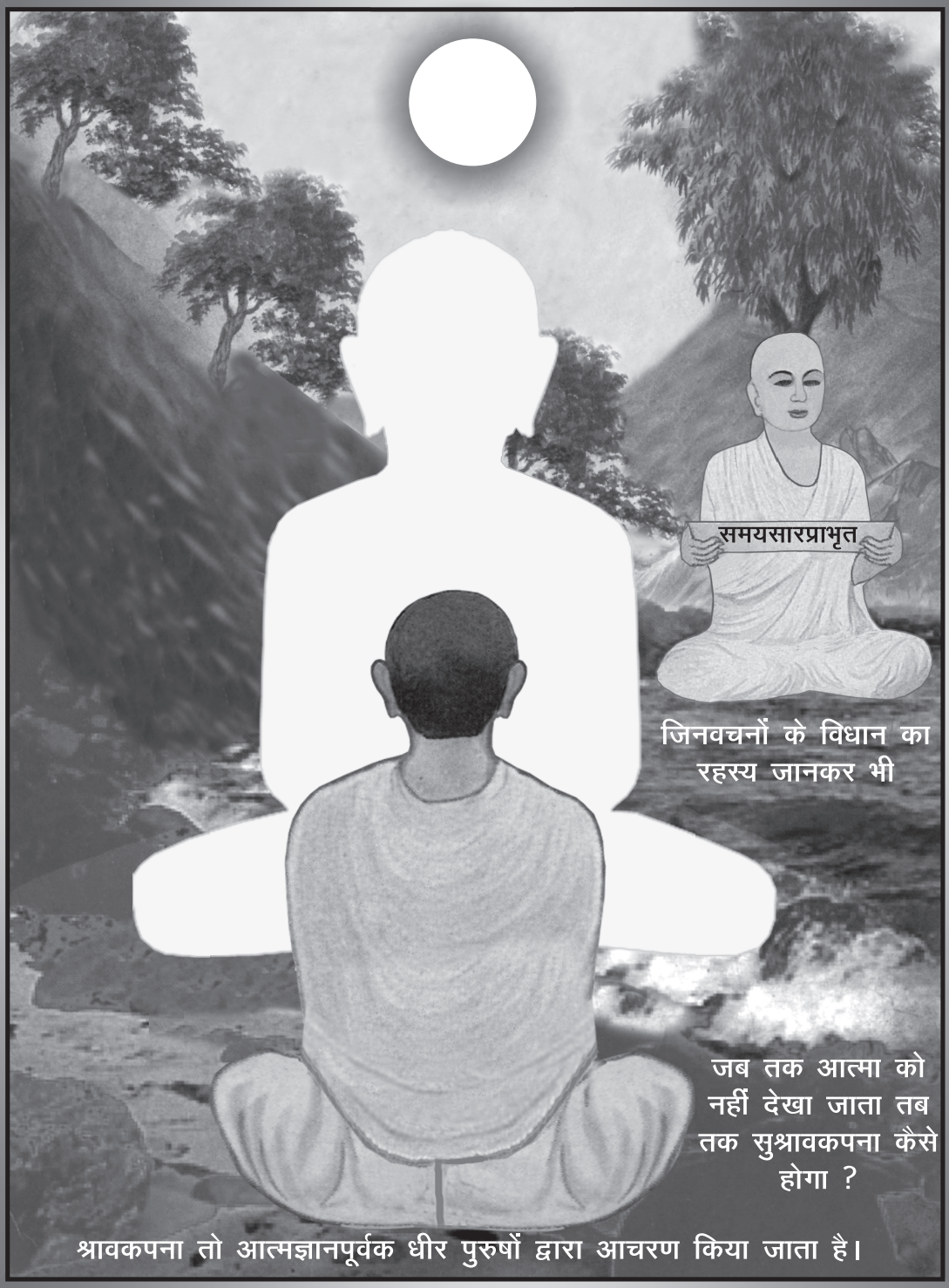
समयसारप्राभृत
जिनवचनों के विधान का रहस्य जानकर भी
जब तक आत्मा को नहीं देखा जाता तब तक सुश्रावकपना कैसे होगा ?
श्रावकपना तो आत्मज्ञानपूर्वक धीर पुरुषों द्वारा आचरण किया जाता है।

गाथा १५६

यद्यपि मैं
उत्तम श्रावक की
पैड़ी पर चढ़ने में असमर्थ हूँ

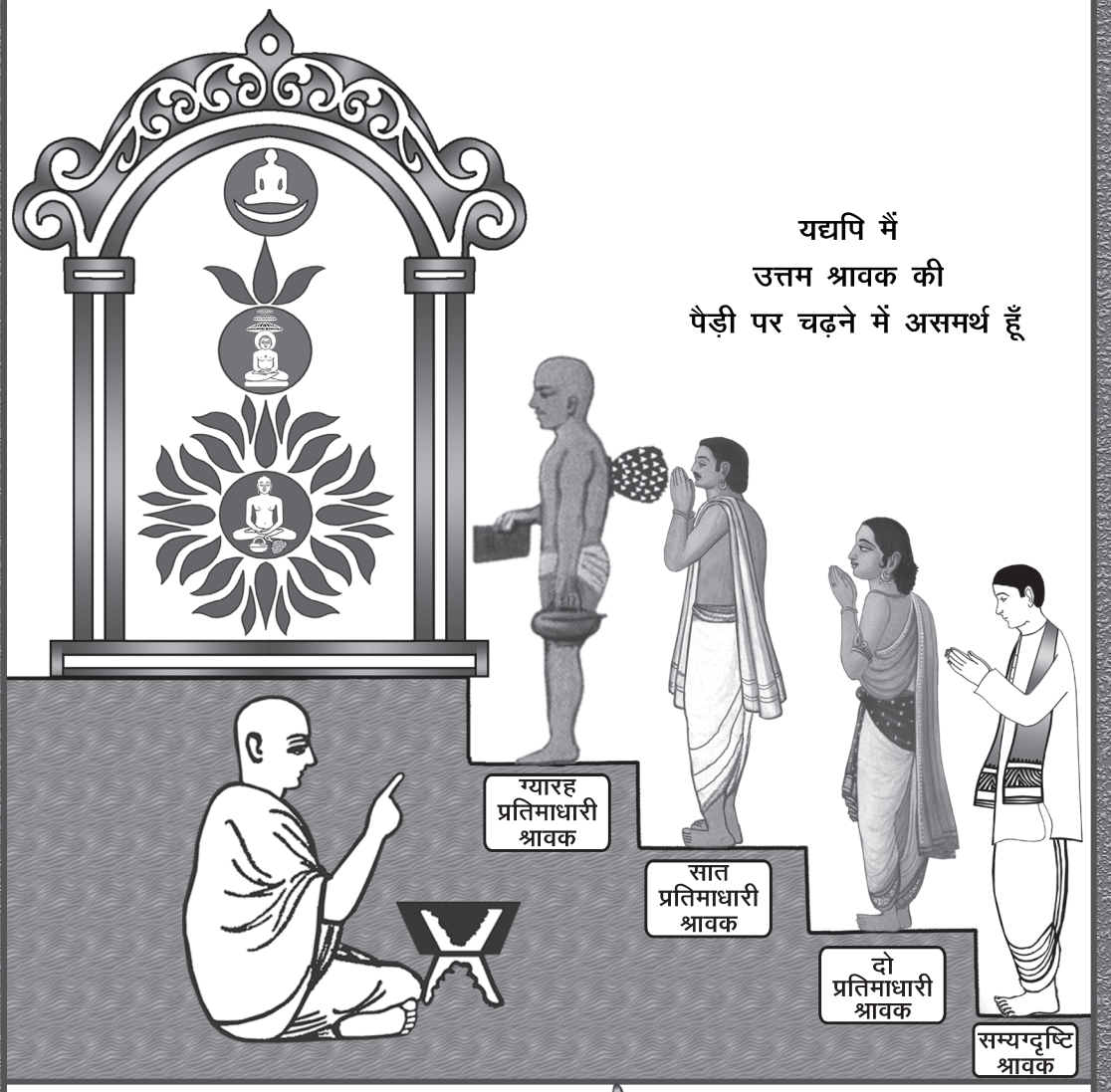

तथापि
प्रभु के वचनों के अनुसार
करने का मनोरथ
मेरे हृदय में सदा बना रहता है।



गाथा १५७



हे प्रभु !
परम भाव से
आपके चरणों में
प्रणाम करके
यह प्रार्थना करता हूँ कि 'आपके

वचन रूपी रत्नों को

ग्रहण करने का मुझे सदा अत्यन्त लोभ हो'–
ऐसी ग्रंथकार ने इष्ट प्रार्थना की है।



ग्रंथकार
श्री नेमिचंद जी

गाथा १६०

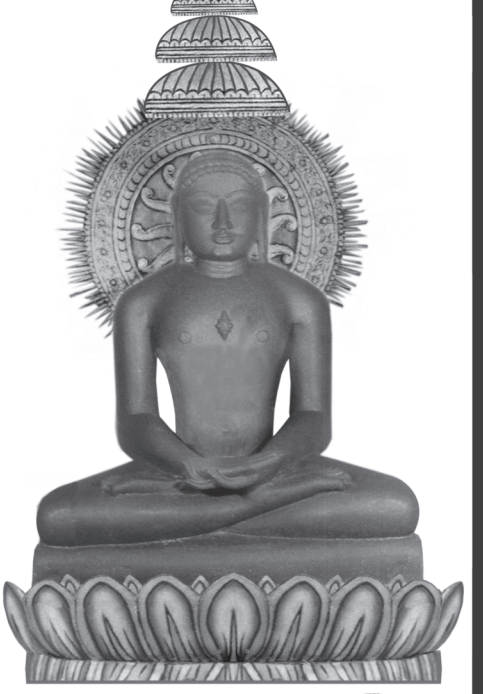

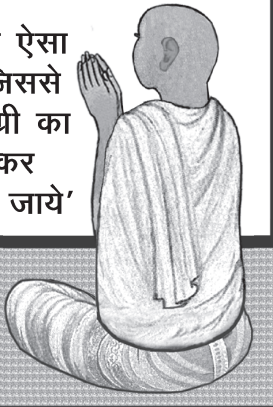

'हे प्रभो ! मुझ पर ऐसा
स्वामिपना करो जिससे
मुझे गुरु की सामग्री का
सुयोग प्राप्त होकर
सम्यक्त्व सुलभ हो जाये'

अथवा
मेरा मनुष्यपना
सफल हो जाये'।

गाथा १६१

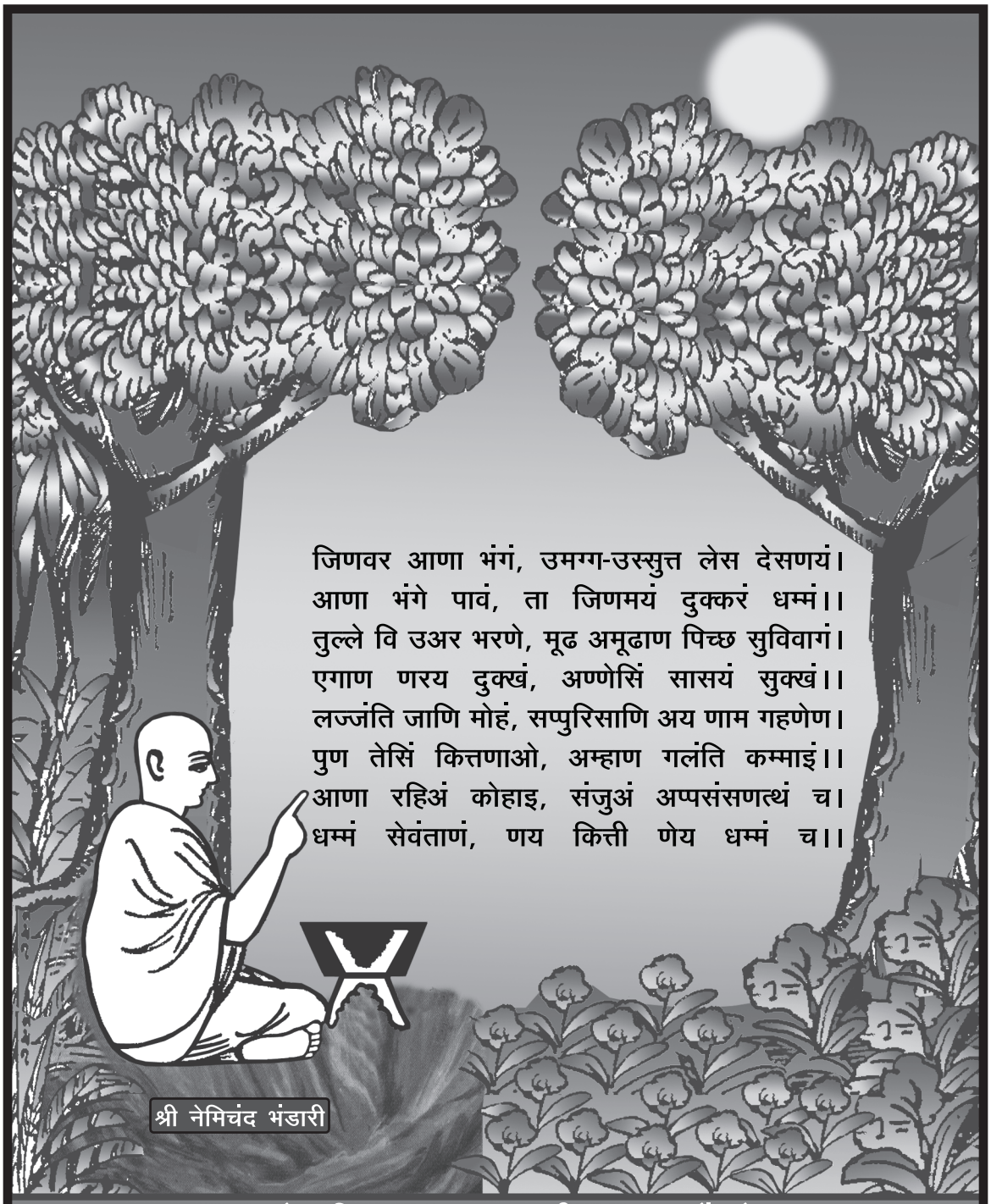

'उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला' की इन गाथाओं को
यथार्थ आचरण में तत्पर हे भव्य जीवों !
तुम पढ़ो, जानो और कल्याण रूप मोक्ष पद प्राप्त करो।

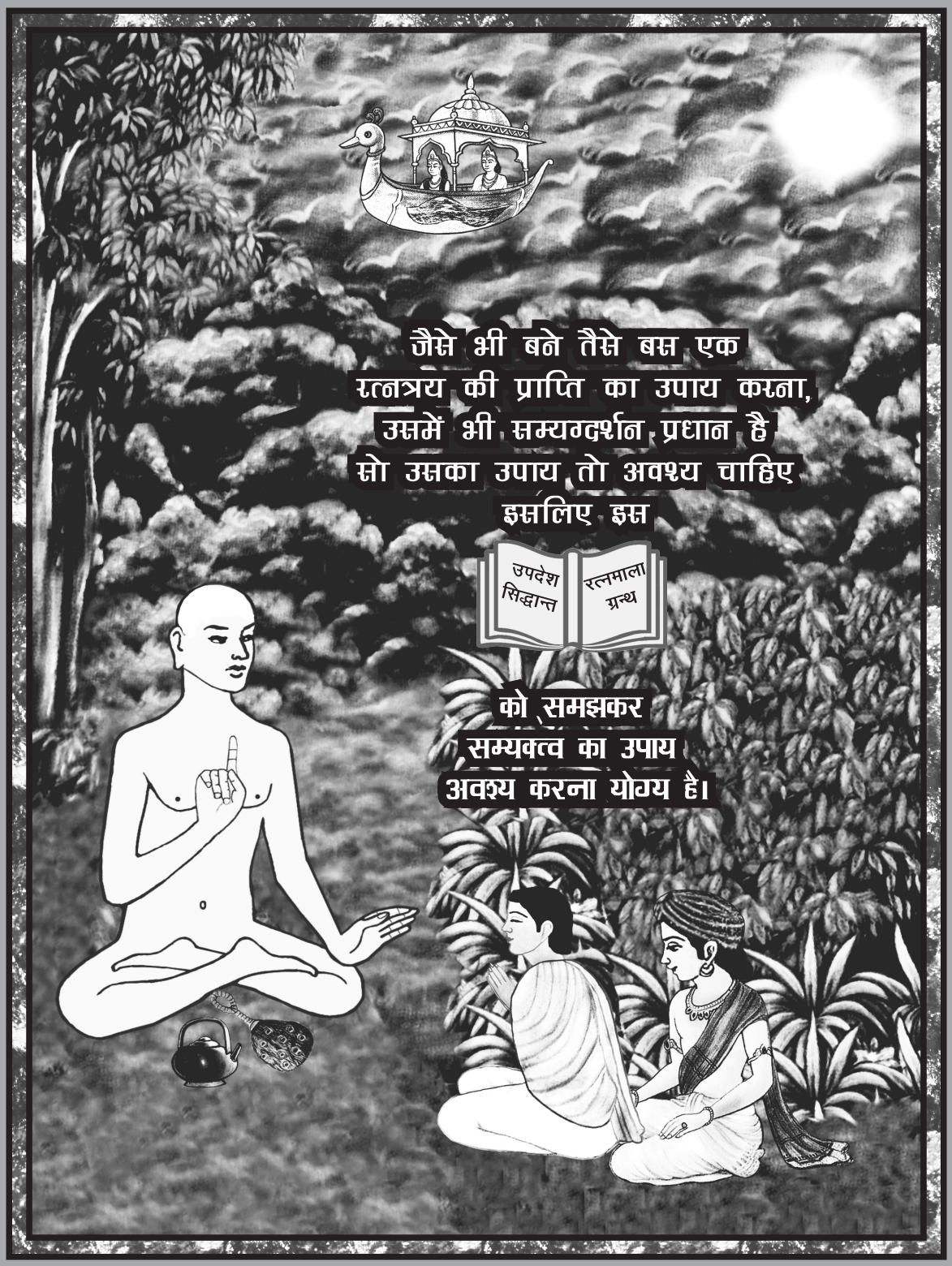
जैसे भी बने तैसे बस एक
रत्नत्रय की प्राप्ति का उपाय करना,
उसमें भी सम्यग्दर्शन प्रधान है
सो उसका उपाय तो अवश्य चाहिए
इसलिए इस
उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला ग्रन्थ
को समझकर
सम्यक्त्व का उपाय
अवश्य करना योग्य है।


उपदेश
सिद्धान्त
रत्नमाला
के
कुछ अनमोल रत्न

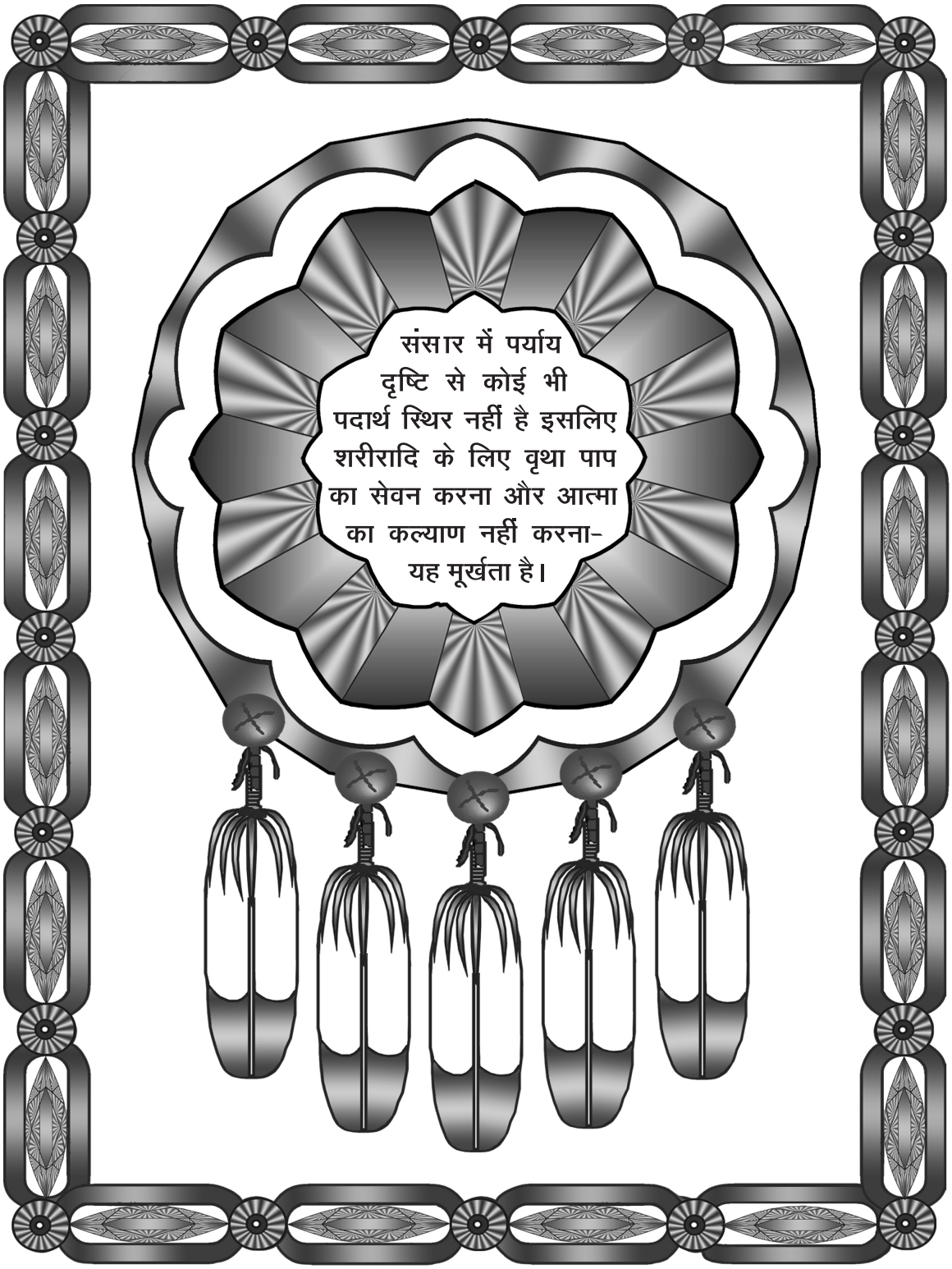
संसार में पर्याय
दृष्टि से कोई भी
पदार्थ स्थिर नहीं है इसलिए
शरीरादि के लिए वृथा पाप
का सेवन करना और आत्मा
का कल्याण नहीं करना-
यह मूर्खता है।

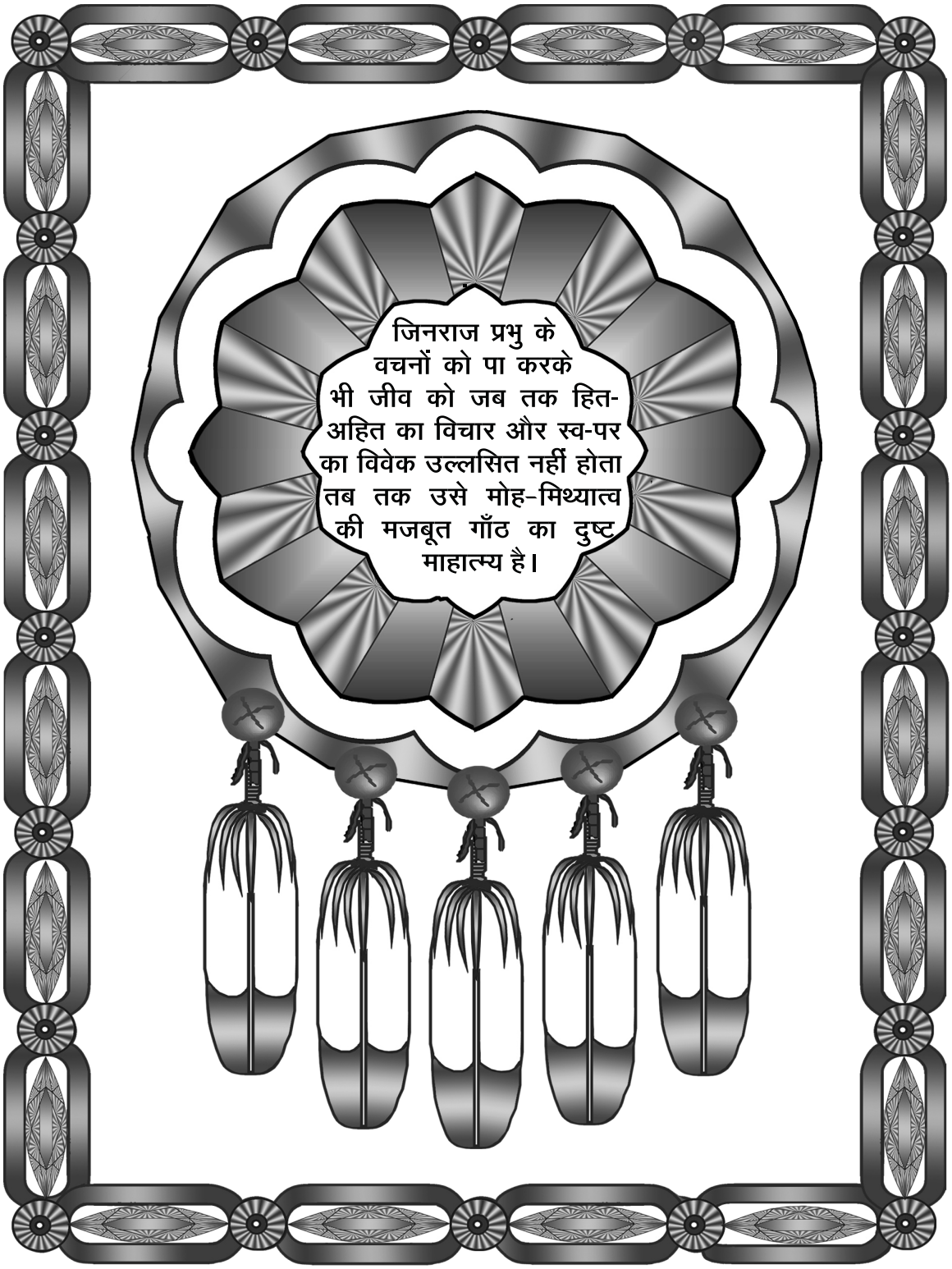
जिनराज प्रभु के
वचनों को पा करके
भी जीव को जब तक हित-
अहित का विचार और स्व-पर
का विवेक उल्लसित नहीं होता
तब तक उसे मोह-मिथ्यात्व
की मजबूत गाँठ का दुष्ट
माहात्म्य है।

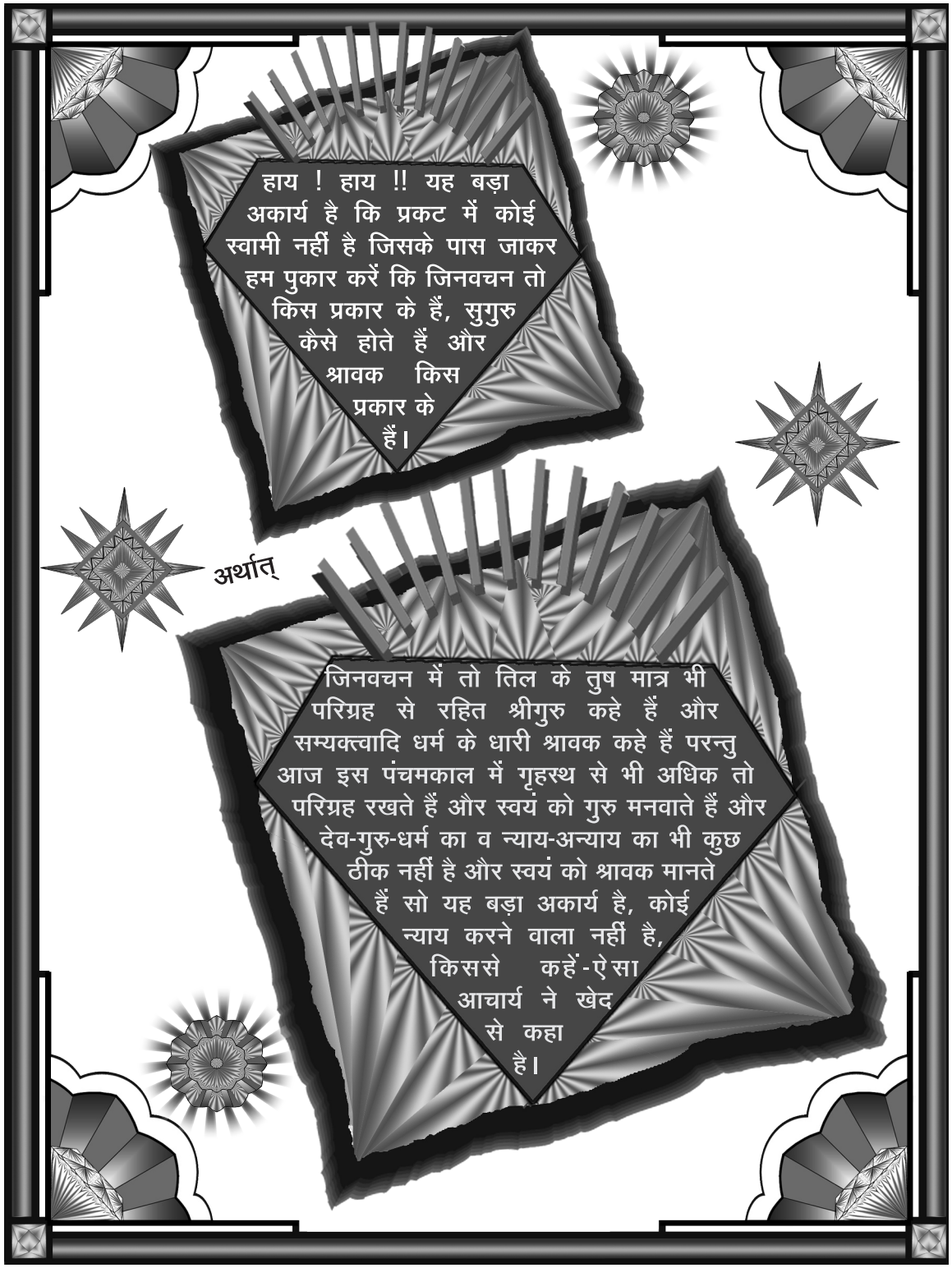
हाय ! हाय !! यह बड़ा अकार्य है कि प्रकट में कोई स्वामी नहीं है जिसके पास जाकर हम पुकार करें कि जिनवचन तो किस प्रकार के हैं, सुगुरु कैसे होते हैं और श्रावक किस प्रकार के हैं।
अर्थात्
जिनवचन में तो तिल के तुष मात्र भी परिग्रह से रहित श्रीगुरु कहे हैं और सम्यक्त्वादि धर्म के धारी श्रावक कहे हैं परन्तु आज इस पंचमकाल में गृहस्थ से भी अधिक तो परिग्रह रखते हैं और स्वयं को गुरु मनवाते हैं और देव-गुरु-धर्म का व न्याय-अन्याय का भी कुछ ठीक नहीं है और स्वयं को श्रावक मानते हैं सो यह बड़ा अकार्य है, कोई न्याय करने वाला नहीं है, किससे कहें-ऐसा आचार्य ने खेद से कहा है।

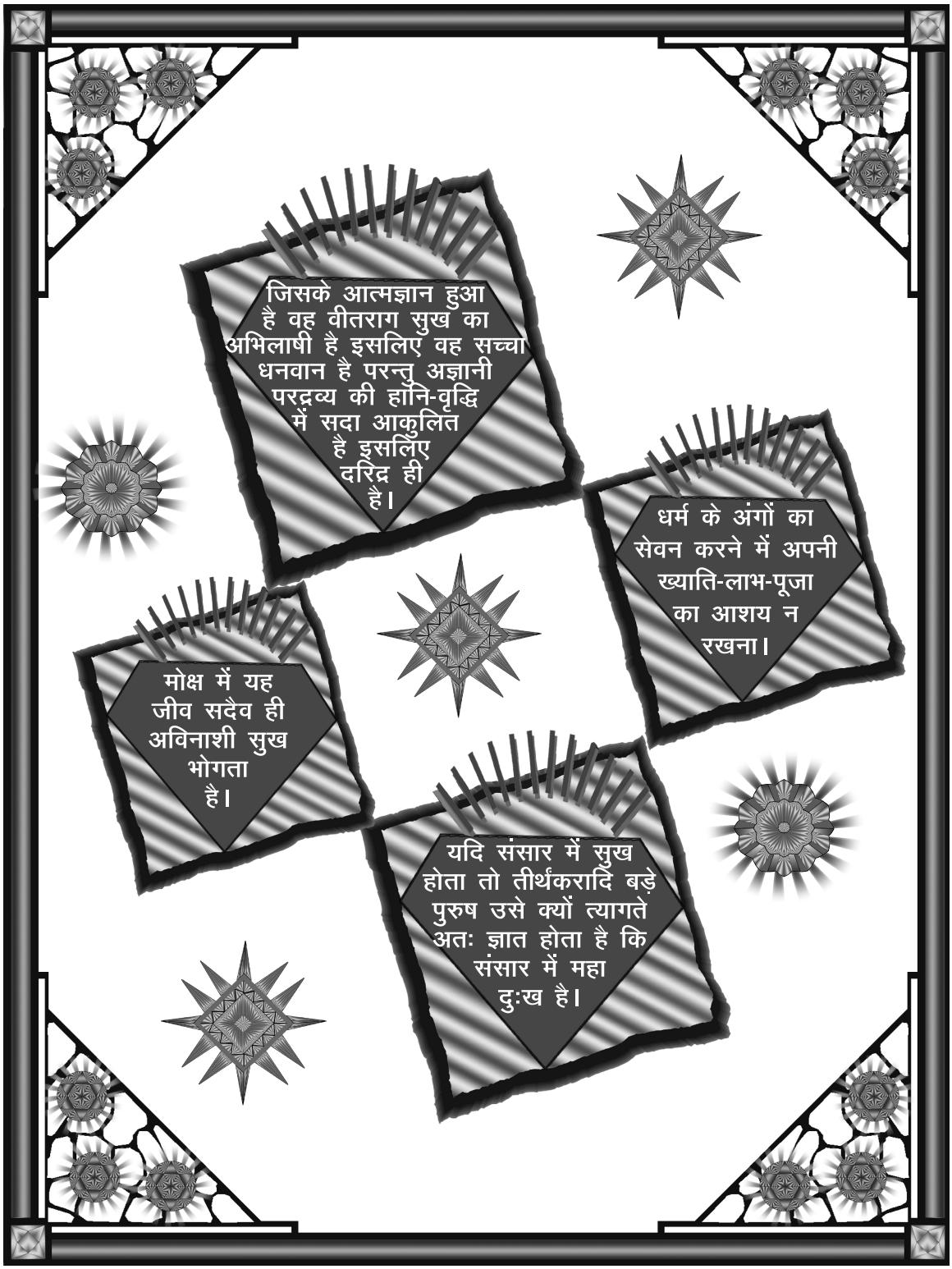
जिसके आत्मज्ञान हुआ है वह वीतराग सुख का अभिलाषी है इसलिए वह सच्चा धनवान है परन्तु अज्ञानी परद्रव्य की हानि-वृद्धि में सदा आकुलित है इसलिए दरिद्र ही है।
धर्म के अंगों का सेवन करने में अपनी ख्याति-लाभ-पूजा का आशय न रखना।
मोक्ष में यह जीव सदैव ही अविनाशी सुख भोगता है।
यदि संसार में सुख होता तो तीर्थंकरादि बड़े पुरुष उसे क्यों त्यागते अतः ज्ञात होता है कि संसार में महा दुःख है।

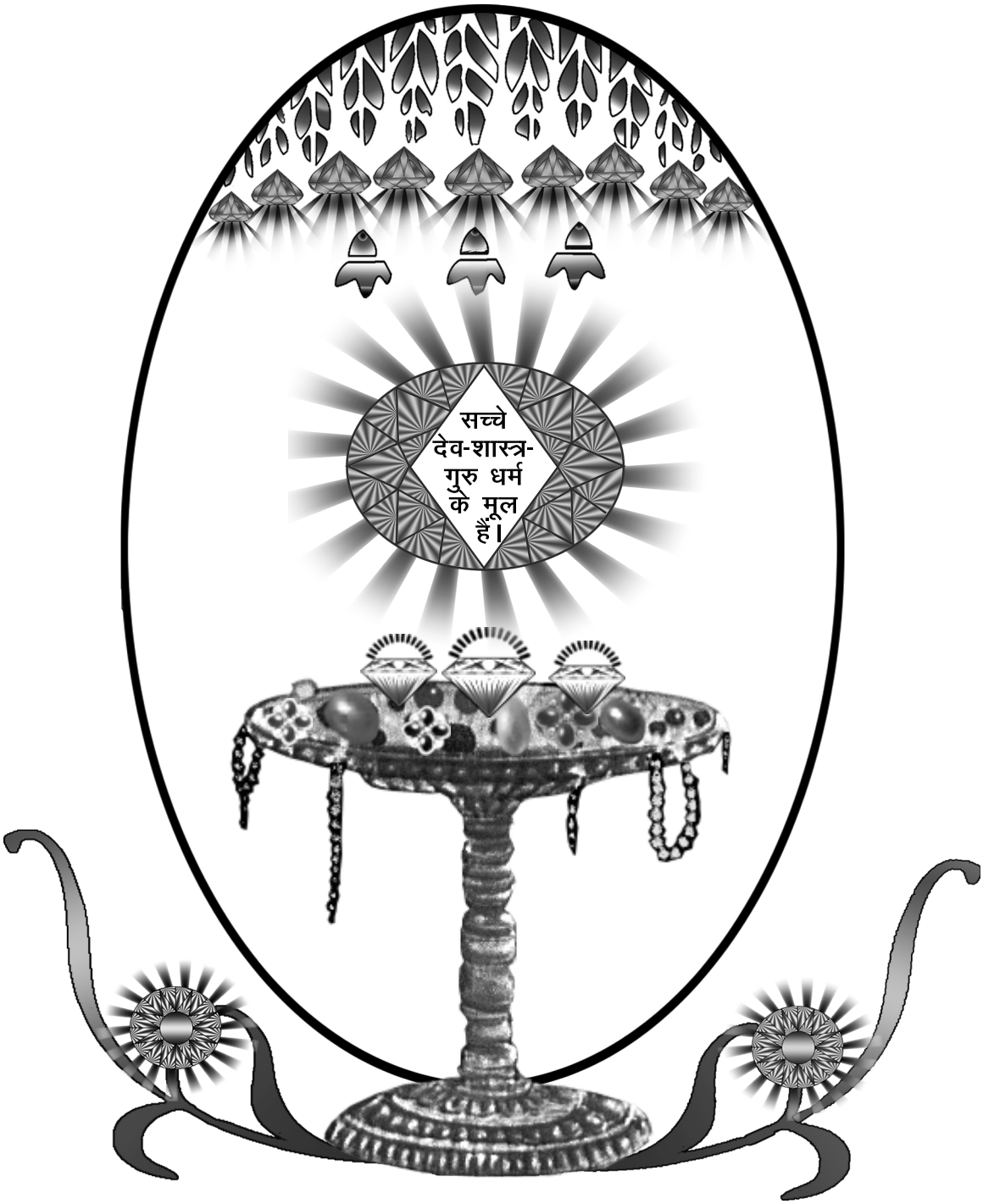
सच्चे
देव-शास्त्र-
गुरु धर्म
के मूल
हैं।


जिस
धन-धान्यादि
को निश्चय से अज्ञानी
लोग मानते हैं उसको तो
सब लोग मानते ही हैं परन्तु जिस
वीतराग भाव को जिनराज
मानते है उसे कोई
विरले जीव
मानते हैं।

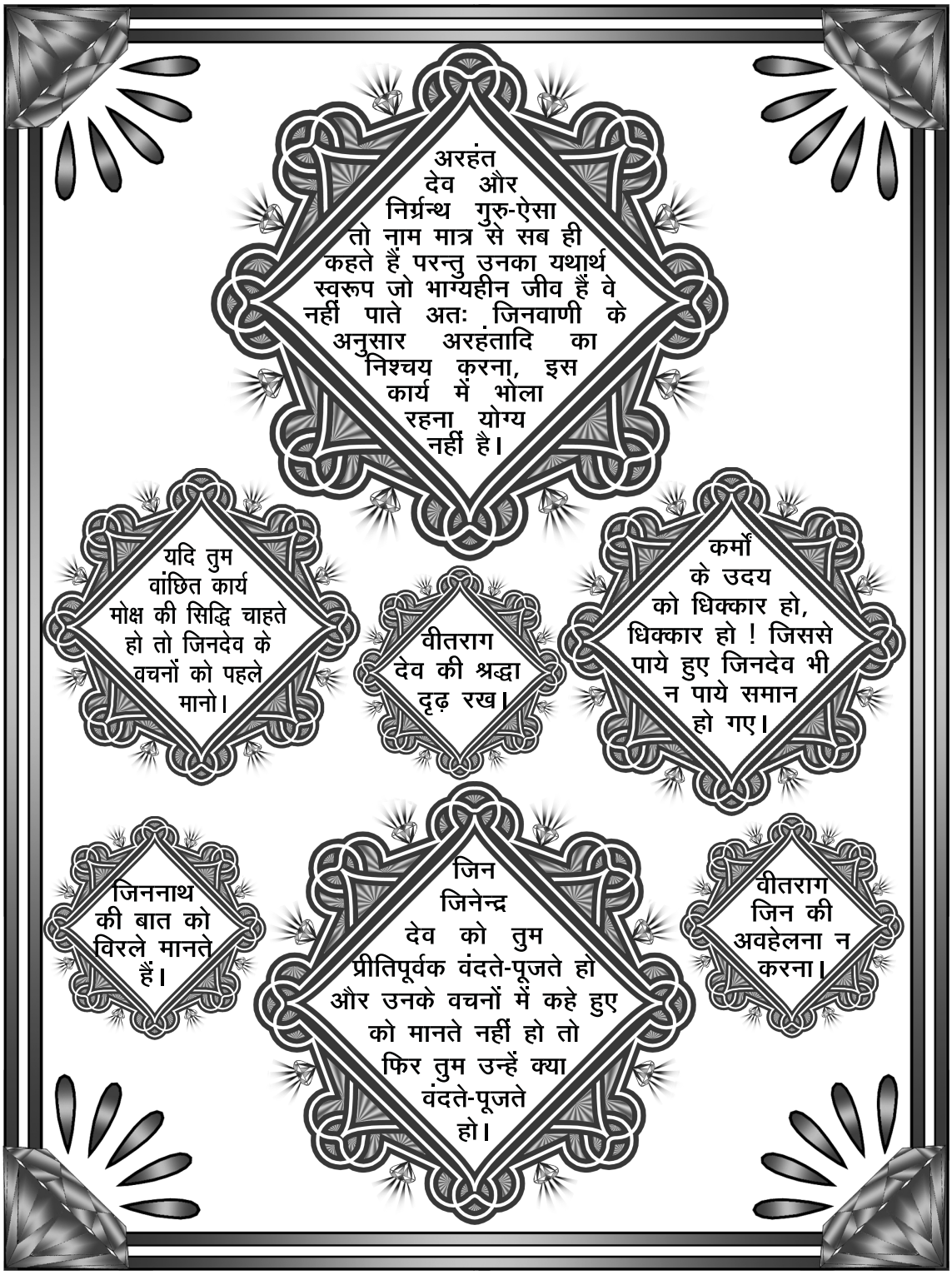
अरहंत देव और निर्ग्रन्थ गुरु-ऐसा तो नाम मात्र से सब ही कहते हैं परन्तु उनका यथार्थ स्वरूप जो भाग्यहीन जीव हैं वे नहीं पाते अतः जिनवाणी के अनुसार अरहंतादि का निश्चय करना, इस कार्य में भोला रहना योग्य नहीं है।
यदि तुम वांछित कार्य मोक्ष की सिद्धि चाहते हो तो जिनदेव के वचनों को पहले मानो।
वीतराग देव की श्रद्धा दृढ़ रख।
कर्मों के उदय को धिक्कार हो, धिक्कार हो ! जिससे पाये हुए जिनदेव भी न पाये समान हो गए।
जिननाथ की बात को विरले मानते हैं।
जिन जिनेन्द्र देव को तुम प्रीतिपूर्वक वंदते-पूजते हो और उनके वचनों में कहे हुए को मानते नहीं हो तो फिर तुम उन्हें क्या वंदते-पूजते हो।
वीतराग जिन की अवहेलना न करना।


कुदेवों को पूजना-वंदना मिथ्याभाव है।
कुदेव का प्रसंग दूर ही से छोड़ देना।
जिनराज ही मरण भय का निवारण करते हैं।
सच्चे देव और गुरु का स्वरूप पाना कठिन है।
अभिमान विष को उपशमाने के लिए ही अरहंत देव अथवा निर्ग्रन्थ गुरु का स्तवन करते हैं, गुण गाते है पर उनसे भी मान का पोषण करना कि हम बड़े भक्त, बड़े ज्ञानी हैं, हमारा बड़ा चैत्यालय है सो हाय ! हाय !! यह उनका पूर्व पाप का उदय है अर्थात् अभाग्य है।
कोई भी कुदेव मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं है।
उत्तम कृतार्थ पुरुषों के हृदय में अरहंत निरन्तर बसते हैं।
अरहंत के श्रद्धान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

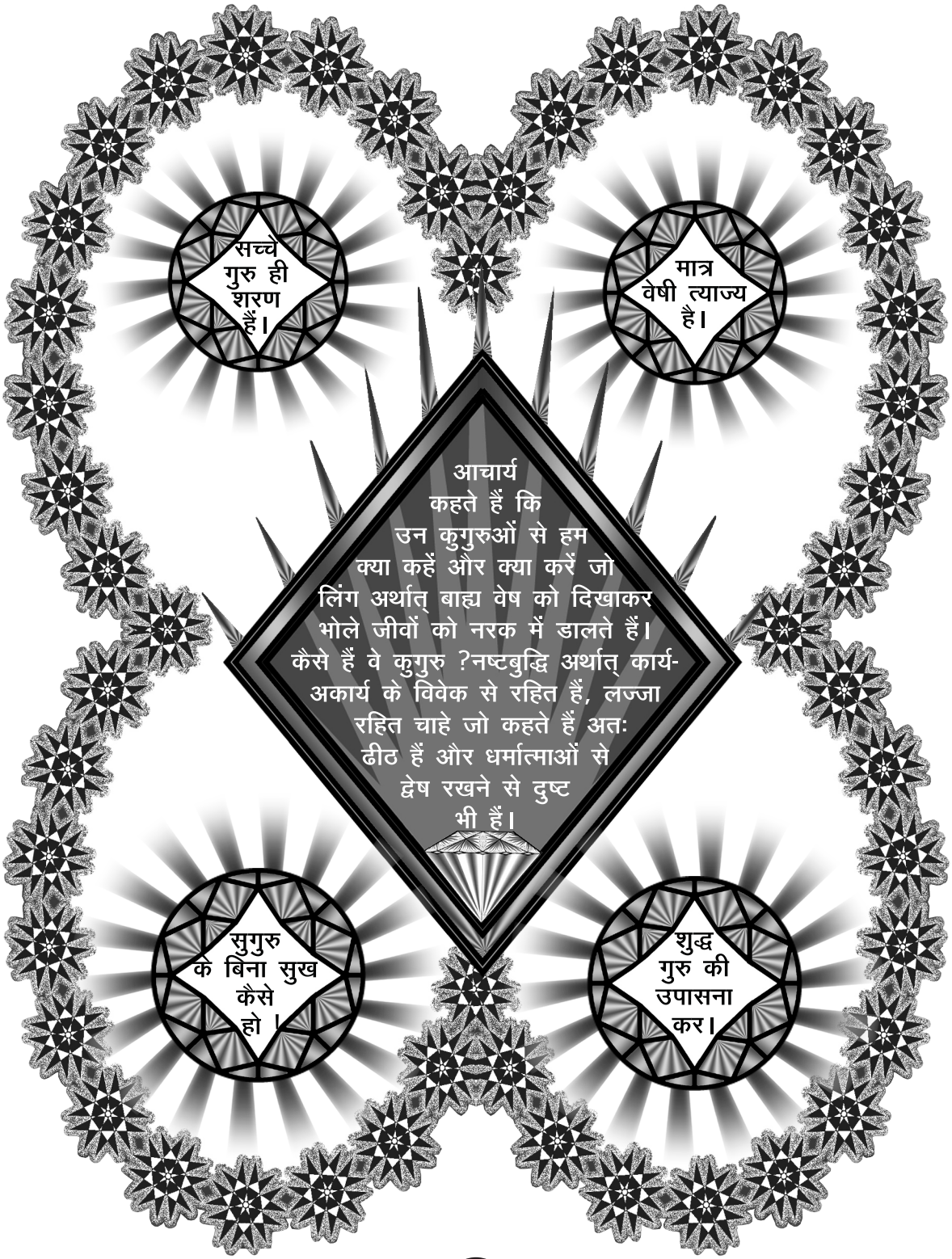
सच्चे गुरु ही शरण हैं।
मात्र वेषी त्याज्य है।
आचार्य कहते हैं कि उन कुगुरुओं से हम क्या कहें और क्या करें जो लिंग अर्थात् बाह्य वेष को दिखाकर भोले जीवों को नरक में डालते हैं। कैसे हैं वे कुगुरु ?नष्टबुद्धि अर्थात् कार्य-अकार्य के विवेक से रहित हैं, लज्जा रहित चाहे जो कहते हैं अतः ढीठ हैं और धर्मात्माओं से द्वेष रखने से दुष्ट भी हैं।
सुगुरु के बिना सुख कैसे हो।
शुद्ध गुरु की उपासना कर।

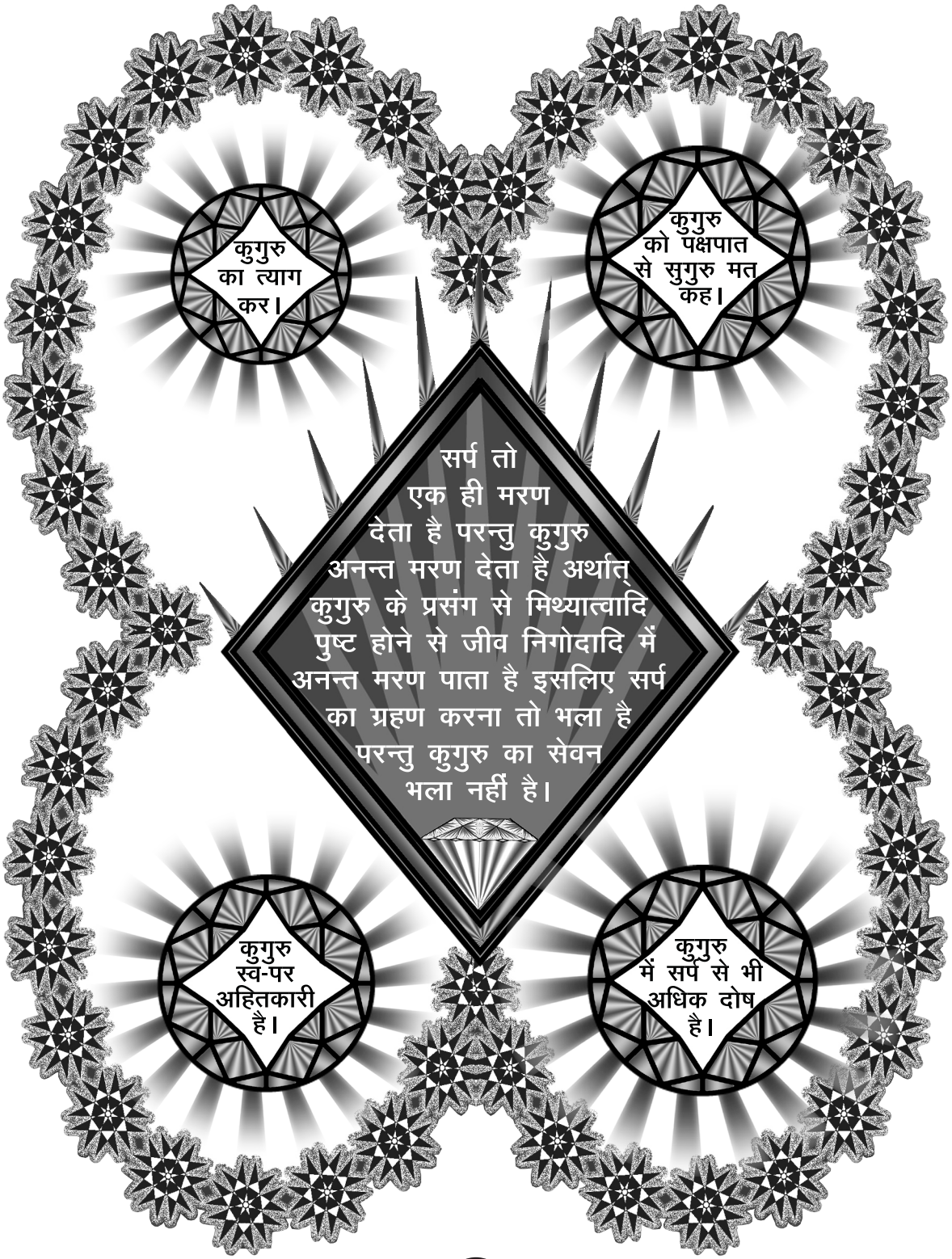
कुगुरु का त्याग कर।
कुगुरु को पक्षपात से सुगुरु मत कह।
सर्प तो एक ही मरण देता है परन्तु कुगुरु अनन्त मरण देता है अर्थात् कुगुरु के प्रसंग से मिथ्यात्वादि पुष्ट होने से जीव निगोदादि में अनन्त मरण पाता है इसलिए सर्प का ग्रहण करना तो भला है परन्तु कुगुरु का सेवन भला नहीं है।
कुगुरु स्व-पर अहितकारी है।
कुगुरु में सर्प से भी अधिक दोष है।

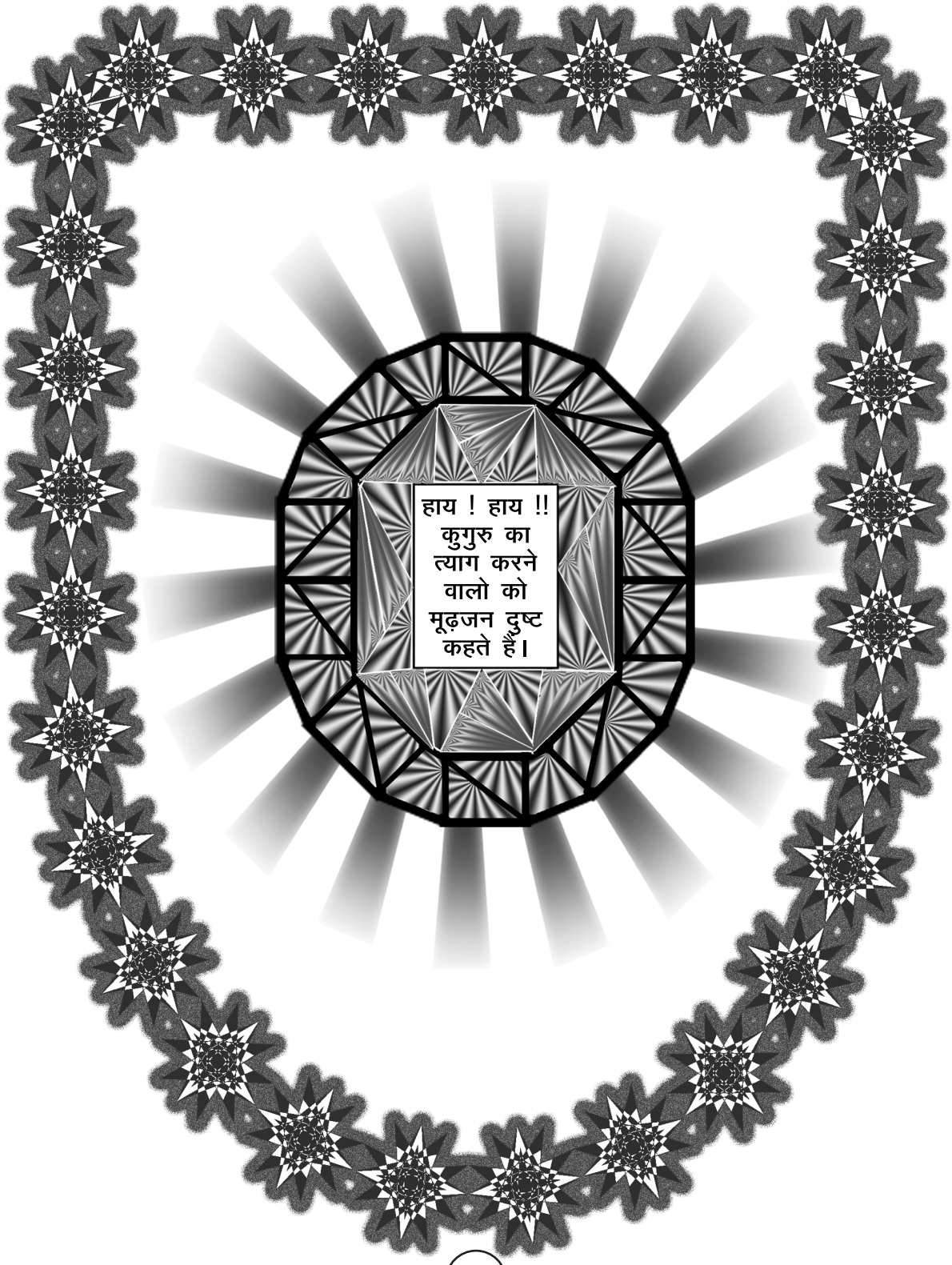
हाय ! हाय !!
कुगुरु का
त्याग करने
वालो को
मूढ़जन दुष्ट
कहते हैं।

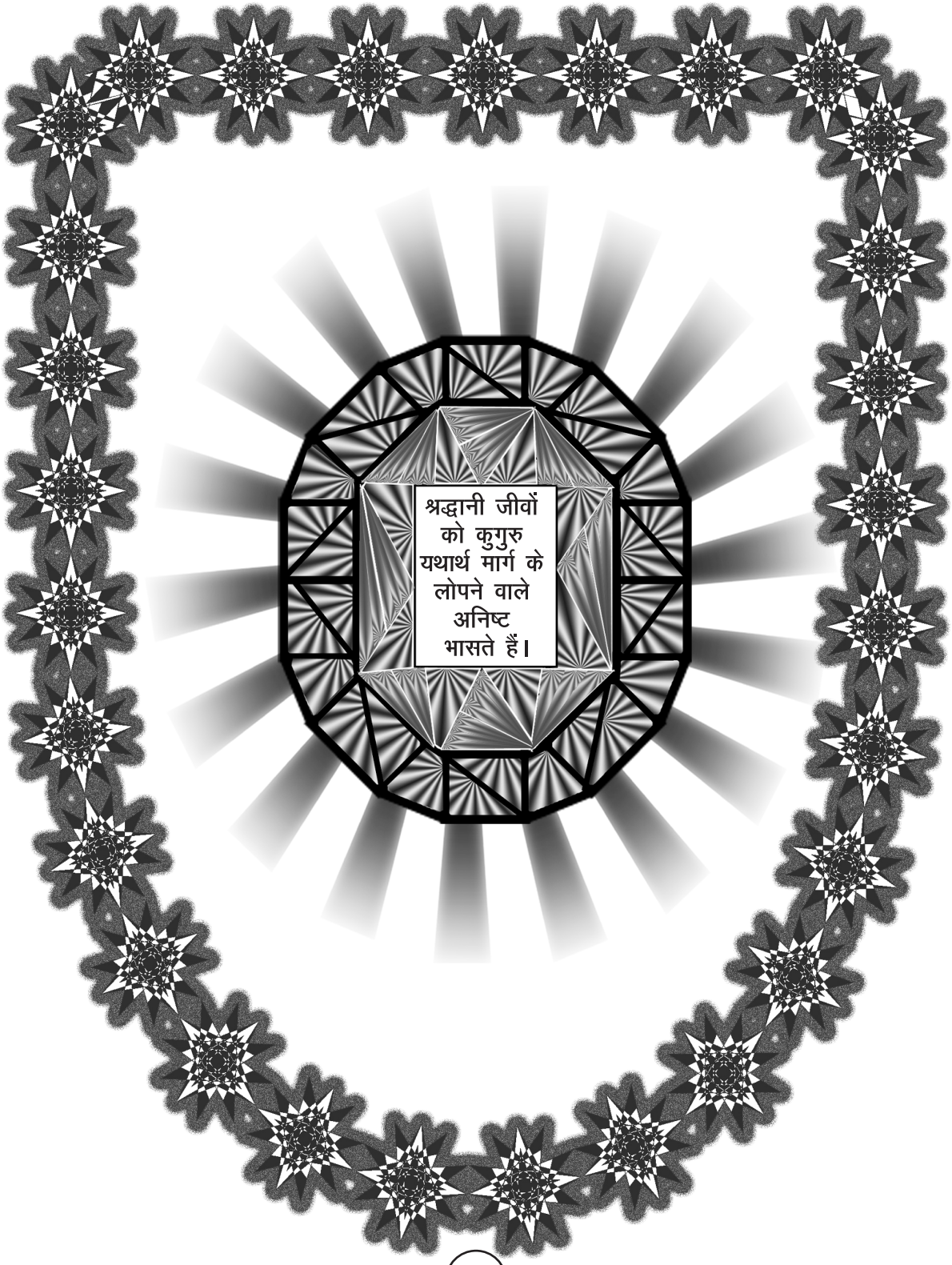
श्रद्धानी जीवों
को कुगुरु
यथार्थ मार्ग के
लोपने वाले
अनिष्ट
भासते हैं।

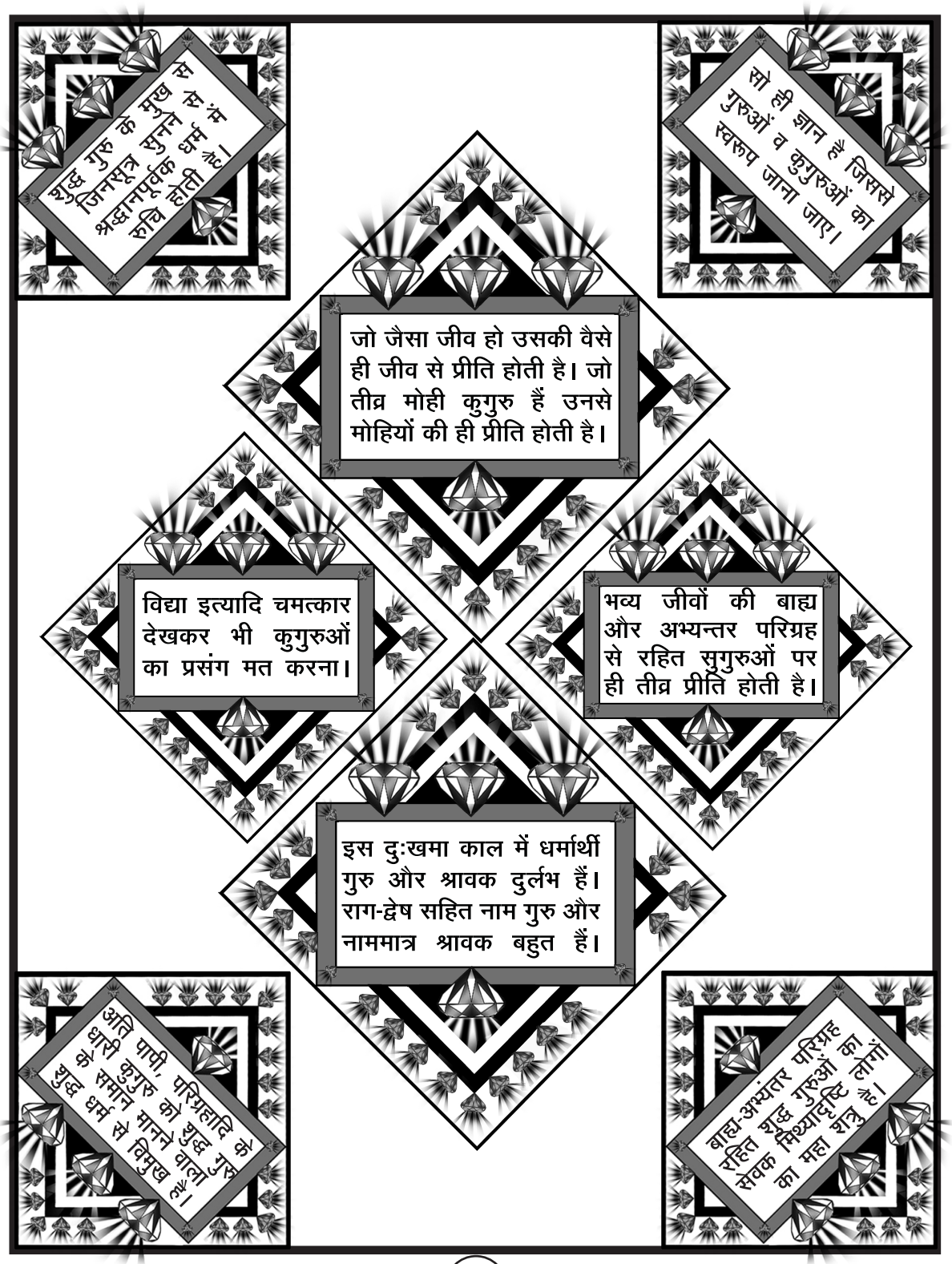
शुद्ध गुरु के मुख से जिनसूत्र सुनने से श्रद्धानपूर्वक धर्म में रुचि होती है।
सो ही ज्ञान है जिससे गुरुओं व कुगुरुओं का स्वरूप जाना जाए।
जो जैसा जीव हो उसकी वैसे ही जीव से प्रीति होती है। जो तीव्र मोही कुगुरु हैं उनसे मोहियों की ही प्रीति होती है।
विद्या इत्यादि चमत्कार देखकर भी कुगुरुओं का प्रसंग मत करना।
भव्य जीवों की बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से रहित सुगुरुओं पर ही तीव्र प्रीति होती है।
इस दुःखमा काल में धर्मार्थी गुरु और श्रावक दुर्लभ हैं। राग-द्वेष सहित नाम गुरु और नाममात्र श्रावक बहुत हैं।
अति पापी, परिग्रहादि के धारी कुगुरु को शुद्ध गुरु के समान मानने वाला शुद्ध धर्म से विमुख है।
बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह का त्याग रहित शुद्ध गुरुओं का सेवक मिथ्यादृष्टि का महा शत्रु है।

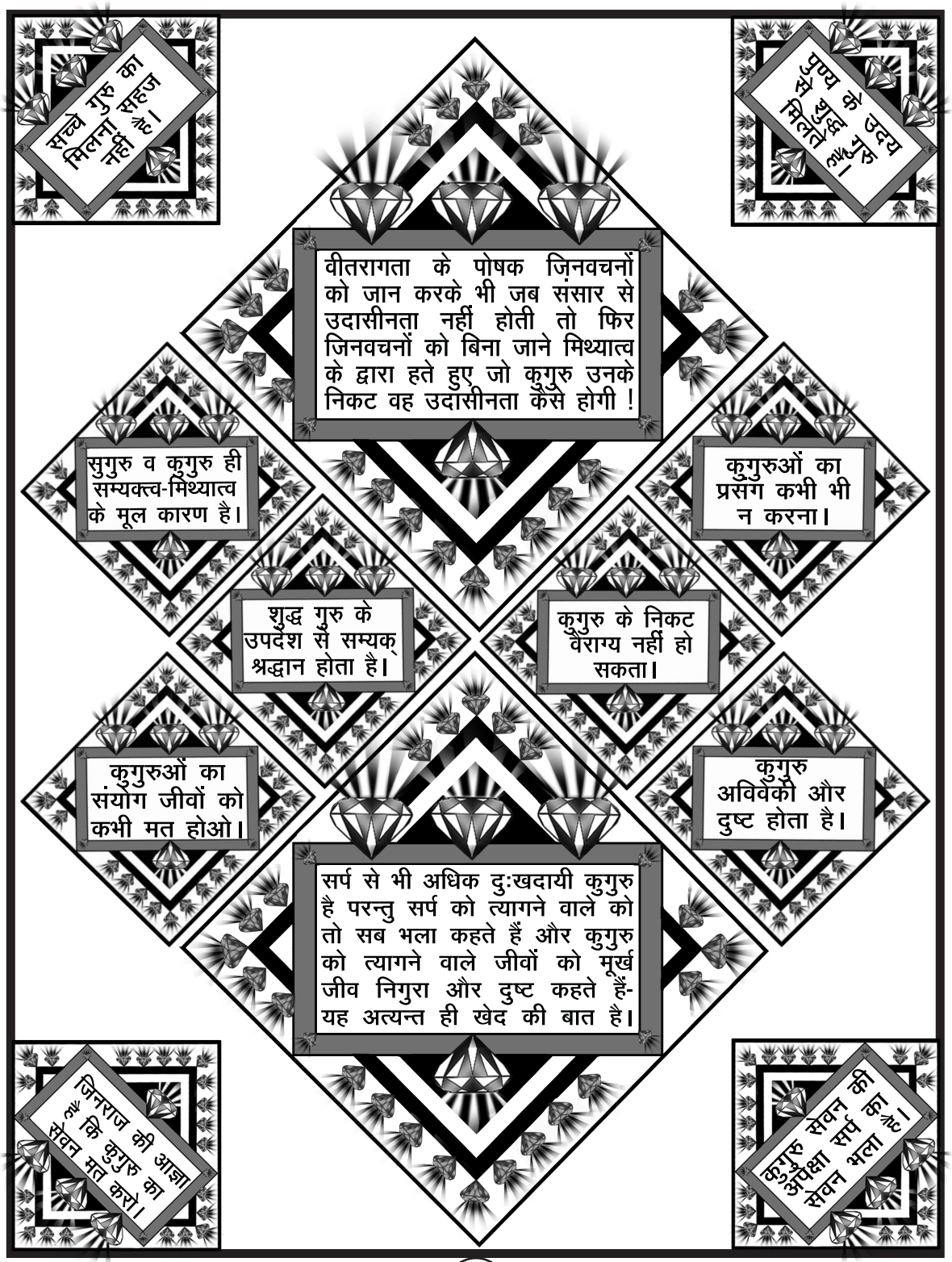

सच्चे गुरु का मिलना सहज नहीं है।

पुण्य के उदय से शुद्ध गुरु मिलते हैं।

वीतरागता के पोषक जिनवचनों को जान करके भी जब संसार से उदासीनता नहीं होती तो फिर जिनवचनों को बिना जाने मिथ्यात्व के द्वारा हते हुए जो कुगुरु उनके निकट वह उदासीनता कैसे होगी !

सुगुरु व कुगुरु ही सम्यक्त्व-मिथ्यात्व के मूल कारण है।

कुगुरुओं का प्रसंग कभी भी न करना।

शुद्ध गुरु के उपदेश से सम्यक् श्रद्धान होता है।

कुगुरु के निकट वैराग्य नहीं हो सकता।

कुगुरुओं का संयोग जीवों को कभी मत होओ।

कुगुरु अविवेकी और दुष्ट होता है।

सर्प से भी अधिक दुःखदायी कुगुरु है परन्तु सर्प को त्यागने वाले को तो सब भला कहते हैं और कुगुरु को त्यागने वाले जीवों को मूर्ख जीव निगुरा और दुष्ट कहते हैं- यह अत्यन्त ही खेद की बात है।

जिनराज की आज्ञा है कि कुगुरु का सेवन मत करो।

कुगुरु सेवन की अपेक्षा सर्प का सेवन भला है।

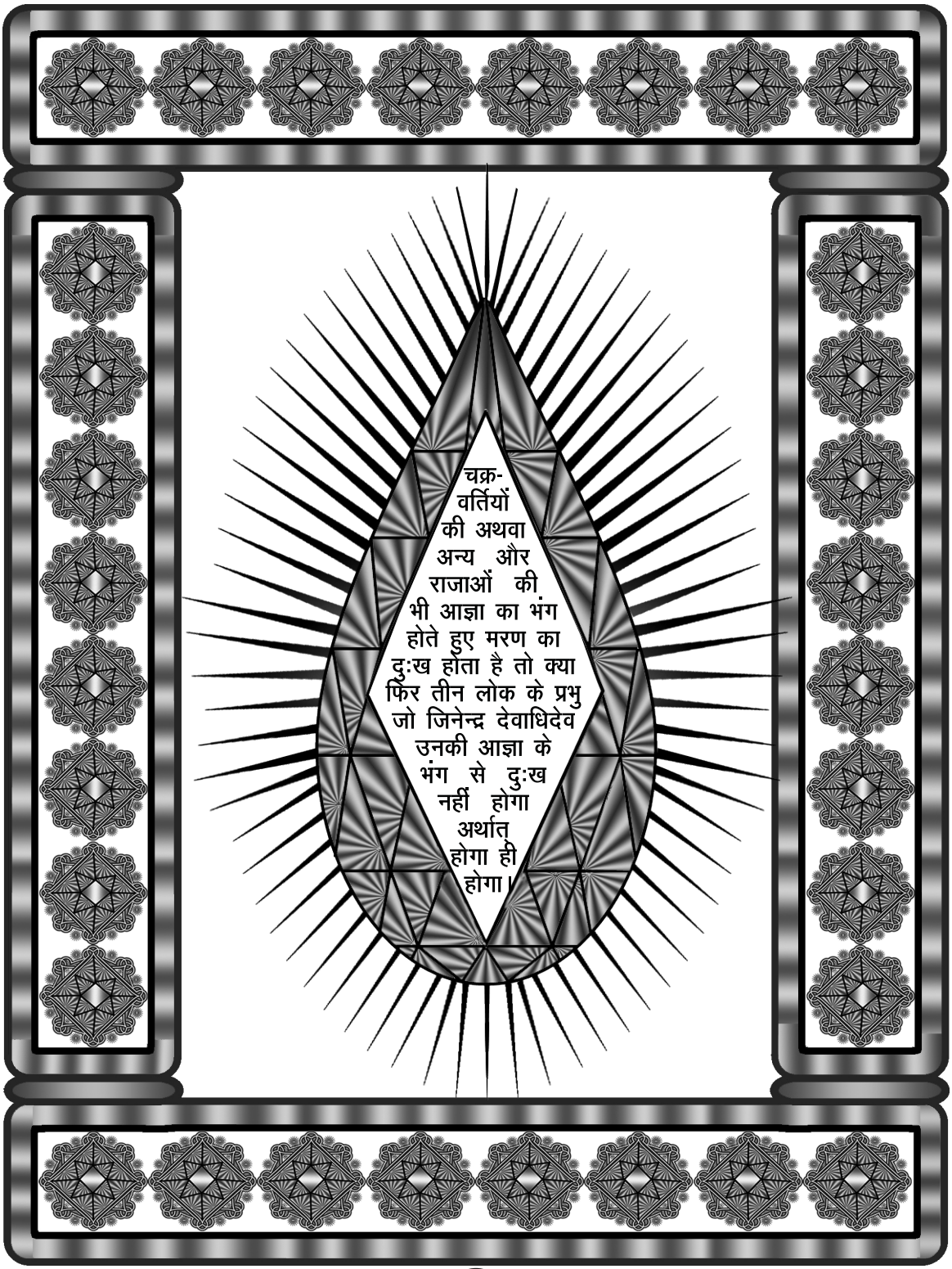
चक्र-
वर्तियों
की अथवा
अन्य और
राजाओं की
भी आज्ञा का भंग
होते हुए मरण का
दुःख होता है तो क्या
फिर तीन लोक के प्रभु
जो जिनेन्द्र देवाधिदेव
उनकी आज्ञा के
भंग से दुःख
नहीं होगा
अर्थात्
होगा ही
होगा।

अपनी युक्तिसे मानादि पोषनेको जिनाज्ञा सिवाय प्रवर्तना योग्य नहीं।

जो भगवान ने कहा है सो सत्य है।



जिनाज्ञा ही कर। समस्त धर्म कार्य प्रमाण

जिसके जिनाज्ञा प्रमाण नहीं उसके न ही तो धर्म है, न दया है।

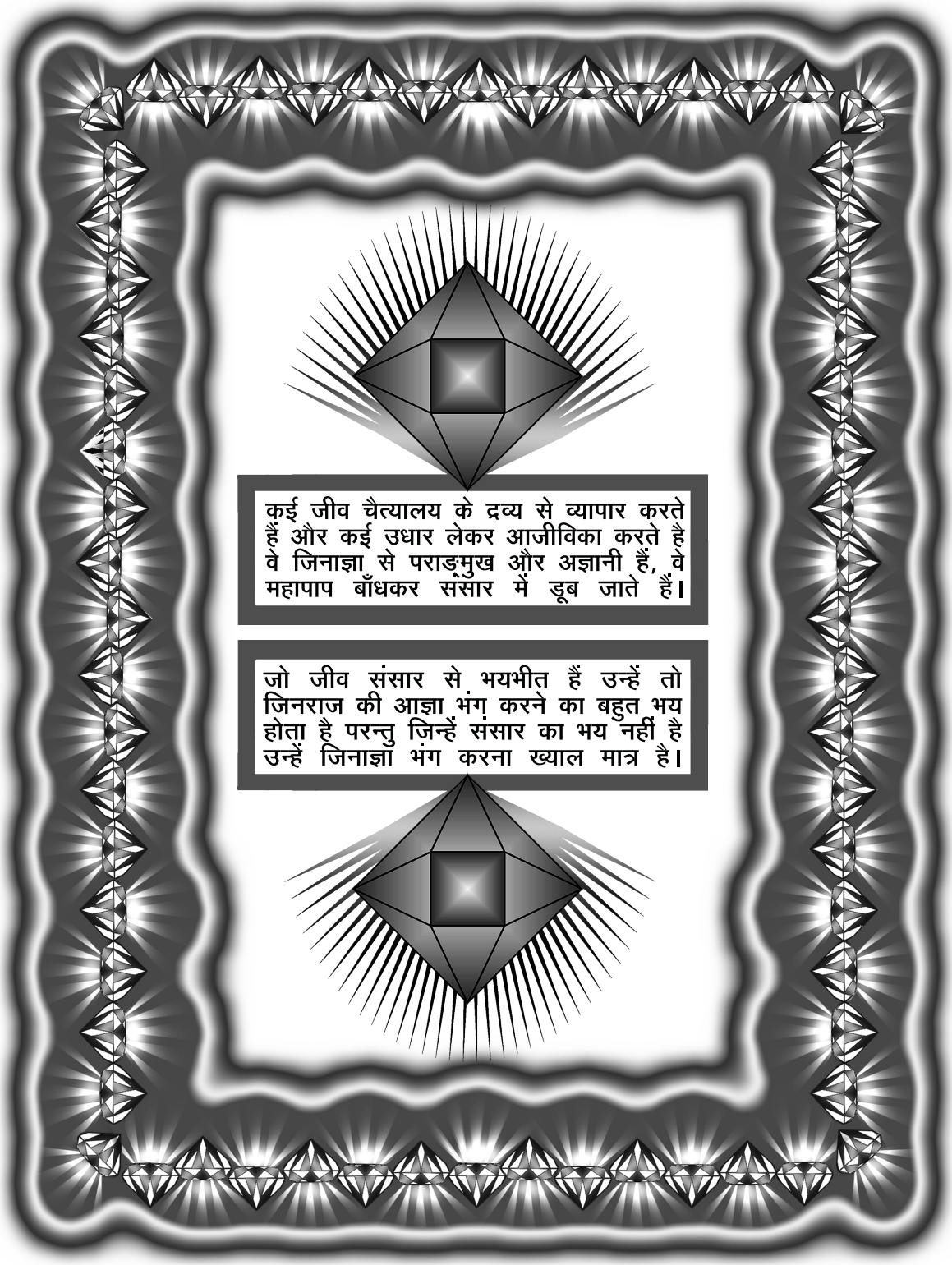

कई जीव चैत्यालय के द्रव्य से व्यापार करते हैं और कई उधार लेकर आजीविका करते है वे जिनाज्ञा से पराङ्मुख और अज्ञानी हैं, वे महापाप बाँधकर संसार में डूब जाते हैं।

जो जीव संसार से भयभीत हैं उन्हें तो जिनराज की आज्ञा भंग करने का बहुत भय होता है परन्तु जिन्हें संसार का भय नहीं है उन्हें जिनाज्ञा भंग करना ख्याल मात्र है।

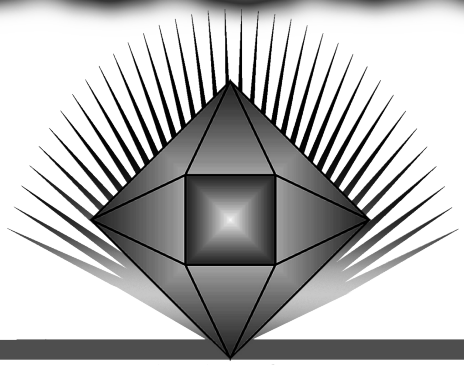

केवल अज्ञान से कोई जीव यदि पदार्थ को अयथार्थ भी कहे तो आज्ञा भंग का दोष नहीं है परन्तु कषाय के वश से धर्मार्थी पुरुषों को जिनाज्ञा भंग करना योग्य नहीं है।

बंधनादि तो वर्तमान में ही दुःखदायी हैं परन्तु जिनेन्द्र के वचनों की विराधना करना अनंत भवों में दुःखदायी है इसलिए जिनाज्ञा भंग करना महान ही दुःखदायी जानना।

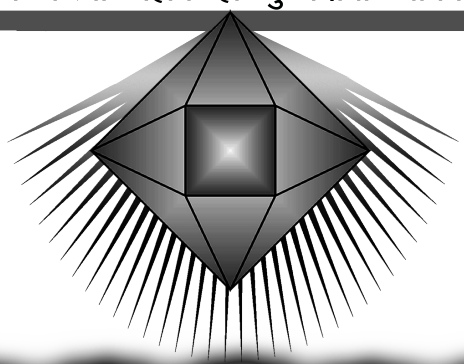

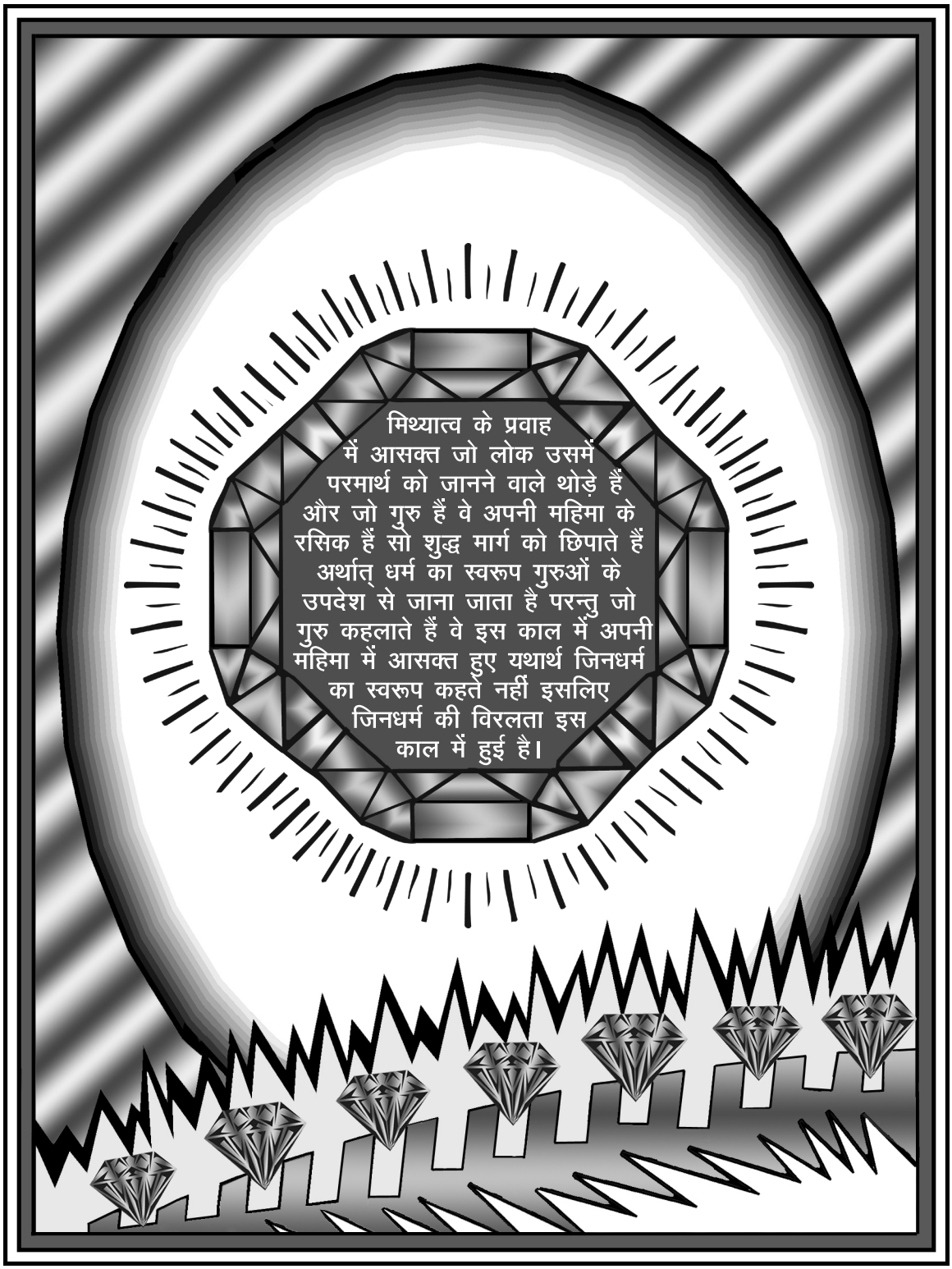
मिथ्यात्व के प्रवाह
में आसक्त जो लोक उसमें
परमार्थ को जानने वाले थोड़े हैं
और जो गुरु हैं वे अपनी महिमा के
रसिक हैं सो शुद्ध मार्ग को छिपाते हैं
अर्थात् धर्म का स्वरूप गुरुओं के
उपदेश से जाना जाता है परन्तु जो
गुरु कहलाते हैं वे इस काल में अपनी
महिमा में आसक्त हुए यथार्थ जिनधर्म
का स्वरूप कहते नहीं इसलिए
जिनधर्म की विरलता इस
काल में हुई है।

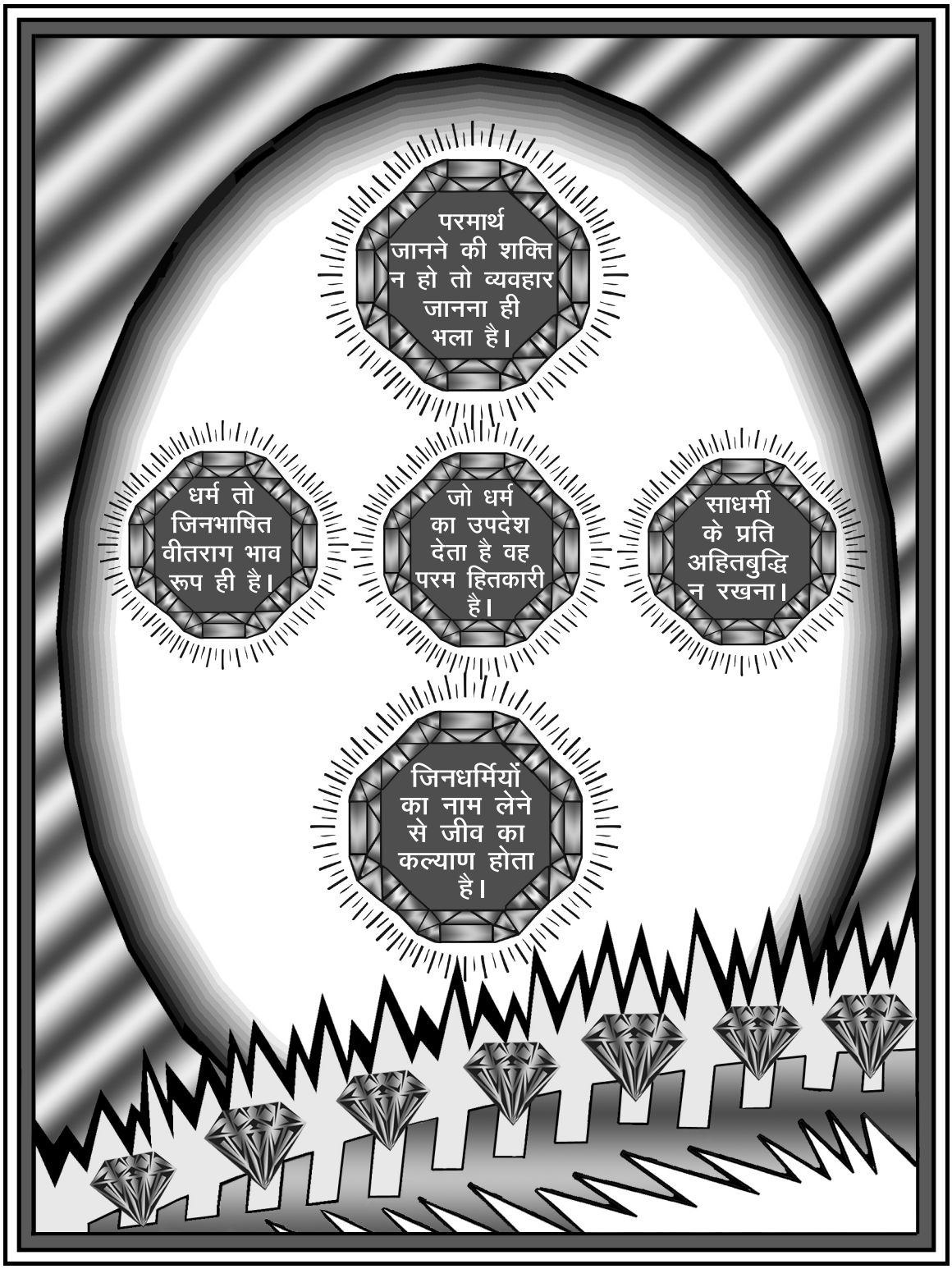
परमार्थ जानने की शक्ति न हो तो व्यवहार जानना ही भला है।
धर्म तो जिनभाषित वीतराग भाव रूप ही है।
जो धर्म का उपदेश देता है वह परम हितकारी है।
साधर्मी के प्रति अहितबुद्धि न रखना।
जिनधर्मियों का नाम लेने से जीव का कल्याण होता है।

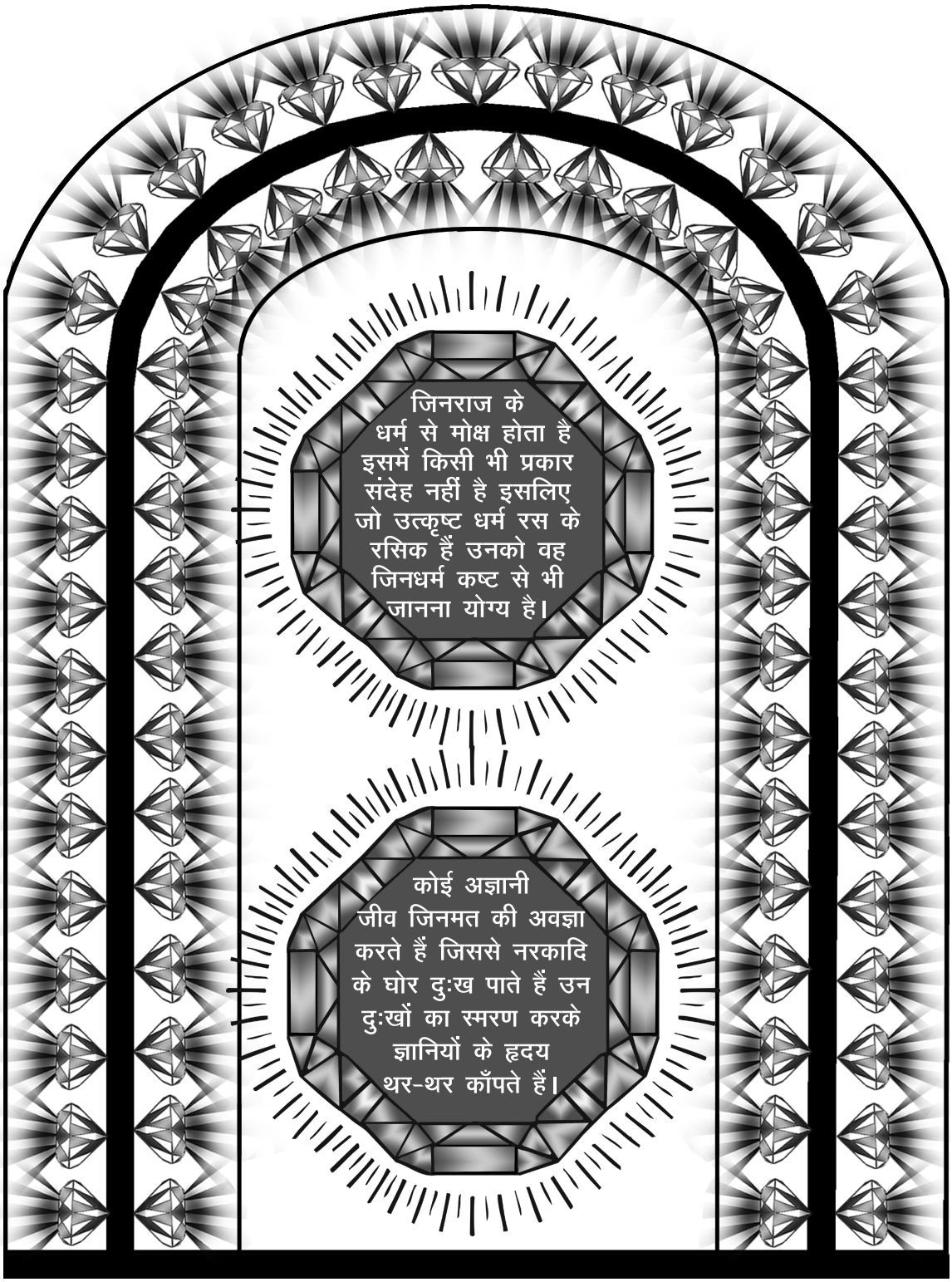
जिनराज के
धर्म से मोक्ष होता है
इसमें किसी भी प्रकार
संदेह नहीं है इसलिए
जो उत्कृष्ट धर्म रस के
रसिक हैं उनको वह
जिनधर्म कष्ट से भी
जानना योग्य है।
कोई अज्ञानी
जीव जिनमत की अवज्ञा
करते हैं जिससे नरकादि
के घोर दुःख पाते हैं उन
दुःखों का स्मरण करके
ज्ञानियों के हृदय
थर-थर काँपते हैं।

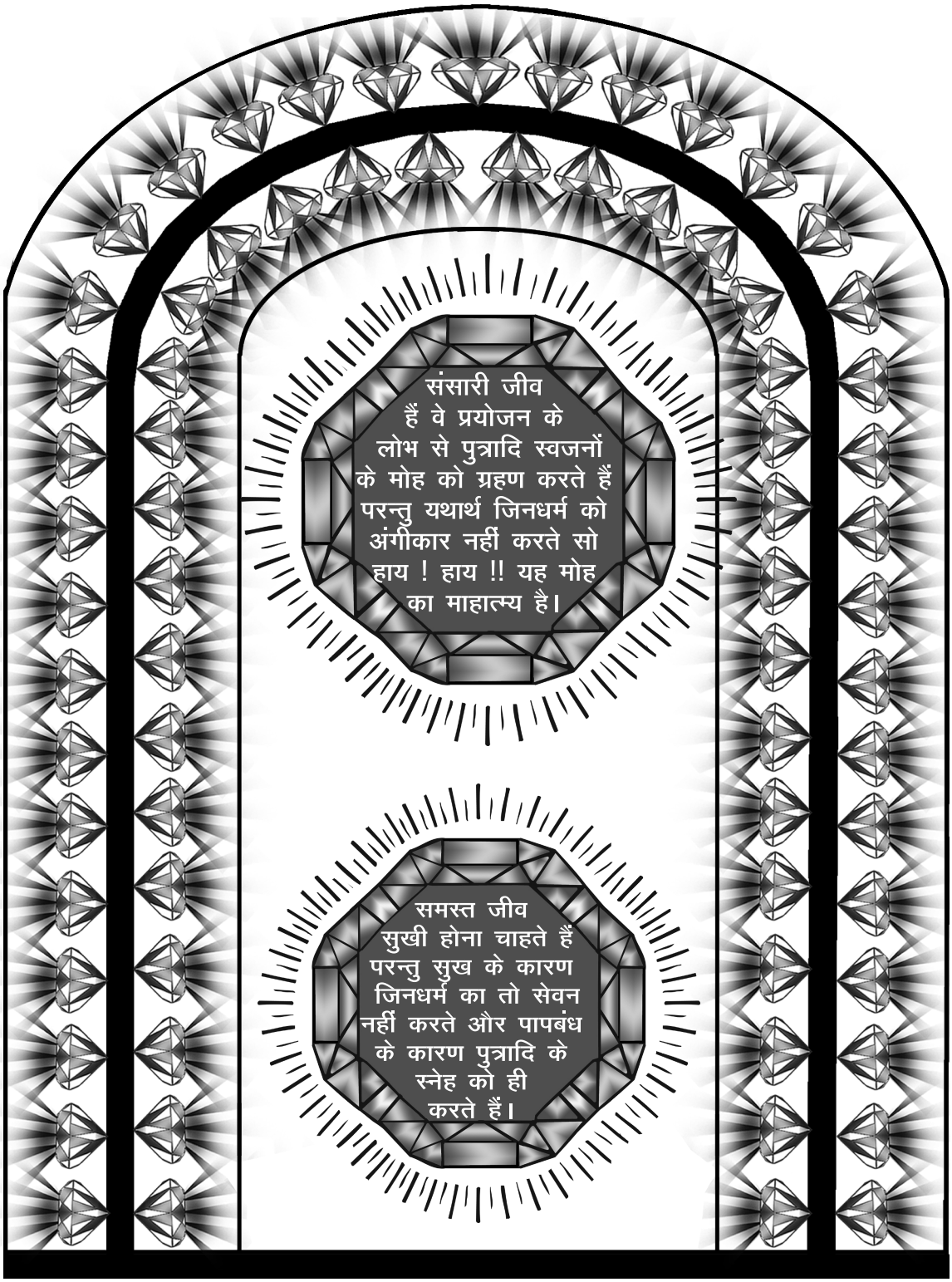
संसारी जीव
हैं वे प्रयोजन के
लोभ से पुत्रादि स्वजनों
के मोह को ग्रहण करते हैं
परन्तु यथार्थ जिनधर्म को
अंगीकार नहीं करते सो
हाय ! हाय !! यह मोह
का माहात्म्य है।
समस्त जीव
सुखी होना चाहते हैं
परन्तु सुख के कारण
जिनधर्म का तो सेवन
नहीं करते और पापबंध
के कारण पुत्रादि के
स्नेह को ही
करते हैं।

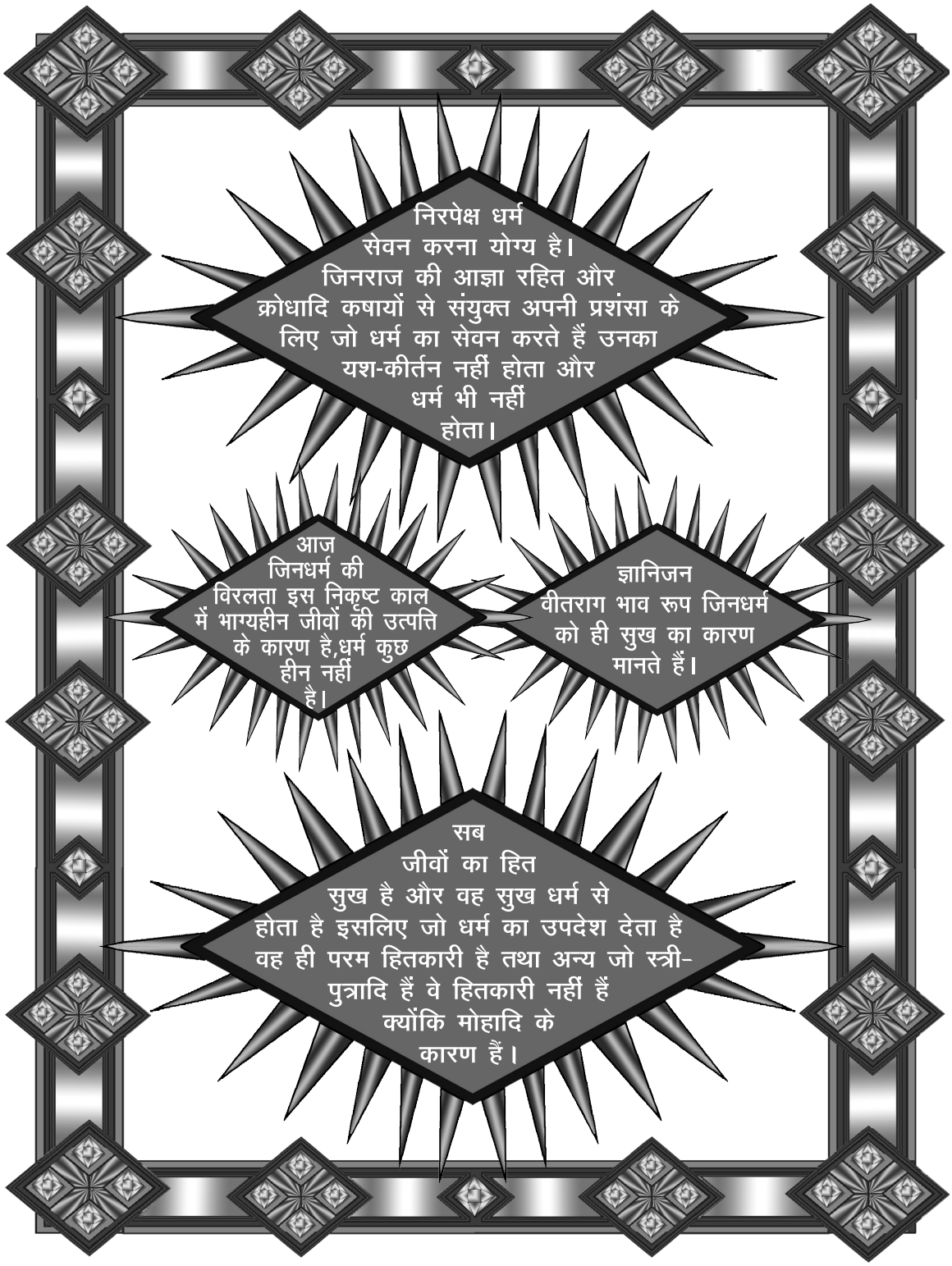
निरपेक्ष धर्म
सेवन करना योग्य है।
जिनराज की आज्ञा रहित और
क्रोधादि कषायों से संयुक्त अपनी प्रशंसा के
लिए जो धर्म का सेवन करते हैं उनका
यश-कीर्तन नहीं होता और
धर्म भी नहीं
होता।
आज
जिनधर्म की
विरलता इस निकृष्ट काल
में भाग्यहीन जीवों की उत्पत्ति
के कारण है,धर्म कुछ
हीन नहीं
है।
ज्ञानिजन
वीतराग भाव रूप जिनधर्म
को ही सुख का कारण
मानते हैं।
सब
जीवों का हित
सुख है और वह सुख धर्म से
होता है इसलिए जो धर्म का उपदेश देता है
वह ही परम हितकारी है तथा अन्य जो स्त्री-
पुत्रादि हैं वे हितकारी नहीं हैं
क्योंकि मोहादि के
कारण हैं।

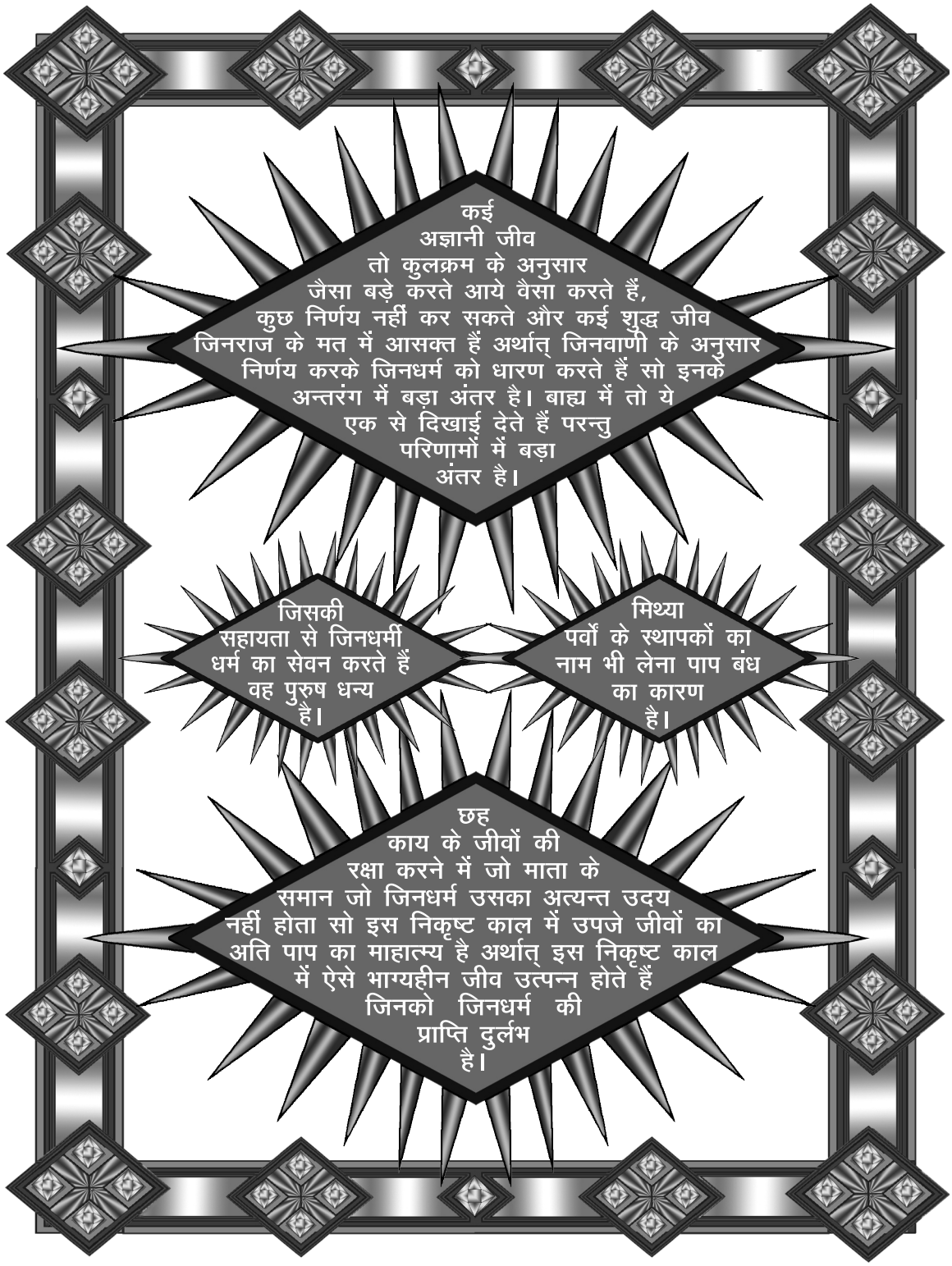
कई
अज्ञानी जीव
तो कुलक्रम के अनुसार
जैसा बड़े करते आये वैसा करते हैं,
कुछ निर्णय नहीं कर सकते और कई शुद्ध जीव
जिनराज के मत में आसक्त हैं अर्थात् जिनवाणी के अनुसार
निर्णय करके जिनधर्म को धारण करते हैं सो इनके
अन्तरंग में बड़ा अंतर है। बाह्य में तो ये
एक से दिखाई देते हैं परन्तु
परिणामों में बड़ा
अंतर है।
जिसकी
सहायता से जिनधर्मी
धर्म का सेवन करते हैं
वह पुरुष धन्य
है।
मिथ्या
पर्वों के स्थापकों का
नाम भी लेना पाप बंध
का कारण
है।
छह
काय के जीवों की
रक्षा करने में जो माता के
समान जो जिनधर्म उसका अत्यन्त उदय
नहीं होता सो इस निकृष्ट काल में उपजे जीवों का
अति पाप का माहात्म्य है अर्थात् इस निकृष्ट काल
में ऐसे भाग्यहीन जीव उत्पन्न होते हैं
जिनको जिनधर्म की
प्राप्ति दुर्लभ
है।

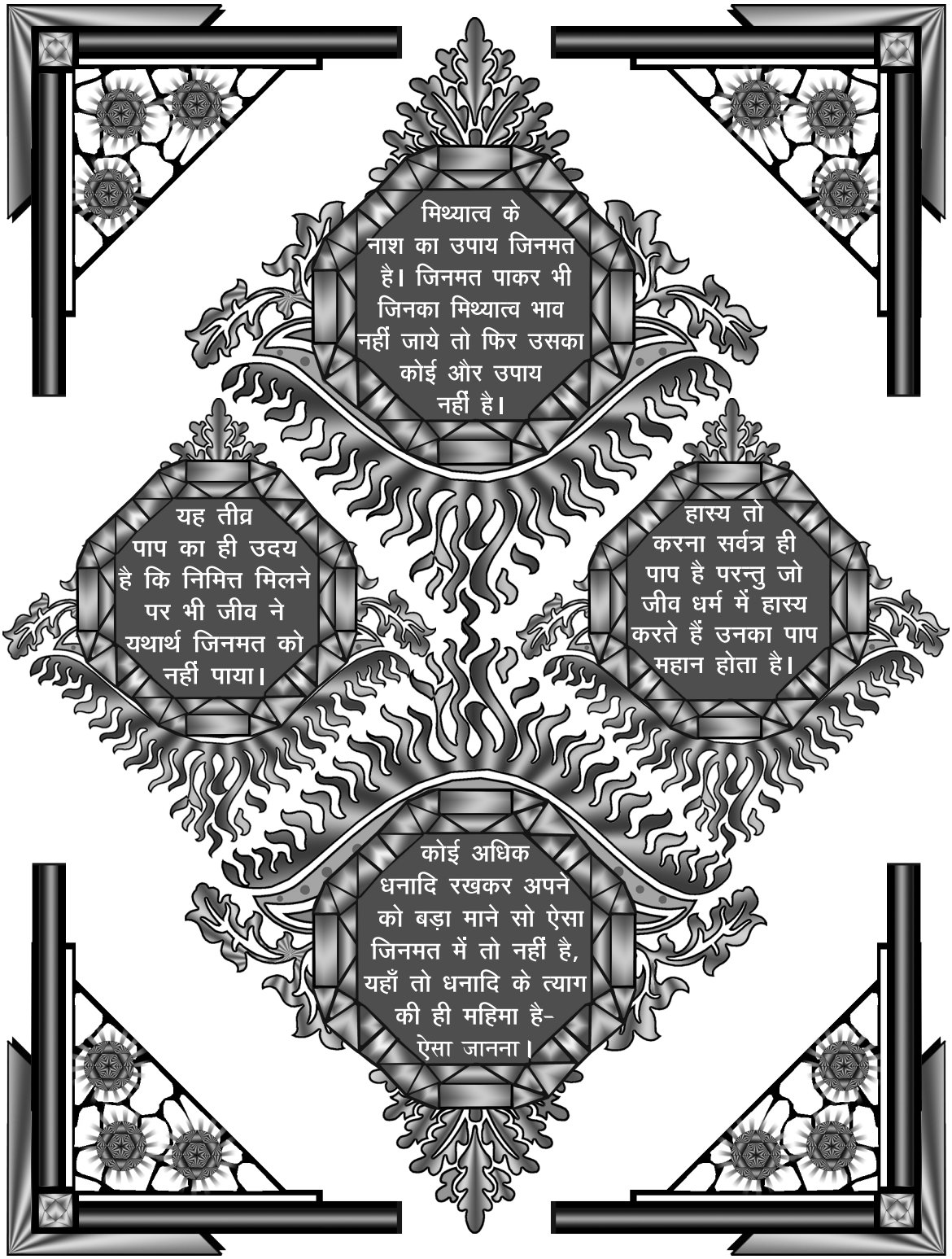
मिथ्यात्व के नाश का उपाय जिनमत है। जिनमत पाकर भी जिनका मिथ्यात्व भाव नहीं जाये तो फिर उसका कोई और उपाय नहीं है।
यह तीव्र पाप का ही उदय है कि निमित्त मिलने पर भी जीव ने यथार्थ जिनमत को नहीं पाया।
हास्य तो करना सर्वत्र ही पाप है परन्तु जो जीव धर्म में हास्य करते हैं उनका पाप महान होता है।
कोई अधिक धनादि रखकर अपने को बड़ा माने सो ऐसा जिनमत में तो नहीं है, यहाँ तो धनादि के त्याग की ही महिमा है- ऐसा जानना।

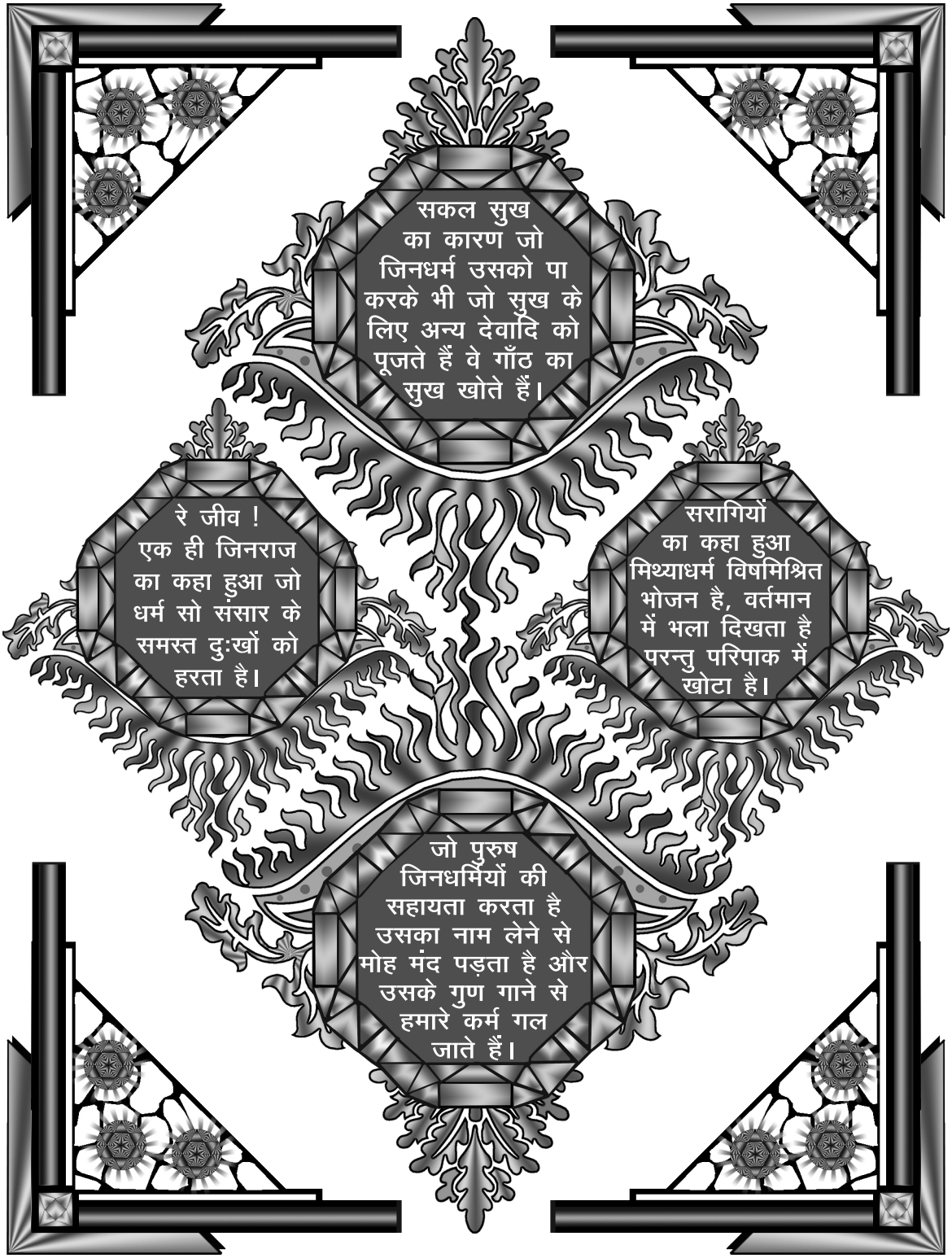
सकल सुख का कारण जो जिनधर्म उसको पा करके भी जो सुख के लिए अन्य देवादि को पूजते हैं वे गाँठ का सुख खोते हैं।
रे जीव ! एक ही जिनराज का कहा हुआ जो धर्म सो संसार के समस्त दु:खों को हरता है।
सरागियों का कहा हुआ मिथ्याधर्म विषमिश्रित भोजन है, वर्तमान में भला दिखता है परन्तु परिपाक में खोटा है।
जो पुरुष जिनधर्मियों की सहायता करता है उसका नाम लेने से मोह मंद पड़ता है और उसके गुण गाने से हमारे कर्म गल जाते हैं।

और लौकिक बातें तो सब ही जानते हैं और वैसे ही चौहटे में पड़ा रत्न भी पाया जाता है परन्तु हे भाई ! जिनभाषित धर्म रुपी रत्न का सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है अतः जैसे-तैसे भी जिनधर्म का स्वरूप जानना योग्य है।

धर्मार्थी होकर धर्म का सेवन करना दुर्लभ है। लौकिक प्रयोजन के लिए जो धर्म का सेवन करते हैं सो नाम मात्र सेवन करते हैं अतः धर्म सेवन का गुण जो वीतराग भाव है उसको वे नहीं पाते सो ऐसे जीव बहुत ही हैं।

शास्त्र श्रवण की पद्धति रखने के लिए जिस-तिस के मुख से धर्म को न सुनना, या तो निर्ग्रन्थ आचार्य के निकट सुनना अथवा उन ही के अनुसार कहने वाले श्रद्धानी श्रावक के मुख से सुनना तब ही सत्यार्थ श्रद्धान रूप फल शास्त्र श्रवण से उत्पन्न होगा।

जिनधर्म का आचरण करना, साधन करना और प्रभावना करनी तो दूर ही रहो, एक जिनधर्म का श्रद्धान करना ही तीव्र दुःखों का नाश कर देता है इसलिए जिनधर्म धन्य है।

सच्चे देव व शास्त्र का निमित्त मिलने पर भी उनके स्वरूप का निर्णय नहीं कर सकने के कारण जीव ने यथार्थ जिनधर्म को नहीं पाया सो यह उसके तीव्र पाप का ही उदय है।

व्यवहार है सो निश्चय का साधक है अतः शास्त्राभ्यास रूप व्यवहार से परमार्थ रूप वीतराग धर्म की प्राप्ति होती है-ऐसा जानना।

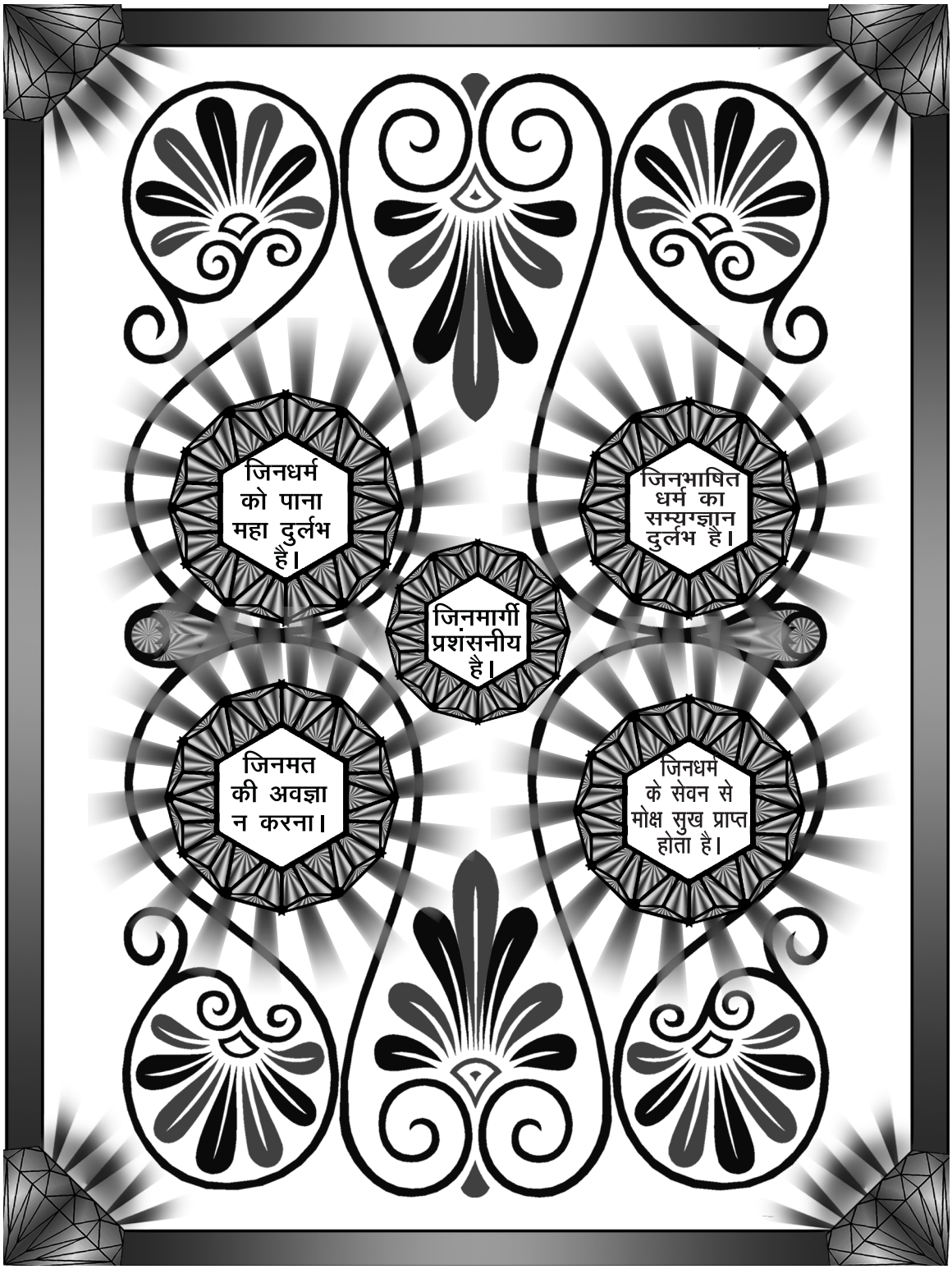
जिनधर्म को पाना महा दुर्लभ है।
जिनभाषित धर्म का सम्यग्ज्ञान दुर्लभ है।
जिनमार्गी प्रशसनीय है।
जिनमत की अवज्ञा न करना।
जिनधर्म के सेवन से मोक्ष सुख प्राप्त होता है।

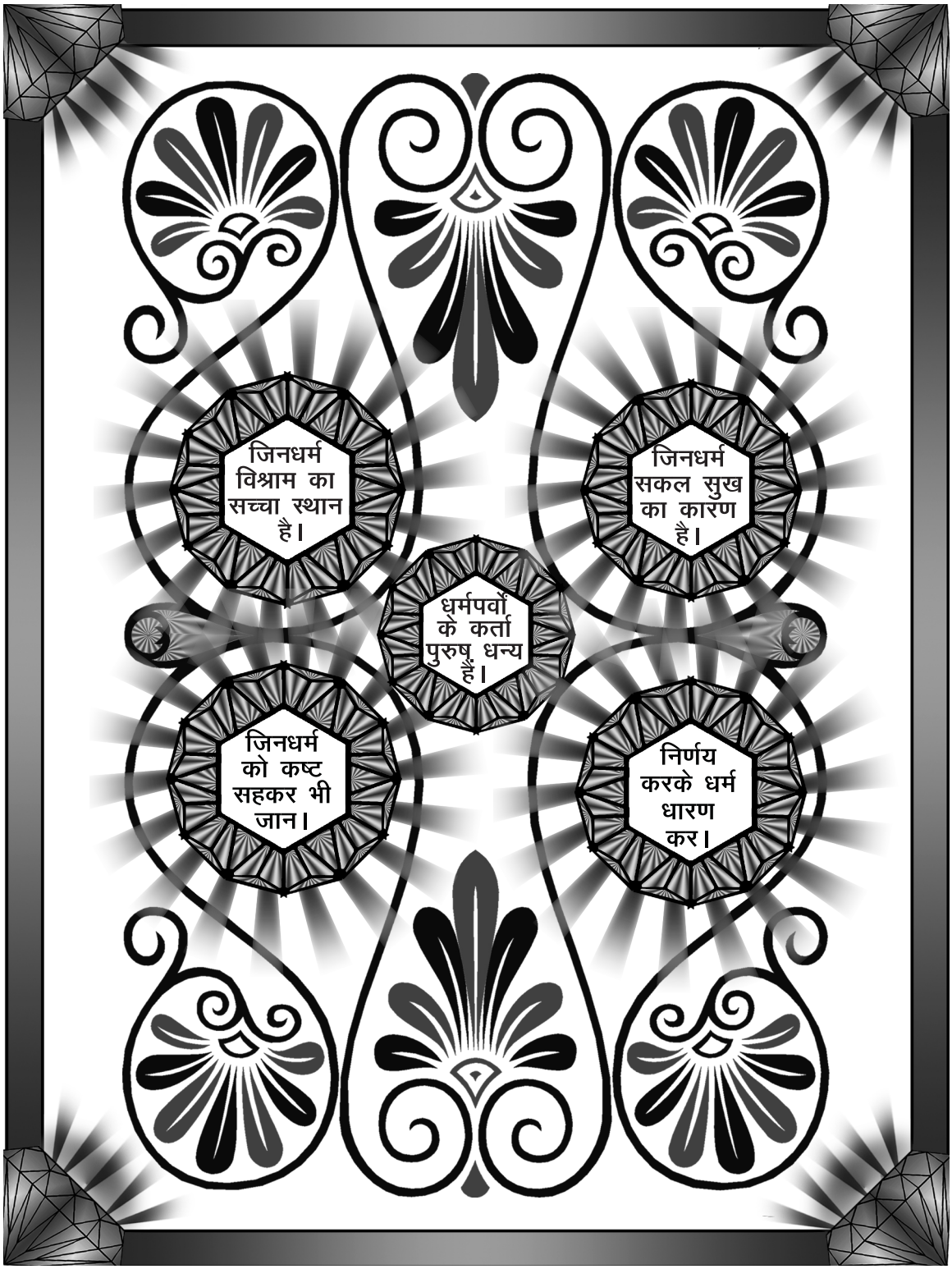
जिनधर्म विश्राम का सच्चा स्थान है।
जिनधर्म सकल सुख का कारण है।
धर्मपर्वों के कर्ता पुरुष धन्य हैं।
जिनधर्म को कष्ट सहकर भी जान।
निर्णय करके धर्म धारण कर।

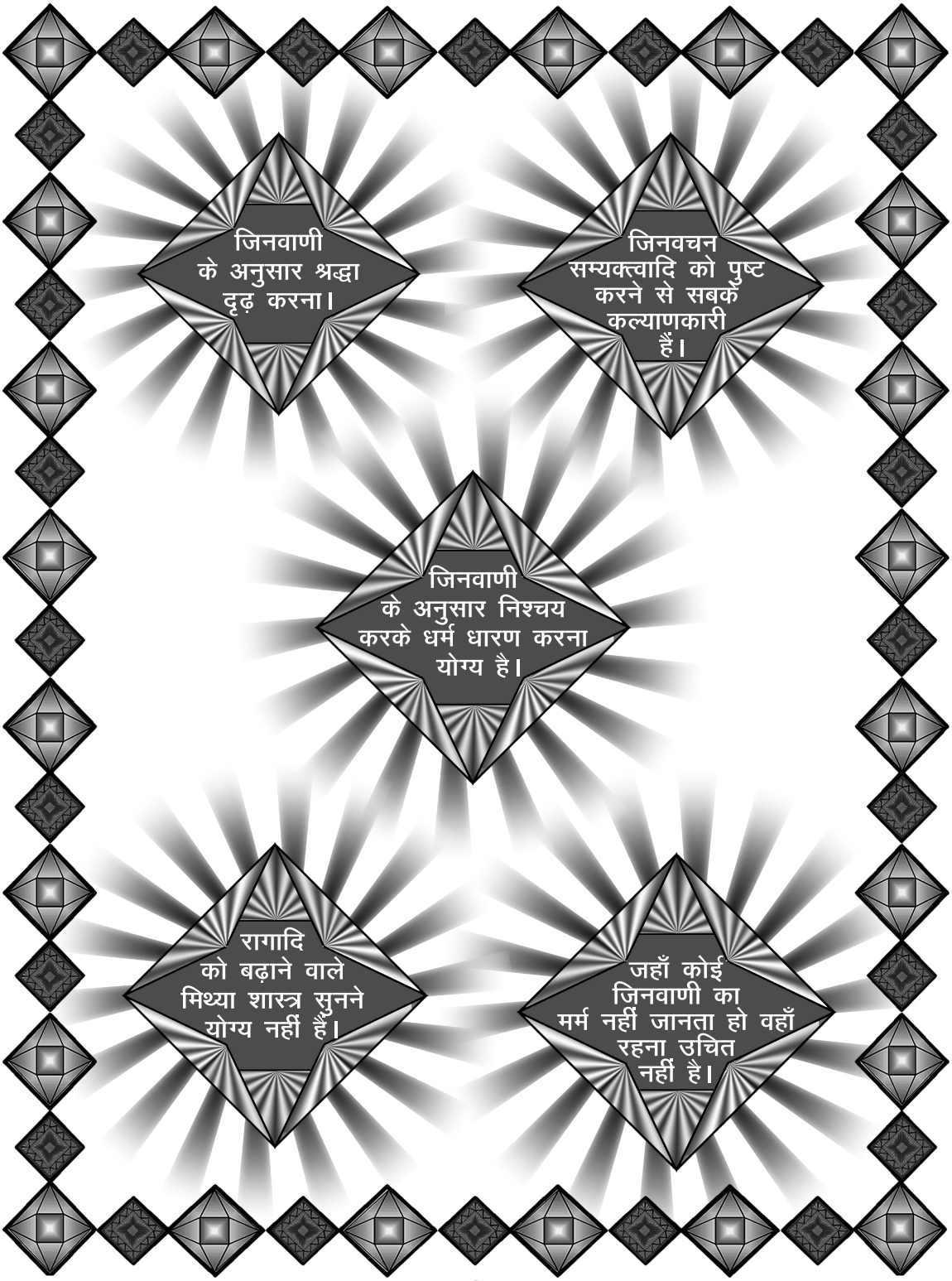
जिनवाणी
के अनुसार श्रद्धा
दृढ़ करना।
जिनवचन
सम्यक्त्वादि को पुष्ट
करने से सबके
कल्याणकारी
हैं।
जिनवाणी
के अनुसार निश्चय
करके धर्म धारण करना
योग्य है।
रागादि
को बढ़ाने वाले
मिथ्या शास्त्र सुनने
योग्य नहीं हैं।
जहाँ कोई
जिनवाणी का
मर्म नहीं जानता हो वहाँ
रहना उचित
नहीं है।

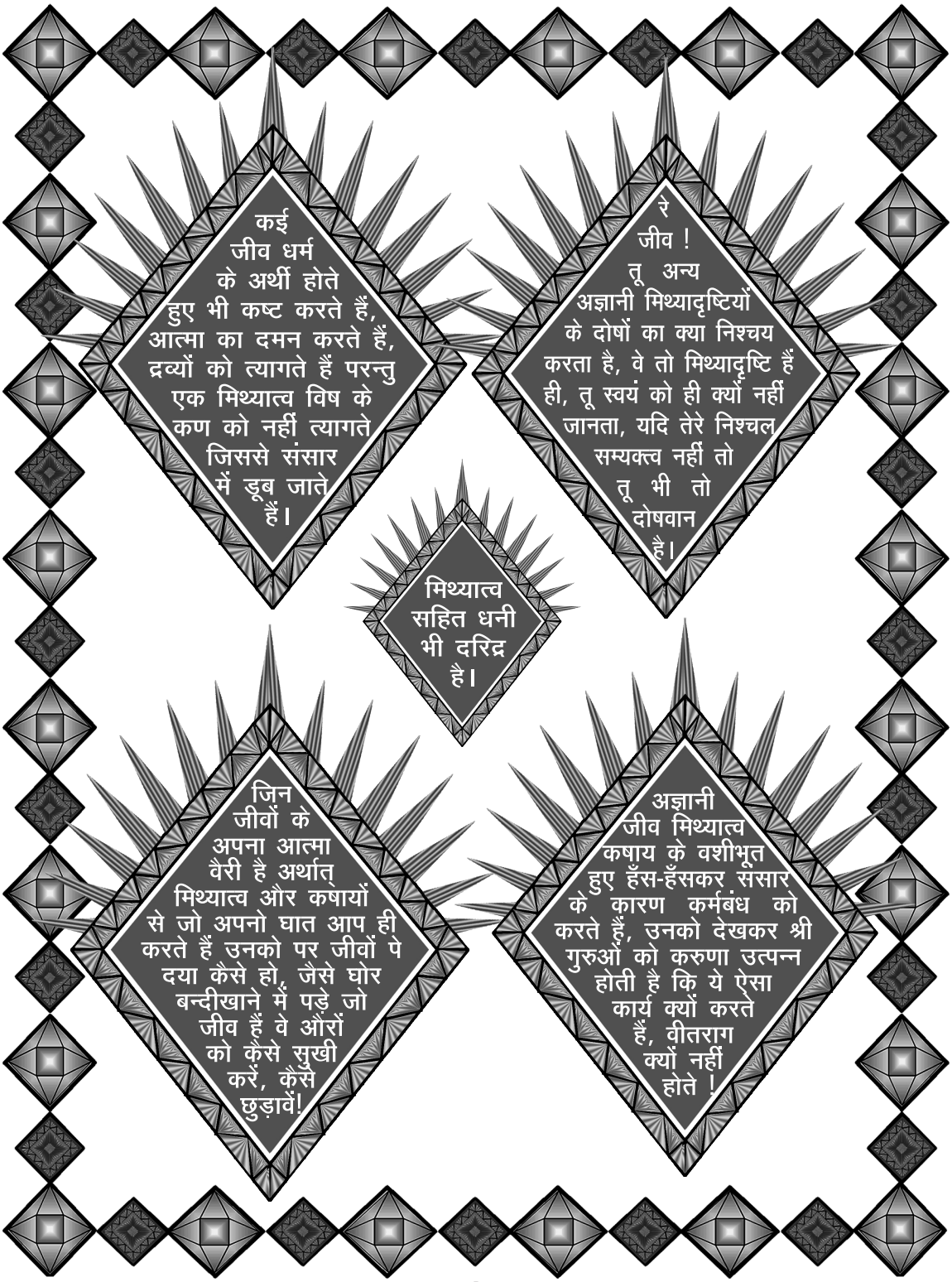
कई जीव धर्म के अर्थी होते हुए भी कष्ट करते हैं, आत्मा का दमन करते हैं, द्रव्यों को त्यागते हैं परन्तु एक मिथ्यात्व विष के कण को नहीं त्यागते जिससे संसार में डूब जाते हैं।
रे जीव ! तू अन्य अज्ञानी मिथ्यादृष्टियों के दोषों का क्या निश्चय करता है, वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही, तू स्वयं को ही क्यों नहीं जानता, यदि तेरे निश्चल सम्यक्त्व नहीं तो तू भी तो दोषवान है।
मिथ्यात्व सहित धनी भी दरिद्र है।
जिन जीवों के अपना आत्मा वैरी है अर्थात् मिथ्यात्व और कषायों से जो अपनो घात आप ही करते हैं उनको पर जीवों पे दया कैसे हो, जैसे घोर बन्दीखाने में पड़े जो जीव हैं वे औरों को कैसे सुखी करें, कैसे छुड़ावें!
अज्ञानी जीव मिथ्यात्व कषाय के वशीभूत हुए हँस-हँसकर संसार के कारण कर्मबंध को करते हैं, उनको देखकर श्री गुरुओं को करुणा उत्पन्न होती है कि ये ऐसा कार्य क्यों करते हैं, वीतराग क्यों नहीं होते !

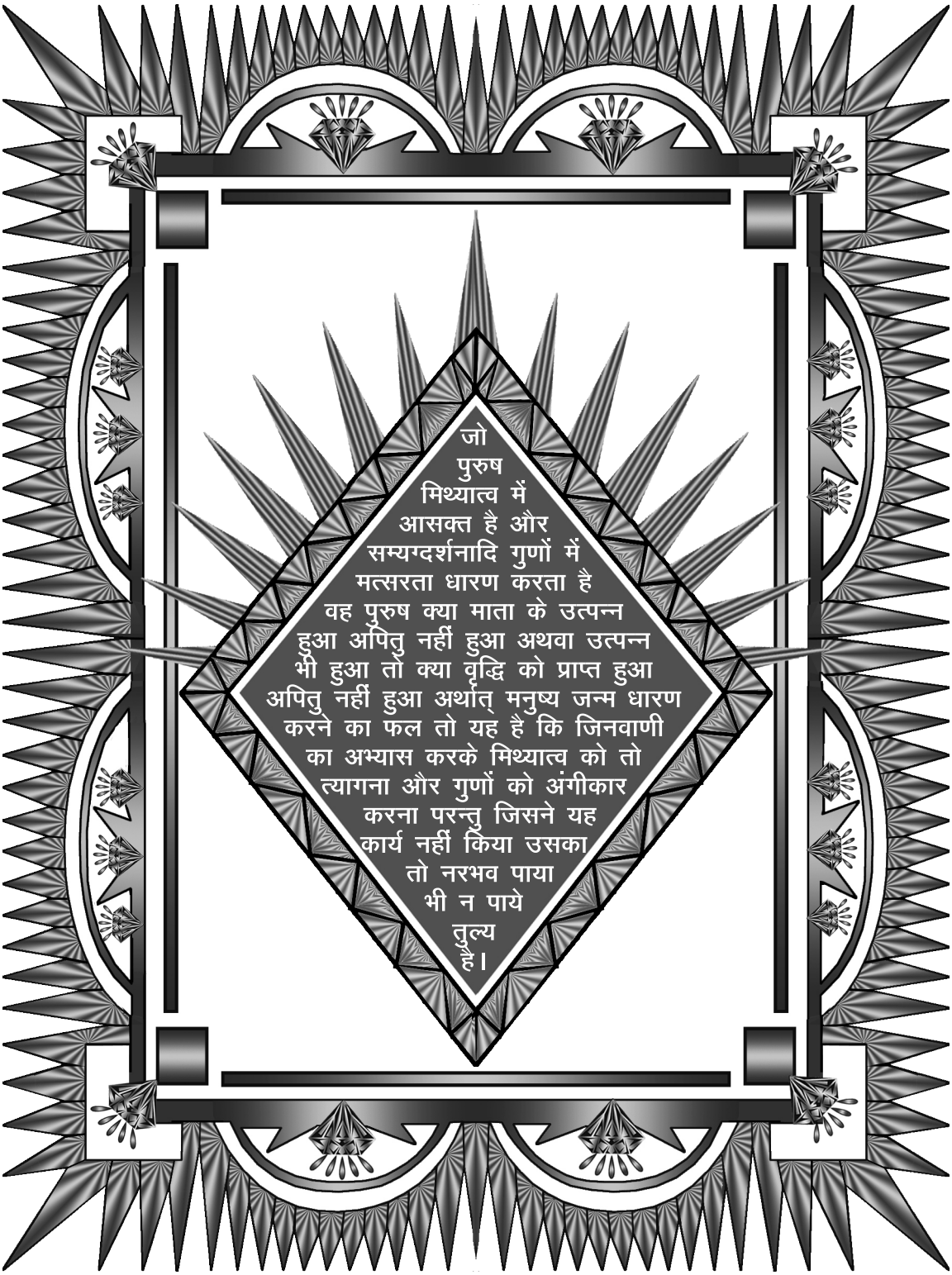
जो
पुरुष
मिथ्यात्व में
आसक्त है और
सम्यग्दर्शनादि गुणों में
मत्सरता धारण करता है
वह पुरुष क्या माता के उत्पन्न
हुआ अपितु नहीं हुआ अथवा उत्पन्न
भी हुआ तो क्या वृद्धि को प्राप्त हुआ
अपितु नहीं हुआ अर्थात् मनुष्य जन्म धारण
करने का फल तो यह है कि जिनवाणी
का अभ्यास करके मिथ्यात्व को तो
त्यागना और गुणों को अंगीकार
करना परन्तु जिसने यह
कार्य नहीं किया उसका
तो नरभव पाया
भी न पाये
तुल्य
है।

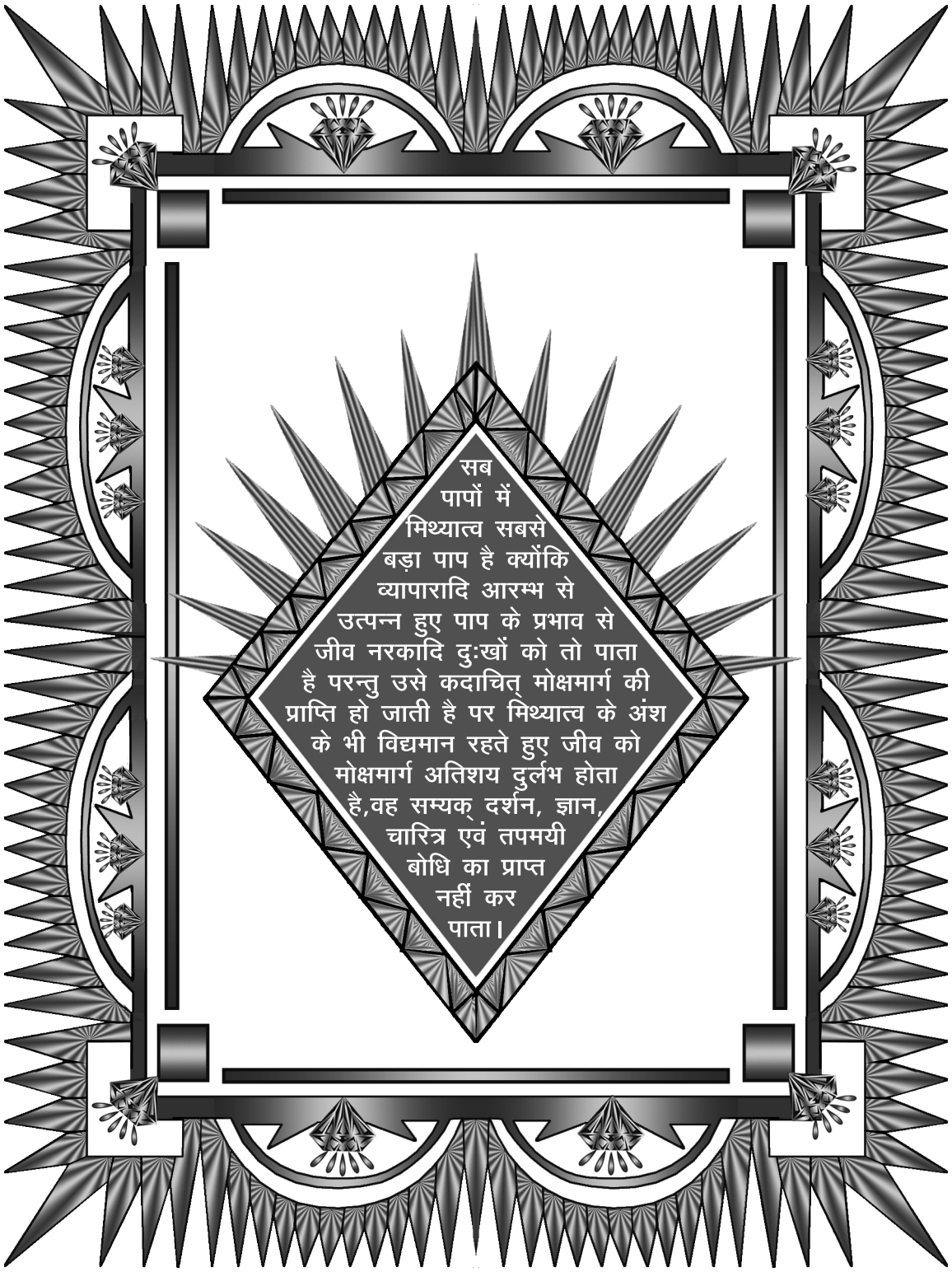
सब
पापों में
मिथ्यात्व सबसे
बड़ा पाप है क्योंकि
व्यापारादि आरम्भ से
उत्पन्न हुए पाप के प्रभाव से
जीव नरकादि दुःखों को तो पाता
है परन्तु उसे कदाचित् मोक्षमार्ग की
प्राप्ति हो जाती है पर मिथ्यात्व के अंश
के भी विद्यमान रहते हुए जीव को
मोक्षमार्ग अतिशय दुर्लभ होता
है,वह सम्यक् दर्शन, ज्ञान,
चारित्र एवं तपमयी
बोधि का प्राप्त
नहीं कर
पाता।

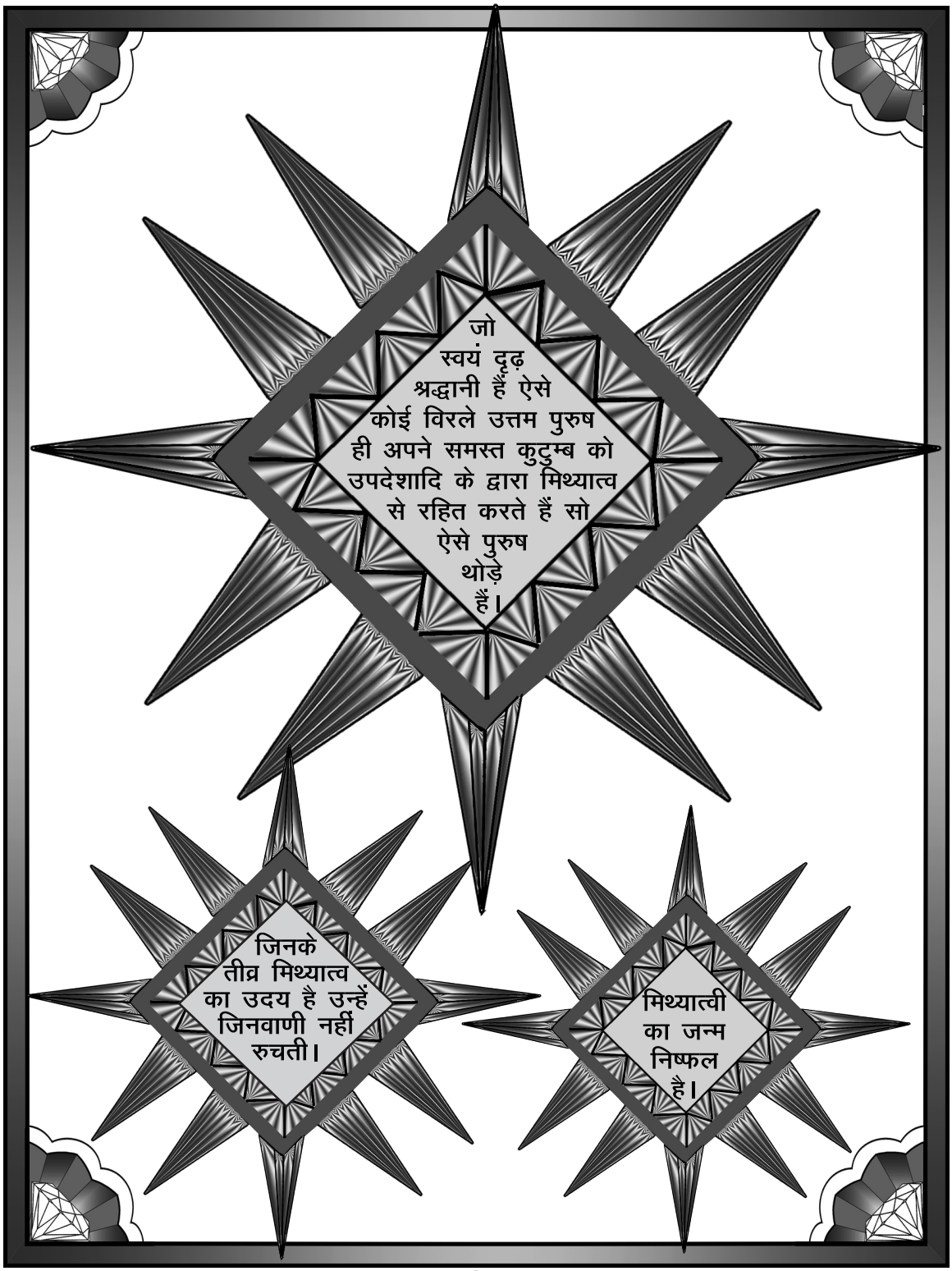
जो
स्वयं दृढ़
श्रद्धानी हैं ऐसे
कोई विरले उत्तम पुरुष
ही अपने समस्त कुटुम्ब को
उपदेशादि के द्वारा मिथ्यात्व
से रहित करते हैं सो
ऐसे पुरुष
थोड़े
हैं।
जिनके
तीव्र मिथ्यात्व
का उदय है उन्हें
जिनवाणी नहीं
रुचती।
मिथ्यात्वी
का जन्म
निष्फल
है।

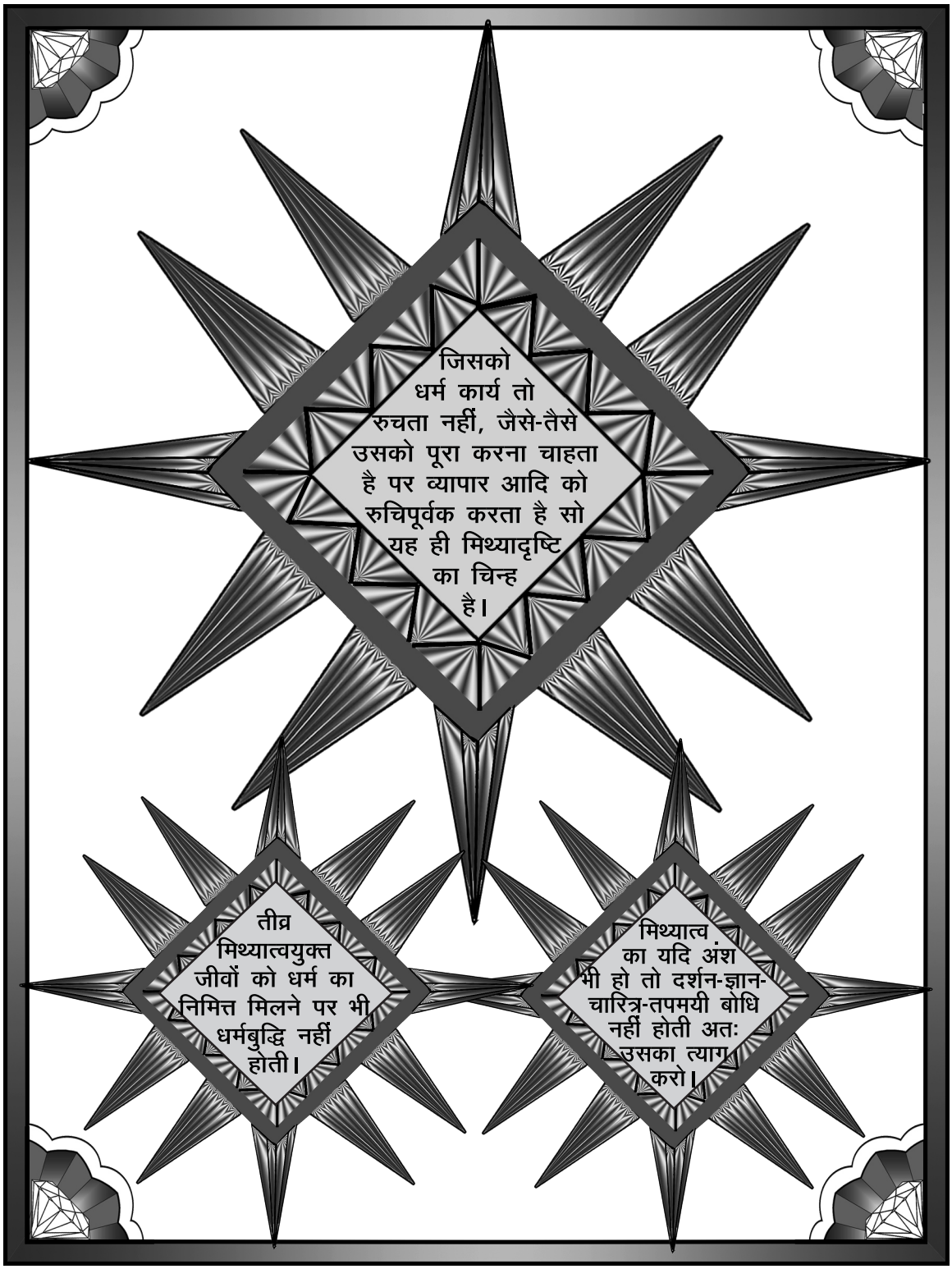
जिसको
धर्म कार्य तो
रुचता नहीं, जैसे-तैसे
उसको पूरा करना चाहता
है पर व्यापार आदि को
रुचिपूर्वक करता है सो
यह ही मिथ्यादृष्टि
का चिन्ह
है।
तीव्र
मिथ्यात्वयुक्त
जीवों को धर्म का
निमित्त मिलने पर भी
धर्मबुद्धि नहीं
होती।
मिथ्यात्व
का यदि अंश
भी हो तो दर्शन-ज्ञान-
चारित्र-तपमयी बोधि
नहीं होती अतः
उसका त्याग
करो।

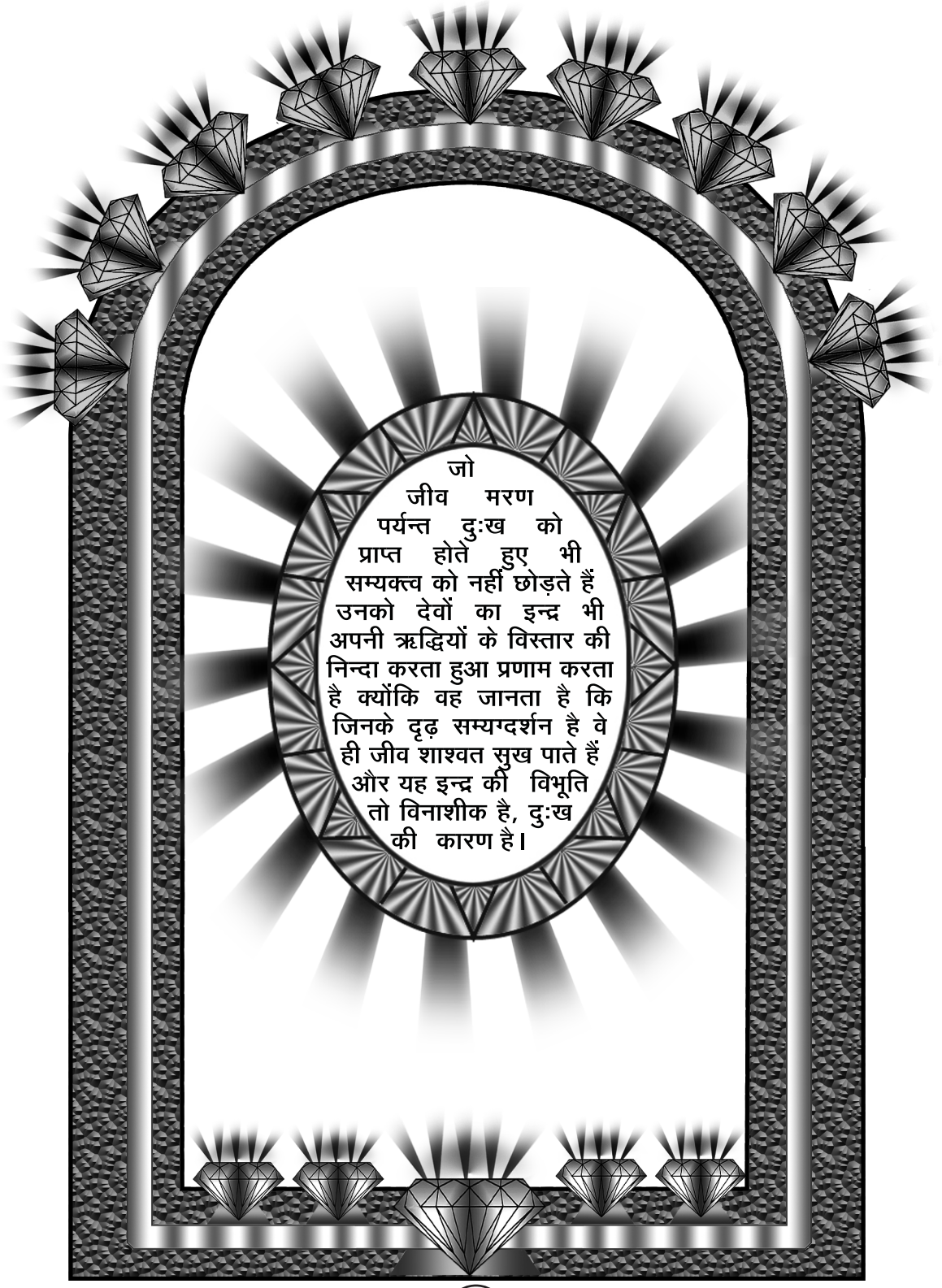
जो
जीव मरण
पर्यन्त दुःख को
प्राप्त होते हुए भी
सम्यक्त्व को नहीं छोड़ते हैं
उनको देवों का इन्द्र भी
अपनी ऋद्धियों के विस्तार की
निन्दा करता हुआ प्रणाम करता
है क्योंकि वह जानता है कि
जिनके दृढ़ सम्यग्दर्शन है वे
ही जीव शाश्वत सुख पाते हैं
और यह इन्द्र की विभूति
तो विनाशीक है, दुःख
की कारण है।


जिनके
साधर्मी से तो
अहित-भाव हो और
बन्धु-पुत्रादि से अनुराग
हो उनके सिद्धान्त के
न्याय से प्रकटपने सम्यक्त्व
न जानना क्योंकि सम्यक्त्व के
अंग तो वात्सल्यादि भाव हैं सो
जिनके साधर्मी से प्रीति नहीं
है उनके सम्यग्दर्शन नहीं है
पुत्रादि से प्रीति तो मोह के
उदय में सब ही के होती
है, उसमें कुछ भी तो
सार नहीं है-ऐसा
जानना।


कई
जीव धर्म
के इच्छुक होकर
उपवास एवं त्याग आदि
कार्य तो करते हैं परन्तु उनके
सच्चे देव-गुरु-धर्म की व जीवादि तत्त्वों
की श्रद्धा का कुछ ठीक नही होता उन्हें यहाँ
शिक्षा दी है कि 'सम्यक्त्व के बिना ये समस्त
कार्य यथार्थ फल देने वाले नहीं हैं
अतः जिनवाणी के अनुसार
प्रथम अपना श्रद्धान
अवश्य ठीक करना
चाहिये'।


दुःखी
हैं श्रेष्ठ पुरुष
जैनी लोग जिसमें
और दुष्टों का उदय जिसमें
ऐसे निकृष्ट पंचम काल के दंड
सहित लोक में भी, जिसमें कि सम्यक्त्व
बिगड़ने के अनेक कारण बन रहे हैं,
जिन भाग्यवानों का सम्यक्त्व
चलायमान नहीं होता वे
धन्य हैं, उनको मैं
नमस्कार करता
हूँ।

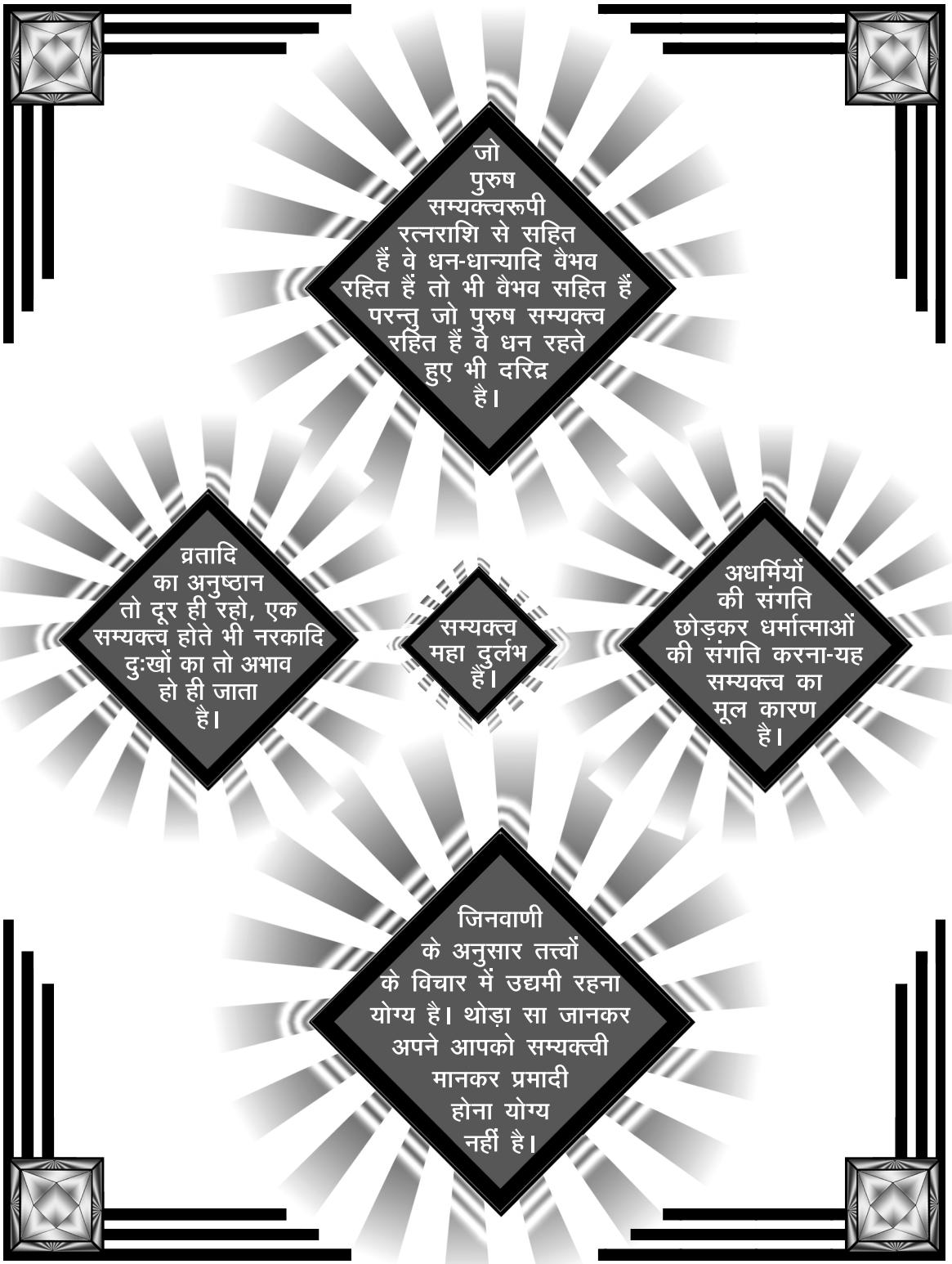
जो पुरुष सम्यक्त्वरूपी रत्नराशि से सहित हैं वे धन-धान्यादि वैभव रहित हैं तो भी वैभव सहित हैं परन्तु जो पुरुष सम्यक्त्व रहित हैं वे धन रहते हुए भी दरिद्र है।
व्रतादि का अनुष्ठान तो दूर ही रहो, एक सम्यक्त्व होते भी नरकादि दुःखों का तो अभाव हो ही जाता है।
सम्यक्त्व महा दुर्लभ है।
अधर्मियों की संगति छोड़कर धर्मात्माओं की संगति करना-यह सम्यक्त्व का मूल कारण है।
जिनवाणी के अनुसार तत्त्वों के विचार में उद्यमी रहना योग्य है। थोड़ा सा जानकर अपने आपको सम्यक्त्वी मानकर प्रमादी होना योग्य नहीं है।

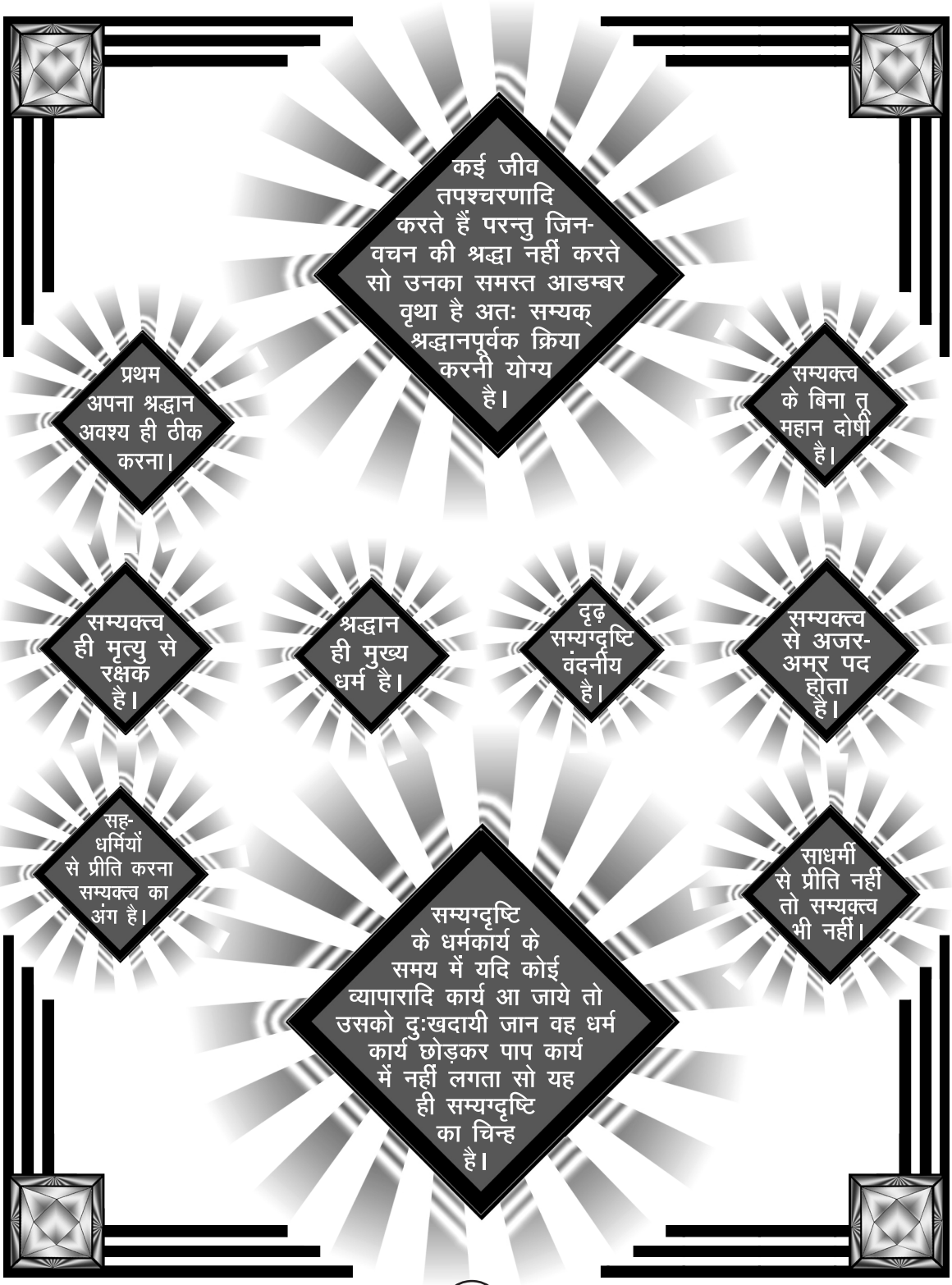
कई जीव तपश्चरणादि करते हैं परन्तु जिन-वचन की श्रद्धा नहीं करते सो उनका समस्त आडम्बर वृथा है अतः सम्यक् श्रद्धानपूर्वक क्रिया करनी योग्य है।
प्रथम अपना श्रद्धान अवश्य ही ठीक करना।
सम्यक्त्व के बिना तू महान दोषी है।
सम्यक्त्व ही मृत्यु से रक्षक है।
श्रद्धान ही मुख्य धर्म है।
दृढ़ सम्यग्दृष्टि वंदनीय है।
सम्यक्त्व से अजर-अमर पद होता है।
सह-धर्मियों से प्रीति करना सम्यक्त्व का अंग है।
सम्यग्दृष्टि के धर्मकार्य के समय में यदि कोई व्यापारादि कार्य आ जाये तो उसको दुःखदायी जान वह धर्म कार्य छोड़कर पाप कार्य में नहीं लगता सो यह ही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है।
साधर्मी से प्रीति नहीं तो सम्यक्त्व भी नहीं।


जैसे-जैसे जिनधर्म हीन होता है और जैसे-जैसे दुष्टों का उदय होता है वैसे-वैसे सम्यग्दृष्टि जीवों का सम्यक्त्व और भी हुलसायमान होता जाता है कि पंचमकाल में यही होना है, भगवान ने ऐसा ही कहा है।
जीवन की कीमत पर भी सम्यक्त्व को न छोड़ना।
जितनी शक्ति हो सो करना व जिसकी शक्ति न हो उसका श्रद्धान करना।


सम्यग्दृष्टि जीव
हरिहरादि की ऋद्धियों
एवं समृद्धि रूप वैभव में
भी नहीं रमते तो अन्य विभूति में
तो कैसे रमेंगे अर्थात् नहीं रमेंगे
क्योंकि ज्ञानी जीव बहुत आरम्भ
और परिग्रह से नरकादि के दुःखों
की प्राप्ति जानते हैं और केवल
सम्यग्दर्शनादि ही को आत्मा
का हित मानते हैं।
सारी
क्रिया सच्चे
श्रद्धानपूर्वक ही
करनी योग्य
है।
सम्यक्त्व
के बिना समस्त
आचरण
फलीभूत नहीं
होता।

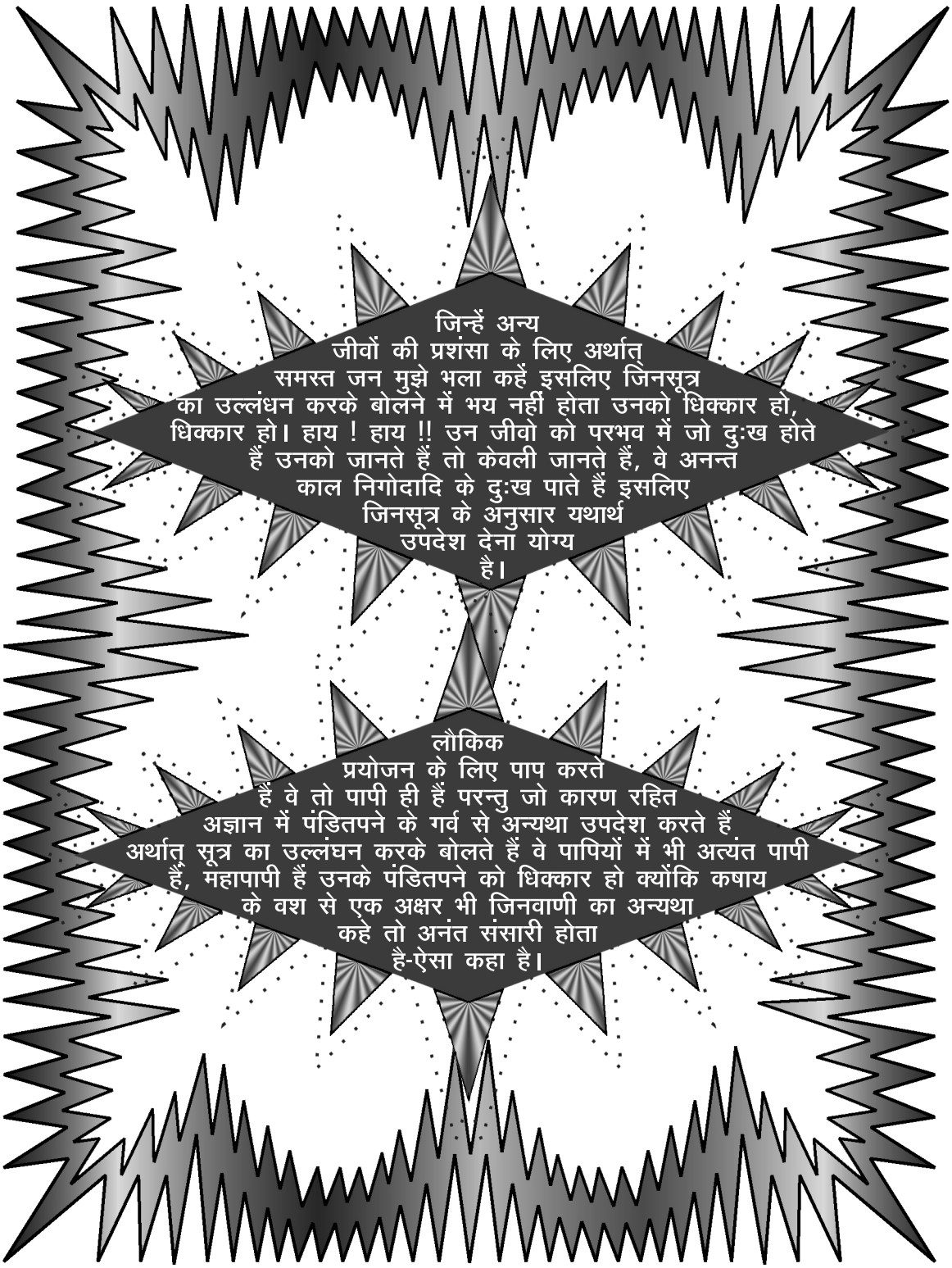
जिन्हें अन्य
जीवों की प्रशंसा के लिए अर्थात्
समस्त जन मुझे भला कहें इसलिए जिनसूत्र
का उल्लंधन करके बोलने में भय नहीं होता उनको धिक्कार हो,
धिक्कार हो। हाय ! हाय !! उन जीवो को परभव में जो दुःख होते
हैं उनको जानते हैं तो केवली जानते हैं, वे अनन्त
काल निगोदादि के दुःख पाते हैं इसलिए
जिनसूत्र के अनुसार यथार्थ
उपदेश देना योग्य
है।
लौकिक
प्रयोजन के लिए पाप करते
हैं वे तो पापी ही हैं परन्तु जो कारण रहित
अज्ञान में पंडितपने के गर्व से अन्यथा उपदेश करते हैं
अर्थात् सूत्र का उल्लंघन करके बोलते हैं वे पापियों में भी अत्यंत पापी
हैं, महापापी हैं उनके पंडितपने को धिक्कार हो क्योंकि कषाय
के वश से एक अक्षर भी जिनवाणी का अन्यथा
कहे तो अनंत संसारी होता
है-ऐसा कहा है।

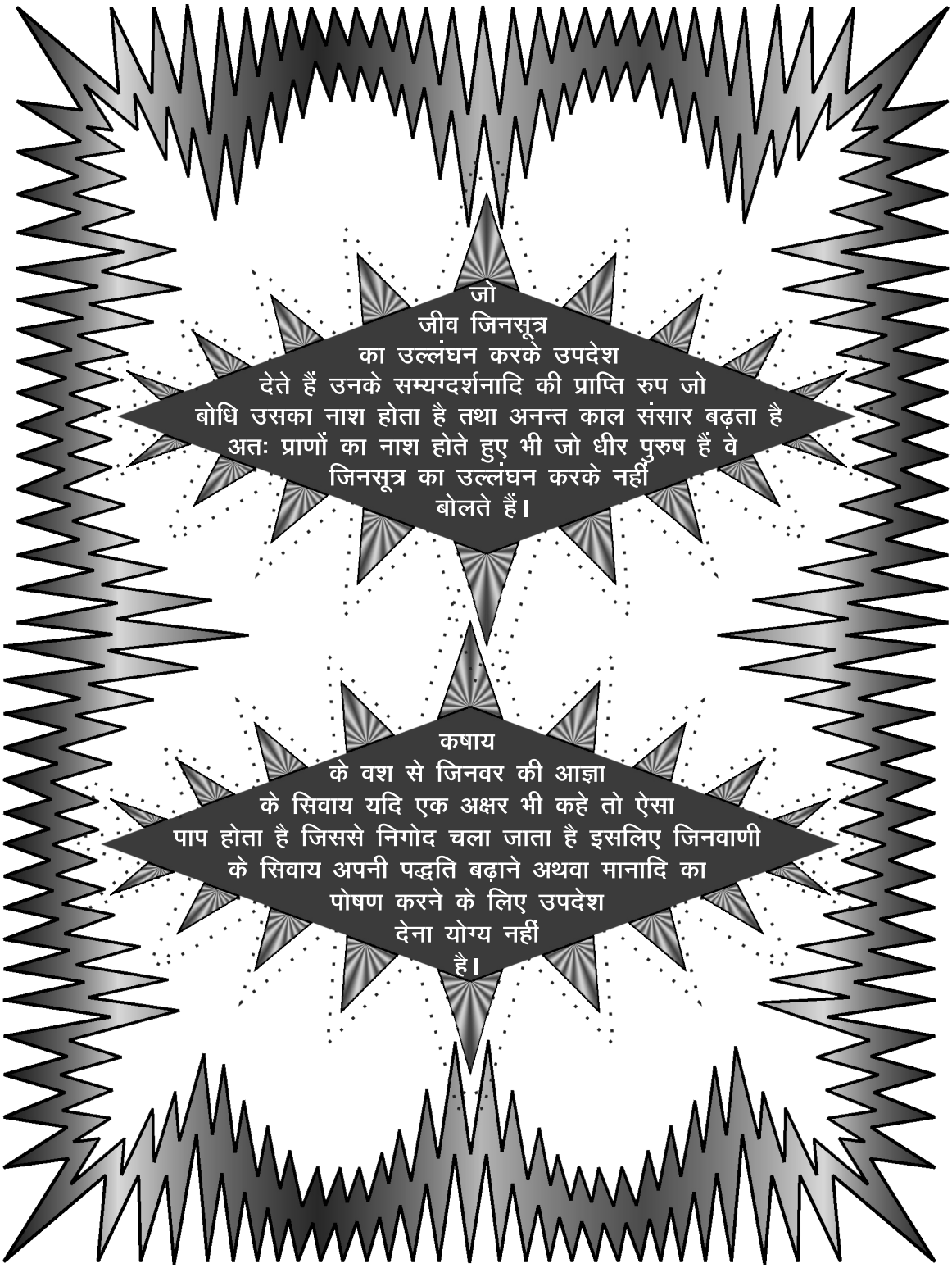
जो
जीव जिनसूत्र
का उल्लंघन करके उपदेश
देते हैं उनके सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति रुप जो
बोधि उसका नाश होता है तथा अनन्त काल संसार बढ़ता है
अतः प्राणों का नाश होते हुए भी जो धीर पुरुष हैं वे
जिनसूत्र का उल्लंघन करके नहीं
बोलते हैं।
कषाय
के वश से जिनवर की आज्ञा
के सिवाय यदि एक अक्षर भी कहे तो ऐसा
पाप होता है जिससे निगोद चला जाता है इसलिए जिनवाणी
के सिवाय अपनी पद्धति बढ़ाने अथवा मानादि का
पोषण करने के लिए उपदेश
देना योग्य नहीं
है।


जिनसूत्र का उल्लंघन
करके अंश मात्र भी उपदेश देना है
सो जिनवर की आज्ञा का भंग करना है
और आज्ञा भंग में ऐसा पाप है जिससे
जिनभाषित धर्म दुर्लभ हो
जाता है।
उत्सूत्रभाषी
न होना


थोड़े से दिनों की मान-बड़ाई के लिए अन्य मूर्खों के कहने से जिनसूत्र का उल्लंघन करके उपदेश न देना।
उत्सूत्रभाषी त्याज्य है।

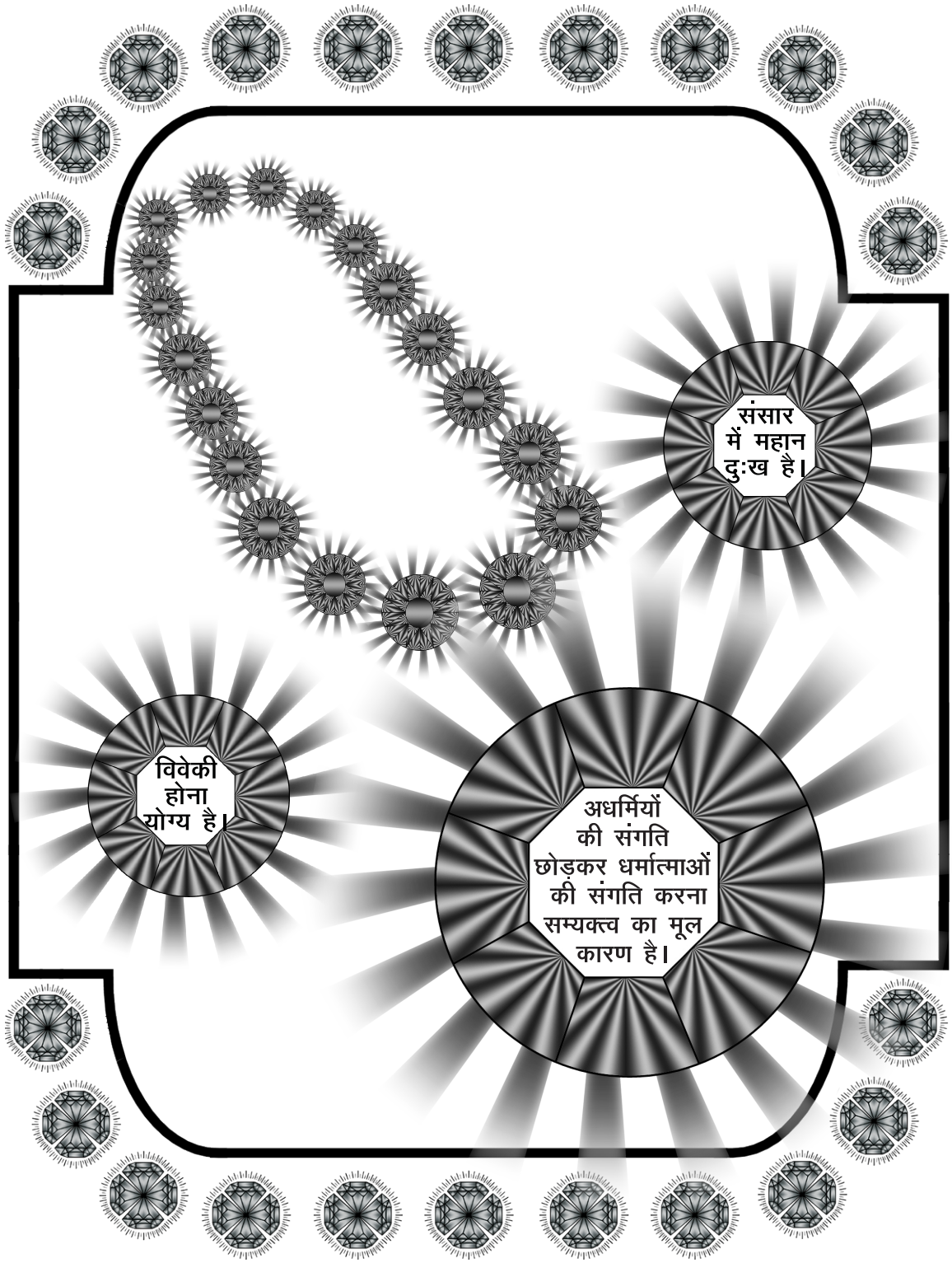
संसार
में महान
दुःख है।
विवेकी
होना
योग्य है।
अधर्मियों
की संगति
छोड़कर धर्मात्माओं
की संगति करना
सम्यक्त्व का मूल
कारण है।

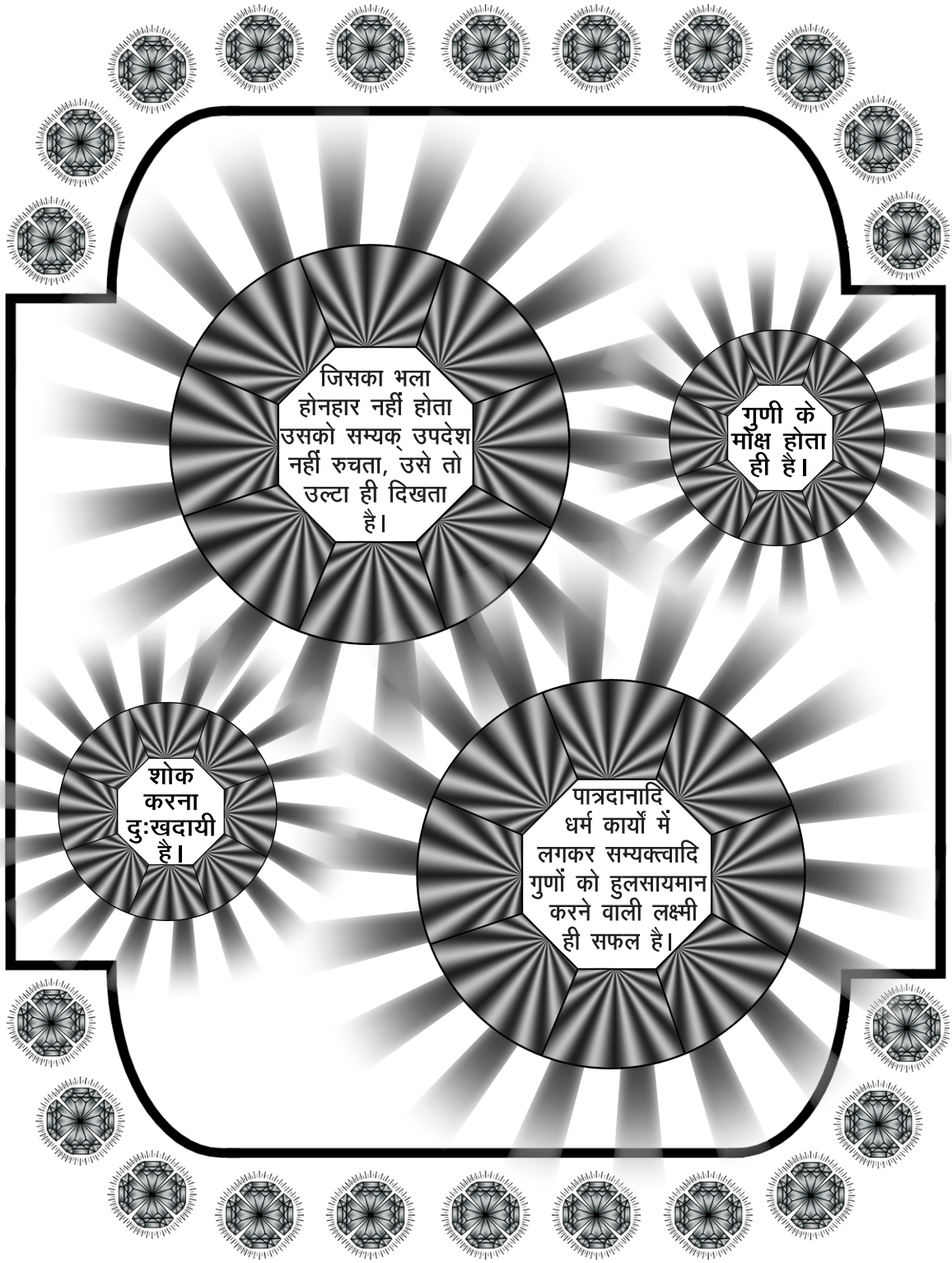
जिसका भला होनहार नहीं होता उसको सम्यक् उपदेश नहीं रुचता, उसे तो उल्टा ही दिखता है।
गुणी के मोक्ष होता ही है।
शोक करना दुःखदायी है।
पात्रदानादि धर्म कार्यों में लगकर सम्यक्त्वादि गुणों को हुलसायमान करने वाली लक्ष्मी ही सफल है।


अज्ञानी जीव गुण-दोष का निर्णय नहीं करते-यह अज्ञान का माहात्म्य है।
वीतरागी होने का उपाय कर।
अज्ञानी तो नरक का दुःख और ज्ञानी शाश्वत सुख पाता है।
इस काल में मिथ्यात्व की प्रवृत्ति घनी है और श्रावकपने की अत्यन्त दुर्लभता है सो ऐसे विषम पंचम काल में भी जो मैं जीवन मात्र धारण किये हुए हूँ और श्रावक का नाम धारण किये हुए हूँ अर्थात् श्रावक कहलाता हूँ सो भी हे प्रभो ! महान आश्चर्य है।
संयमियों के मन में असंयमियों को देखकर बड़ा संताप होता है।
मोह की भी महिमा अचिन्त्य है।
बहुत आरम्भ-परिग्रह से नरकादि दुःख होते हैं।

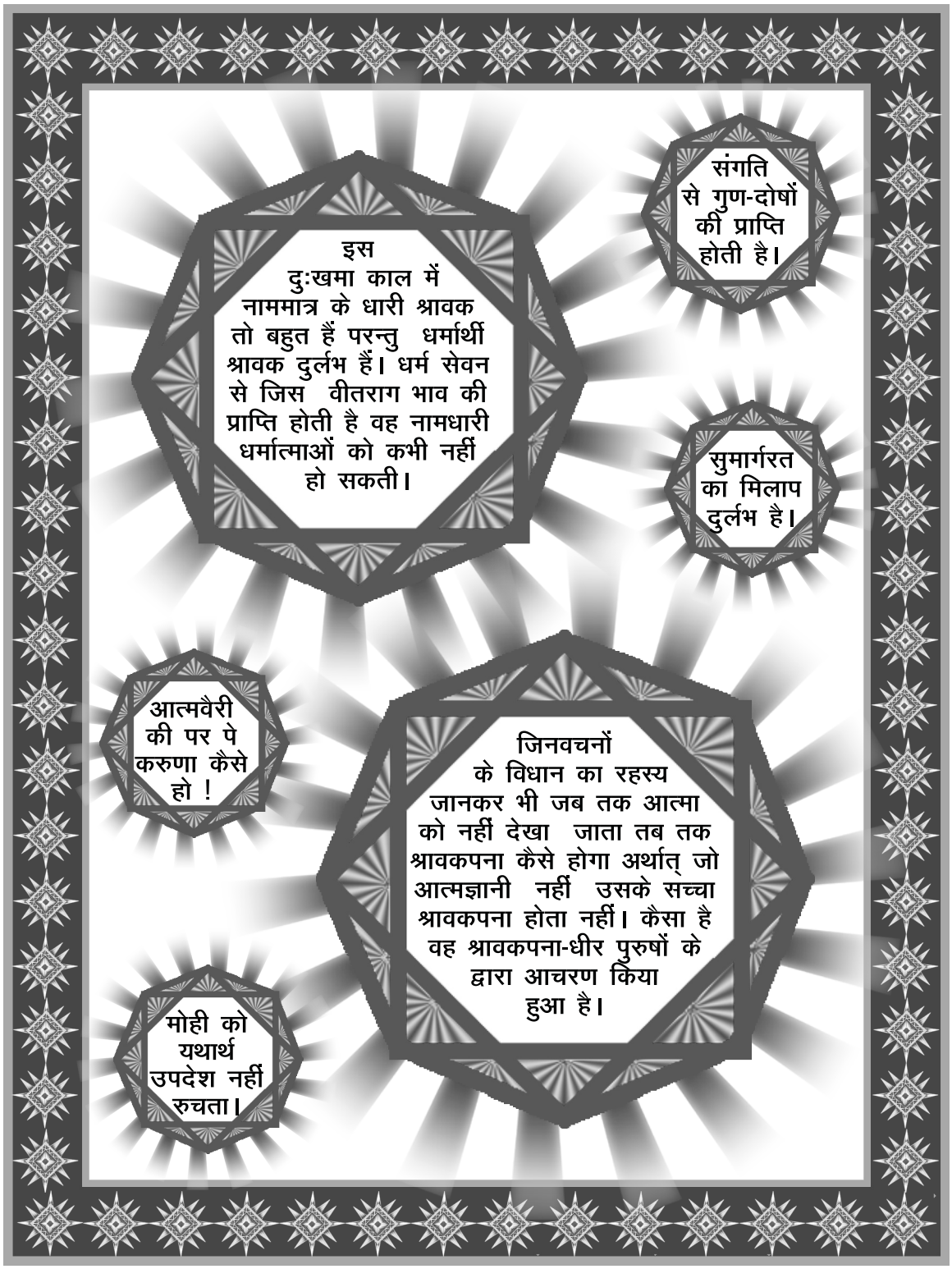
संगति से गुण-दोषों की प्राप्ति होती है।
इस दु:खमा काल में नाममात्र के धारी श्रावक तो बहुत हैं परन्तु धर्मार्थी श्रावक दुर्लभ हैं। धर्म सेवन से जिस वीतराग भाव की प्राप्ति होती है वह नामधारी धर्मात्माओं को कभी नहीं हो सकती।
सुमार्गरत का मिलाप दुर्लभ है।
आत्मवैरी की पर पे करुणा कैसे हो !
जिनवचनों के विधान का रहस्य जानकर भी जब तक आत्मा को नहीं देखा जाता तब तक श्रावकपना कैसे होगा अर्थात् जो आत्मज्ञानी नहीं उसके सच्चा श्रावकपना होता नहीं। कैसा है वह श्रावकपना-धीर पुरुषों के द्वारा आचरण किया हुआ है।
मोही को यथार्थ उपदेश नहीं रुचता।

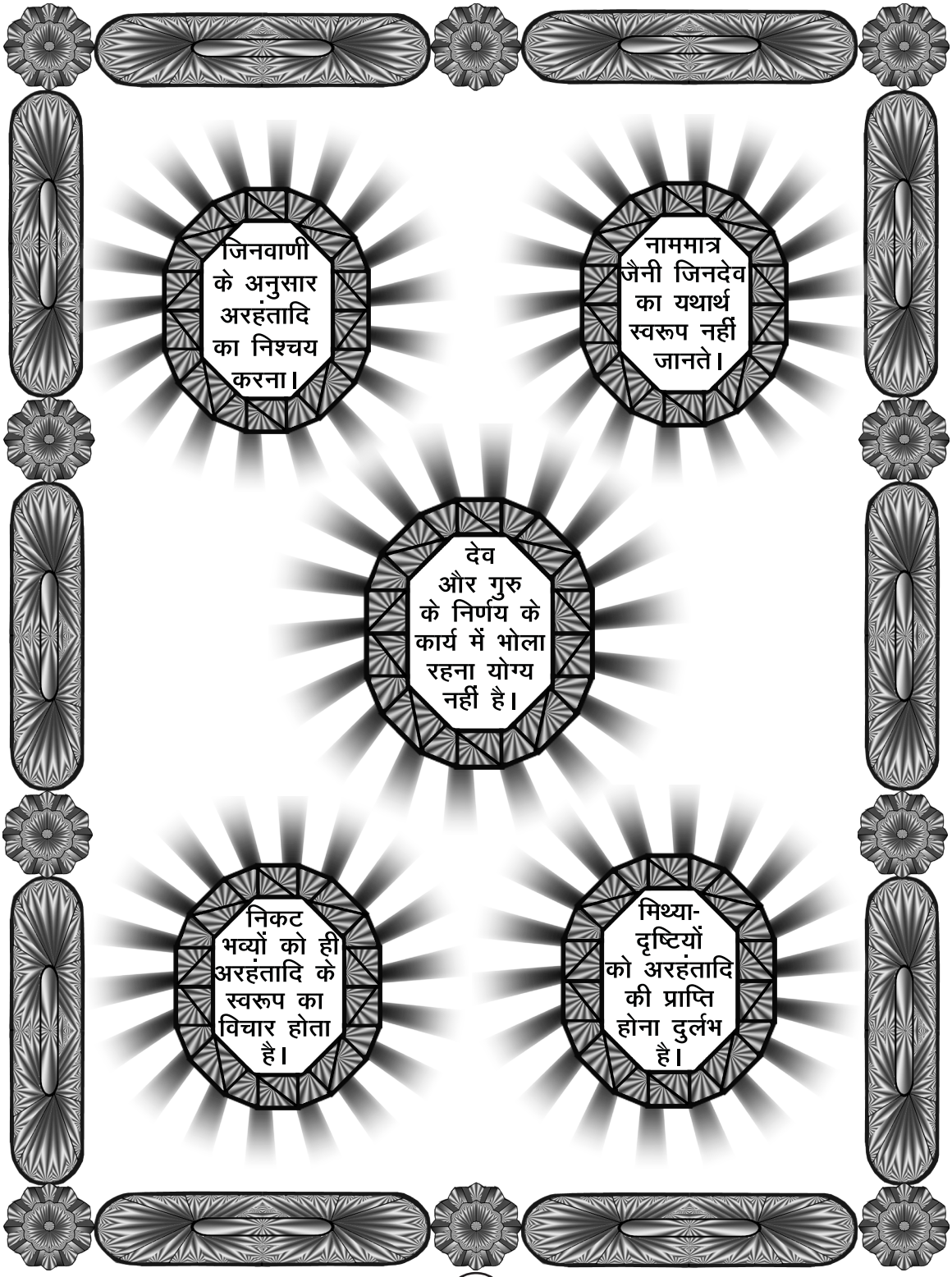
जिनवाणी के अनुसार अरहंतादि का निश्चय करना।
नाममात्र जैनी जिनदेव का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते।
देव और गुरु के निर्णय के कार्य में भोला रहना योग्य नहीं है।
निकट भव्यों को ही अरहंतादि के स्वरूप का विचार होता है।
मिथ्या-दृष्टियों को अरहंतादि की प्राप्ति होना दुर्लभ है।


जिनसूत्र के विरुद्ध कभी न बोलना।
जिनसूत्र के अनुसार यथार्थ उपदेश देना।
स्वेच्छाचारी के उपदेश से अपने श्रद्धानादि मलिन होने से बड़ी हानि होती है।
उत्सूत्रभाषी को धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है।
उत्सूत्रभाषी को बहुत ही दुःख होंगे।


समाप्त